❍ Year : 9 ❍ Volume : 35 ❍ January 2025 ❍ ISSN : 2456-0898

GLOBAL THOUGHT

ग्लोबल थॉट

(MULTI DISCIPLINE MULTI LANGUAGE RESEARCH JOURNAL)

(An International Peer Reviewed Refereed Quarterly Research Journal)

Special Note :

Anti National Thoughts are not acceptable.

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल अभिनन्दन विशेषांक

स्वामी/मुद्रक/प्रकाशक रूपेश कुमार चौहान द्वारा 47, ए-3 ब्लॉक, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, (नजदीक संकट मोचन मंदिर), पी.एस. नजफगढ़, दिल्ली से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4 ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली में मुद्रित।

सम्पादक-रूपेश कुमार चौहान

Ph. 09555222747, 9267944100, 9555666907 • Website : www.gtirj.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें। अंग्रेजी भाषा में लेख टाइम्स न्यू रोमन में होना चाहिए।
* शोध-लेख **हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 3500 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* लेख में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'ग्लोबल थॉट'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोध लेखक के अपने विचार हैं तथा इसमें सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल के विचारों की सहमति होना आवश्यक नहीं है। अतः लेख के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण निःशुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**
* **प्रत्येक लेख हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति के द्वारा त्रिस्तरीय स्तर पर समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**
* लेख में साहित्यिक नकल (Plagiarism) का अवश्य ध्यान रखें। किसी भी प्रकार की साहित्यिक नकल पाया जाना एक आपराधिक कृत्य माना जाता है।

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2456-0898

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'ग्लोबल थॉट'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

Registered Office : *H.No. 47, A-3 Block, Gali No. 5,*
Near Sankat Mochan Mandir, Dharampura Extn., Najafgarh, Delhi-110043
Ph. 09555222747, 9267944100, 9555666907 • Website : www.gtirj.com

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. मनमोहन सिंह चौहान**
(कुलपति, पंडित गोविन्द वल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड)

- **प्रो. इन्द्र नारायण सिंह**
(बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)

- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)

- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, रामानुजम् महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)

- **प्रो. सुभाष कुमार सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)

- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **डॉ. राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
(इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश)

- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)

- **प्रो. ब्रजेश कुमार सिंह**
(रसायन शास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Assistant Professor
Kirorimal College, University of Delhi
Mob : 9555222747, 9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Associate Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit)
Assistant Professor
Department of Sanskrit
PGDAV College (Morn.),
University of Delhi, Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
309, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

• **Correspondence Address :**
B-11/39, MIG Flats IIIrd Floor,
Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747

• **Correspondence Address :**
House No. 417, Ist Floor,
Paradise Apartment, Sector-18,
Rohini, Delhi-110089
Mob. : 9267944100

• **Branch Office :**
R 7-8, Ward No. 2,
Near Football Ground, Transit Camp,
Rudrapur, Udham Singh Nagar,
Uttrakhand-263153
Mob. : 8433465378

Website : www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. दिलीप कुमार झा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. चन्द्रशेखर राम**
(प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य विभाग, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Senior Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल महाविद्यालय (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. प्रद्युम्न कुमार सेठी**
(भौतिक विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सुनील कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

- **प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत**
(पद्मश्री सम्मानित एवं पूर्व एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक, दिल्ली)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. दलवीर सिंह चौहान**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार)

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल अभिनन्दन विशेषांक

परामर्शक-मण्डल

प्रो. रामप्रताप
प्रो. भीम सिंह
प्रो. राजेश्वर प्रसाद मिश्र
प्रो. वीरेन्द्र कुमार अलंकार
प्रो. विनीत घिल्डियाल
प्रो. गिरीश चन्द्र पन्त
प्रो. दलबीर सिंह
प्रो. नरसिंह चरण पण्डा
प्रो. भारतेन्दु पाण्डेय
प्रो. मीरा द्विवेदी
प्रो. साधना कंसल
प्रो. सारिका वार्ष्णेय

सम्पादक-मण्डल

प्रो. ओमनाथ बिमली
प्रो. वेद प्रकाश डिंडोरिया
प्रो. रणजित बेहेरा
डॉ. शिक्षा सेमवाल

अनुक्रमणिका

Editorial -- **viii**

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल :
व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

Life and Works of Ācārya Jagdish Prasad Semwal--2
Chhavi Tripathi

योगानुशासनप्रकाश में विषय-प्रतिपादन की पद्धति 10
प्रो. वेद प्रकाश डिंडोरिया

वेणुगीतशतकम् : एक अनुशीलन 14
प्रो. सारिका वार्ष्णेय

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल कृत मेघविलास में मेघ के विविध रूप 18
डॉ. चन्द्र शेखर त्रिपाठी

आचार्य जगदीशप्रसाद सेमवाल कृत 'वेदान्तकारिका' : एक समीक्षा.......................... 23
डॉ. अवधेश प्रताप सिंह

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल विरचित विलासकाव्यों में पद, वाक्य एवं प्रबन्धार्थविषयक औचित्य..... 27
डॉ. गुलशन शर्मा

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल के विलास-काव्यों में वर्णित ध्वनि-तत्त्व... 31
डॉ. हरेन्द्र नरियाल

कविता एवं राष्ट्र के विलास के कवि आचार्य जगदीश सेमवाल 36
डॉ. मृगांक मलासी

The effects of spring on human behavior described in Vasantavilāsa ------ 42
Chhavi Tripathi

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल : संघर्ष की एक कहानी 48
ऋतम्भरा सेमवाल

मेरे पिताजी... 50
अञ्जू जमलोकी

विविध शास्त्रीय विमर्श

पतञ्जलि के अनुसार भाव, कर्म और कर्त्ता अर्थों के सार्वधातुकार्थत्व/ विकरणार्थत्व पर विचार......... 53
प्रो. भीमसिंह

गृह्यसूत्रगत आर्ष-अनार्ष-विमर्श 58
प्रो. वीरेन्द्र कुमार अलंकार

'रसानथर्वणादपि' - एक दृष्टि 66
प्रो. मीरा द्विवेदी

तिङन्तप्रकरणस्थानाम् अवान्तरप्रकरणानां द्विधानामकरणस्याधारः औचित्यञ्च 73
प्रो. सत्यपालसिंहः

आचार्य विज्ञानभिक्षु सम्मत प्रकृति-विवेचन........ 76
प्रो. साधना कंसल

अलफ्रेडहिलेब्राण्टवर्यस्य वैदिकी दृष्टिः 85
प्रो. रणजित बेहेरा

A note on Cakradhara's analysis of Kumārilabhaṭṭa's account of *Śrutārthāpatti* --------------------------------- 89
Dr. Udita Bhattacharyya

Ecology in the Vedas: It's Present Relevance --------------------------------------- 94
Prof. N.C. Panda

To Evaluate the Effect of *Rasanjanadi Taila Nasya (Pratimarsha)* in *Pratishyaya* with Special Reference to Rhinitis ------------------------- 97
Dr. Janat / Dr. Rajeev G Dole / Dr. Eshwari Salian

भर्तृहरि के अनुसार शक्ति की अवधारणा 104
डॉ. मीरा शर्मा

प्राचीन काल से अद्यतन भारत में बदलती परिवार की अवधारणा.. 107
प्रो. मंजु जैन

आधुनिक संस्कृत दूतकाव्य : एक पर्यवेक्षण..... 110
डॉ. सीमा शर्मा

सत्यव्रत शास्त्री प्रणीत बोधिसत्त्वचरित महाकाव्य में अष्टाङ्गमार्ग की अभिव्यञ्जना 116
प्रो. लालाशंकर गयावाल

आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यहेतु-विवेचन 119
डॉ. आशा सिंह रावत

संस्कृतसाहित्ये समाख्याता राजस्थानीयसंस्कृतिः.. 124
डॉ. मधुबाला शर्मा

आचार्य क्षेमेन्द्र का नीतिशास्त्रीय पाण्डित्य 129
डॉ. विशाल भारद्वाज

सामवेदीय आनन्द (ज्ञान, कर्म, उपासना के परिप्रेक्ष्य में).. 132
डॉ. करूणा आर्या

वैदिक वाङ्मय में अर्थचिन्तन 137
महामहोपाध्याय प्रो. बाबूलाल मीना

स्त्री-विमर्श : वाल्मीकि रामायण के परिप्रेक्ष्य में 141
डॉ. कल्पना शर्मा

जल-प्लावन आख्यान का संस्कृत साहित्य में विवेचन 144
डॉ. अनीस अब्बास रिजवी

राजनीतिक षड्विध कूटनीति 147
डॉ. इंदु सोनी

आचार्य जगदीशप्रसाद सेमवाल की विशिष्ट लघु रचनाएँ.. 154
डॉ. शिक्षा सेमवाल

सम्पादकीयम्

आचार्य परंपरा के सिद्ध हस्ताक्षर आचार्य सेमवाल ने संस्कृत जगत् को शैक्षणिक और प्रशासनिक श्रेष्ठ योगदान दिया है। सामान्य परिवार में जन्म लेकर अपनी मौलिक प्रतिभा से सभी उच्च ख्यातियों को अपने नाम से जोड़ा ऐसे उस आचार्य को समर्पित यह अंक निश्चित ही संस्कृतप्रेमी जनों को आह्लादित करेगा ऐसी मैं आशा करता हूं। क्योंकि इस अंक में भारत के प्रतिष्ठित विद्वानों ने अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किए हैं। लगभग मैंने सभी शोध-पत्रों को बढ़ी गंभीरता से पढ़ा है। उस शृंखला में ऋतम्भरा सेमवाल ने अपने ''आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल : संघर्ष की कहानी'' लेख में आचार्य सेमवाल के संघर्ष को बताते हुए उनके बचपन की एक रोचक घटना श्रीमद्भागवत कथा श्रवण करने के पश्चात् स्वयं अपने साथियों को एकत्रित कर स्वयं व्यास बनकर कथा सुनाने की नाट्य-क्रीड़ा की जिसे देखकर गांव के बुजुर्गों ने इन्हें पंडित कहना प्रारंभ कर दिया तब से उन्हें पंडित कहा जाने लगा। अंजू जमलोकी ने ''मेरे पिताजी'' लेख में लिखा कि आचार्य सेमवाल की पुत्री होना मेरा सौभाग्य है लेकिन पिताजी के विभिन्न स्थानों पर कार्य करने के कारण ज्यादा समय उनके साथ रहने का अवसर तो प्राप्त नहीं हुआ परंतु छुट्टियों में जब-जब पिताजी घर आते तब हमें प्रसन्नता होती और पिताजी से नए-नए संस्कृत के श्लोक सीखते और कहानियां सुनते। हमारी दादी पिताजी को 'पंडित मेरा राम जैसा बेटा है' कहती थीं। डॉ. वेद प्रकाश डिंडोरिया ने अपने लेख ''योगानुशासनप्रकाश में विषय-प्रतिपादन की पद्धति'' में लिखा कि प्रकृत ग्रन्थ के प्रणेता एवं व्याख्याकार स्वयं आचार्य हैं। जिन्होंने संपूर्ण योगसूत्रों को 225 अनुष्टुप् छन्द के पद्यों में निबद्ध किया है। प्रस्तुत ग्रंथ में विषय प्रतिपादन की पद्धति का वैशिष्ट्य अनेक रूपों में दिखाई देता है कहीं पर योगसूत्र को अनेक भाष्यकारों के मतों के अनुसार श्लोक में व्याख्यायित किया है कहीं संक्षिप्त योगसूत्र को श्लोक में विस्तार दिया गया है। पतञ्जलि के सूत्र 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' में इतरत्र को व्युत्थाने कहकर स्पष्ट किया है। **व्युत्थाने चित्तवृत्तीनां विषयासक्तचेतसः। तस्यास्य वृत्तिसारूप्यं भवतीति पतञ्जलिः॥** इस प्रकार विविध वैशिष्ट्य देखने को मिलते हैं। डॉ. अवधेश प्रताप सिंह ने अपने लेख में ''आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवालकृत् 'वेदांतकारिका' : एक समीक्षा'' में वेदांत की एक लंबी परंपरा का परिचय देते हुए बतलाया कि आचार्य सेमवालकृत् वेदांतकारिका ब्रह्मसूत्र और शारीरिकभाष्य को आधार बनाकर लिखा गया महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसमें वेदांतसिद्धांतों को सरलता प्रदान करते हुए कारिका में निबद्ध किया गया है जैसे ब्रह्मसूत्र के 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र के संपूर्ण भाव को अपनी कारिका के माध्यम से सरलता प्रदान की है- **प्राक्संस्कारवशाद् यद् वा नित्यादीनां निषेवणात्। नितान्तनिर्मलस्वान्तो ब्रह्मजिज्ञासते बुधैः॥** यह कारिका ब्रह्मसूत्र के सारांश को अभिव्यक्त करने के साथ ही अधिकारी के स्वरूप को भी उद्घाटित करती है। डॉ. चंद्रशेखर त्रिपाठी ने ''आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल कृत् मेघविलास में मेघ के विविध रूप'' इस विषय पर शोध-पत्र लिखा है, वास्तव में आचार्य सेमवाल ने बहुत सारे विलासकाव्यों की रचना की है, प्रस्तुत मेघविलास में मेघ को जीवनदायक आदि पदों से

अभिव्यंजित किया है। डॉ. गुलशन शर्मा ने आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल विरचित विलासकाव्यों में पद, वाक्य एवं प्रबंधार्थविषयक औचित्य की चर्चा की है जो आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्यविचारचर्चा में काव्य के प्राणतत्व 'औचित्य' को मानते हुए उसके 27 भेदों का वर्णन किया है जिसमें से ऊपरिलिखित प्रथम तीन उदाहरणस्वरूप **जननं तव दुग्धसागरात् सुधया सार्धमभूत्सुधाकर। वितनोषि सुधाञ्च सन्ततं त्वमिहेति प्रवदन्ति वेदिनः।** यहां सुधाकर पद चंद्रमा के लिए प्रयुक्त होने से संपूर्ण पद्य में औचित्य एवं चमत्कार है क्योंकि सुधाकर पद के कारण ही चंद्रमा की क्षीरसागर से उत्पत्ति एवं निरंतर अमृत का प्रसार आदि अर्थों की सार्थकता सिद्ध होती है अतः यहां पदविषयक औचित्य सिद्ध होता है। डॉ. हरेंद्र नरियाल ने अपने लेख ''आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल के विलासकाव्यों में वर्णित ध्वनितत्व'' स्वतंत्र भारतविलास में **स्वतंत्रे भारते मित्र द्विजिह्वा भोगिलोकतः। महीतले समागत्य विचरन्ति यथासुखम्।** यहां द्विजिह्वा पद अपना सर्प अर्थ छोड़ धूर्त और चाटुकार लोगों के अर्थ में बदल जाता है और पद्मार्थ बनता है कि स्वतंत्र भारत में वही लोग सुखपूर्वक रह रहे हैं जिनकी कथनी और करनी में भेद है द्विजिह्वा पद के अर्थांतर में संक्रमित होने से यह अविवक्षितवाच्यमूलक अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि हो जाती है। डॉ. मृगांक मलासी ने अपने शोध-पत्र में ''कविता एवं राष्ट्र के विलास के कवि आचार्य जगदीश सेमवाल'' में कविजीवन और उनके लेखनसाहित्य का विशिष्ट दिग्दर्शन कराया है। आचार्य सेमवाल भारत में व्याप्त क्षेत्रवाद और जातिवाद की समस्या की ओर संकेत करते हैं स्वतंत्रभारतविलास में - **स्वतन्त्रे भारते मित्र क्षेत्रवादः क्वचित् तथा। जातिवादः क्वचिच्चैव भाषावादः क्वचिचत्पुनः॥** इत्यादि राष्ट्र संरक्षण के लिए प्रेरणा उनके काव्य हमेशा देते रहेंगे। छवि त्रिपाठी ने अपने लेख में आचार्य सेमवाल द्वारा विरचित वसन्तविलास में मानव-व्यवहार पर वसंत का प्रभाव वर्णित किया है।

कुछ विद्वानों ने शास्त्रीय लेख भी लिखे हैं जिनमें प्रो. भीमसिंह जी ने अपने लेख में भाव, कर्म और कर्ता अर्थों के सार्वधातुकार्थत्वर्धविकरणार्थत्व पर बड़े ही गंभीरता से विचार किया है महाभाष्य की पूर्वपक्ष / उत्तरपक्ष परंपरा के माध्यम से और प्रदीपकार भाष्यवार्तिककार के पक्षों का दिग्दर्शन कराते हुए एक विद्वत्तापूर्ण शोधदृष्टि प्रदान की है। प्रो. वीरेन्द्र कुमार अलंकार ने अपने लेख में गृह्यसूत्रगत आर्ष / अनार्ष परंपरा पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया है अन्नप्राशन, पुंसवन आदि को केंद्र बनाकर गृह्यसूत्रों पर जहां भ्रांतियां दिखाई देती हैं उनका वेदानुकूलता के आधार पर सिद्धांतपक्ष की मान्यता और अतिरिक्त को चिन्त्यकोटि में रखने की बात की है। वस्तुतः बिना वेदार्थबोध के गृह्यसूत्रों का व्याख्यान भ्रांति का ही जनक होता है। इस प्रकार वैदिक / अवैदिक मीमांसा को स्पष्ट किया है। प्रो. मीरा द्विवेदी ने 'रसानथर्वणादपि' अपने लेख में स्पष्ट किया कि काव्य में सहृदय लोग जो श्रृंगार, हास्य, करुणादि रसतत्व को अनुभव करते हैं उसका आधार अथर्ववेद ही है, और अथर्ववेद उस ईश्वर की रचना है जो रसवान् है अथर्ववेद के विविध मंत्रों के संदर्भों से समस्त रसों को उद्धृत किया है अथर्ववेद के मृत्युसूक्तादि में कारुण्य का दिग्दर्शन होता है **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** इत्यादि अथर्व के मंत्रों से अद्भुत रस परलक्षित होता है। प्रो. सत्यपाल सिंह ने 'तिडन्तप्रकरणस्थानाम् अवान्तरप्रकरणानां दविधानामकरणस्याधारः औचित्यञ्च' वैयाकरणसिद्धांत-कौमुदी में तिडन्त प्रकरण में दो प्रकार के नामकरण देखे जाते हैं, 1. तिडन्ते भ्वादिप्रकरणम्, अदादिप्रकरणम् आदि इस प्रकार के नामकरण चुरादिगण पर्यंत देखे जाते हैं। उसके बाद 2. तिडन्ते ण्यन्तप्रक्रिया सन्नन्तप्रक्रिया आदि नाम देखने को मिलते हैं। यहां यह ध्यातव्य है कि जहां **सत्यापपाश.** सूत्र से स्वार्थ में णिच् प्रत्यय होने पर तिडन्ते चुरादिप्रकरणम् आदि नामकरण हो जाता है और जब **हेतुमति च** से प्रेषणादि व्यापार अर्थ में णिच् प्रत्यय होता है वहां तिडन्ते ण्यन्तप्रक्रिया आदि नामकरण होता है। डॉ. साधना कंसल ने अपने ''आचार्य विज्ञानभिक्षु सम्मत प्रकृति-विवेचन'' लेख में संकेत किया कि आचार्य विज्ञानभिक्षु सांख्यशास्त्री होने के साथ ही वेदान्ती भी हैं 'विज्ञानामृतभाष्यम्' में प्रकृति को स्वतंत्र सत्ता मानते हुए उसे ब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं जिससे

ब्रह्म में विकारित्व की आपत्ति नहीं होती है और प्रकृति विविध रूपों में परिणत होकर माया, जीवोपाधि और जड़जगत् के रूप में जानी जाती है। प्रो. रणजित बेहेरा ने जर्मनदेशीय– ''अलफ्रेडहिलेब्रान्टवर्यस्य वैदिकी दृष्टि:'' लेख में जर्मन भाषा में लिखे Vedische Mythology ग्रंथ में वेदव्याख्यानपरंपरा, वैदिक देवताओं का और भाष्य परंपराओं का विवेचन प्रस्तुत किया है। डॉ. उदिता भट्टाचार्या ने अपने A Note on Cakradharas analysis of Kumarilabhattas account of srutarthapatti लेख में श्रुतार्थापत्ति पर जयंत भट्ट की न्याय मंजरी और अन्य नैयायिकों की दृष्टि के माध्यम से विद्वत्तापूर्ण शोध–पत्र लिखा है।

प्रो. एन. सी. पण्डा ने अपने ''Ecology in the Vedas : It's present Relevance'' लेख में संसार में रहने वाले जीवजगत् के परस्पर व्यवहार पर एक चिंतन प्रस्तुत किया है। वास्तव में संसार में प्राणियों का प्रकृति के साथ अन्योन्याश्रय संबंध होता है। वेदों ने हमेशा प्रेरणा दी है कि प्रकृति का संरक्षण एवं संवर्धन पारिस्थितिकी को ठीक रख सकता है। डॉ. राजीव जी डोले, डॉ. ईश्वरी साले और जनत ने To Evaluata the Effect of Rasanjali Taila Nasya (pratimarsha) in pratishyaya with Special Reference to Rhinitis लेख में सुश्रुत संहिता और राजर्षि निमि के संदर्भों को लेते हुए चिकित्सकीय शोधपत्र को प्रस्तुत किया है। डॉ. मीरा शर्मा ने अपने ''भर्तृहरि के अनुसार शक्ति की अवधारणा'' लेख में आचार्य भर्तृहरि के दिक्–समुद्देश में दिक्, क्रिया, कालादि की शक्ति को कार्यानुमेया और पदार्थोपकारक रूप से युक्त को स्वीकार करते हुए संदेश दिया कि वाक्यपदीयम् व्याकरण–अध्येताओं के साथ–साथ दर्शन–अध्येताओं के लिए भी पठनीय है। डॉ. मंजु जैन ने प्राचीन काल से अद्यतन भारत में बदलती परिवार की अवधारणा पर अपना लेख प्रस्तुत किया है जिसमें जहां प्राचीन काल में **''वसुधैव कुटुंबकम्''** के आदर्श के साथ परिवारों की एकसूत्रीय सुदृढ़ परंपरा थी वहीं आज यह परंपरा छिन्न–भिन्न हो रही है अत: यह एक चिंता का विषय है इस ओर संकेत किया है। सीमा शर्मा ने अपने ''आधुनिक संस्कृत – दूतकाव्य एक पर्यवेक्षण'' लेख में महाकवि कालिदास की दूतकाव्य परंपरा को आगे बढ़ाने वाले आधुनिक संस्कृतदूतकाव्यों का पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया है। डॉ. लालाशंकर गयावाल ने अपने लेख में ''सत्यव्रत शास्त्री प्रणीत बोधिसत्त्वचरित महाकाव्य में अष्टाङ्गमार्ग की अभिव्यञ्जना'' बड़े ही रोचक एवं प्रेरणाप्रद कथानकों द्वारा अष्टांगिक मार्ग की विवेचना देखने को मिलती है। डॉ. आशा सिंह रावत ने ''आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यहेतु–विवेचन'' अपने लेख में प्राचीन आचार्यों के काव्य–हेतुओं का दिग्दर्शन कराते हुए नवीन आचार्यों ने भी शक्ति, निपुणता और अभ्यास को ही काव्यहेतु स्वीकार करने के साथ ही अपनी मौलिक दृष्टि और नवीन विचार भी साहित्यपटल पर रखे हैं। डॉ. मधुबाला शर्मा ने ''संस्कृतसाहित्ये समाख्याता राजस्थानीयसंस्कृति:'' अपने लेख में उन साहित्यकारों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है जिन्होंने राजस्थान की संस्कृति और सभ्यता को प्रचारित करने के लिए वहां की रमणीयता, लोकदेवता, परिधान भोजन आदि पर लेखन कार्य किया जिनमें कुछ राजस्थानी कवि हैं और कुछ अन्य प्रान्तों के कवि भी हैं। उनमें बहुप्रतिष्ठित आचार्य सेमवाल भी हैं जिन्होंने 'जयपुरविलासकाव्य' लिखकर जयपुर की संस्कृति का गुणगान किया है। डॉ. विशाल भारद्वाज ने ''आचार्य क्षेमेन्द्र का नीतिशास्त्रीय पाण्डित्य'' लेख में आचार्य क्षेमेन्द्र ने जो कि पूर्व में शैव होते हुए कालांतर में वैष्णव हो गए और दशावतारचरितम्, सुवृत्ततिलकम् तथा समयमातृका आदि अनेकों पुस्तक लिखीं इनमें से बहुत पुस्तकें नीतिशास्त्रीय मन्तव्यों को प्रकट करती हैं इसको दर्शाया है। डॉ. करुणा आर्या ने 'सामवेदीय आनन्द' शीर्षक पर सामवेद के कतिपय संदर्भों को देते हुए ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीनों से ही मनुष्य का संबंध होने पर मनुष्य निश्चित आनंद को प्राप्त करता है यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रो. बाबूलाल मीना ने ''वैदिक वाङ्मय में अर्थचिन्तन'' विषय पर चारों वेदों तथा ब्राह्मणग्रन्थों के संदर्भों को समायोजित करते हुए वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था जो कृषि, पशुपालन, उद्योग, व्यापार पर केंद्रित होने से भारतीय अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ होने की विवेचना प्रस्तुत

की है, और आज के समय के लिए कुछ परिवर्तनों के साथ अनुकरणीय माना है। डॉ. कल्पना शर्मा ने ''स्त्री विमर्श : वाल्मीकि रामायण के परिपेक्ष में'' अपने लेख में रामायणकालीन उच्च आदर्शों की चर्चा करते हुए स्त्रीविमर्श पर प्रकाश डाला है। उदाहरणस्वरूप वैदेही सीता ने विषम परिस्थितियों में पातिव्रत्य एवं उच्च आदर्शों को स्थापित किया है जोकि भारतीय संस्कृति का मानक होने से अन्य स्त्रियों के लिए अनुकरणीय आचरण है। डॉ. अनीस अब्बास रिजवी ने संस्कृत साहित्य में जल-प्लावन आख्यान का विवेचन प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इन आख्यानों की आधारभूमि मूल संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों में देखने को मिलती है परवर्ती कवियों ने इन्हें विस्तार दिया है। डॉ. इन्दु सोनी ने अपने लेख में राजनीति विषयक ''षड्विध जिसको षड्गुण्य भी कहा जाता है'' की चर्चा की है मनुस्मृति, अर्थशास्त्र और महाभारत के विशेष संदर्भों को प्रदर्शित करते हुए आज की भारतीय राजनीति के लिए भी तत्कालीन राजनीति को प्रासंगिक बतलाया है। शिक्षा सेमवाल ने आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल की अन्योक्तयः, चित्रश्लोकाः, हरणीयमिहान्यदप्यभूत, जानीमहे नो वयम् शिक्षा आदि विशिष्ट लघु रचनाओं का संकलन किया है जो कि प्रशंसनीय है और संस्कृतपिपासुओं के लिए पठनीय है।

यह अनुभव स्वयं में सुख देने वाली बात है कि संस्कृत-प्रज्ञा की सेवा में संलग्न आचार्यजन एवं शोधछात्र अपनी इस उन्नत और उदात्त ज्ञान परम्परा के महान् आराधक श्रद्धेय आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल जी के प्रति अपना आधमर्ण्य भाव एवं पूजा भाव को इस सारस्वत ग्रन्थ के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं।

यादृशो देवः तादृशी पूजा-ऐसा आभाणक परम्परा में प्रसिद्ध है। ऐसी सारस्वत सपर्या के आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल से बढ़कर पात्र कौन हो सकता है। वस्तुतः यह व्यष्टि से भी अधिक समष्टि का सम्बोधन है। यह एक आचार्य के माध्यम से आचार्य परम्परा का और उससे भी अधिक उच्चतर ज्ञान परम्परा का अर्चन और पूजन है।

प्रो. ओमनाथ बिमली
निदेशक, हिन्दू अध्ययन केन्द्र
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

Research Paper

Chhavi Tripathi

Life and Works of Ācārya Jagdish Prasad Semwal

Life of Jagdish Prasad Semwal

In the tradition of Modern Sanskrit Literature, Jagdish Prasad Semwal, a well-versed poet and scholar in various scriptures, is distinguished as a renowned scholar and poet. He was born on January 1, 1944, in Heun (Yamunapur) village, located in Kedarnath development block of Chamoli district of the then Uttar Pradesh, which is currently located in Rudraprayag district of Uttarakhand.

Family -

Jagdish Prasad Semwal's father Bhola Dutt Semwal was a famous scholar of astrology and rituals of his area. His mother's name was Vijaya Devi. He is the second of the three sons of his father. Along with two brothers and two sisters, his childhood was spent in his birthplace (Uttarakhand). He got married to Sarla Semwal on 11 March 1969. Along with being a scholar, she has also worked as a capable teacher.

Education and Work experience -

He has done his early education in the local school there. After that he was sent to Uttarakhand Sanskrit Vidyapeeth, Guptkashi to study, which was affiliated to Sampurnanand Sanskrit University. There he passed the examination of Purva-Madhyama in the year 1960. After that in 1962, he passed the examination of Uttar-Madhyama. After this, in 1965, he completed Shastri (Graduation). After Shastri, he started teaching in Dehradun. While doing teaching work, in 1970, he obtained Vyākaraṇācārya (Post graduation) degree from Sampurnanand Sanskrit University (Banaras) in the subject of Navya Vyākaraṇa.

In 1974, Jagdish Prasad Semwal was appointed as a lecturer in the Vishveshwaranand Vishwabandhu institute of Sanskrit and Indological studies (VVBIS&IS), Hoshiarpur, Punjab, affiliated to Panjab University. While teaching here, he passed the MA (Sanskrit) examination from Garhwal University, Srinagar, Uttarakhand in first division. His efficiency was in various scriptures; his teaching subject was grammar in institute, however, he made Sanskrit poetics as his field of research. In 1984, he was awarded with the degree of Ph.D. on the topic ''Rasabhāvadṛṣṭyā Bhāvaprakāśanasya samīkṣātmakamadhyayanam'' from Panjab University, Chandigarh, in 1984. From 1974 to 1987, He adorned the post of Lecturer in VVBIS&IS, Panjab University, Hoshiarpur. From 1987 to 1998, he worked as a Reader in the above mentioned department. After this, from 1998 to 2005, he adorned the post of Professor in the same department. He got retired on 31 December 2005 while being the Chairperson of the department. He received D.Litt. as honorary award from Uttrakhand Sanskrit University in 2019. At present he is adorning the post of Honorary Professor in Vishveshvaranand Vedic Research Institute,

Hoshiarpur.

Former membership of Academic committees -

Jagdish Prasad Semwal was a recognized member of the Research Council (RDC) of Hemvati Nandan Bahuguna, Garhwal University, Srinagar, Uttarakhand and Panjab University, Chandigarh. He was a member of the Post Graduate and Graduate Sanskrit Board of Studies and Faculty of Languages of Panjab University, Chandigarh. He was invited Many times as a subject-expert in the curriculum coordination committee of NCERT, New Delhi. He continued to do his invaluable contribution in many educational and academic institutions. He was also a recognized member of the Punjab Sanskrit Academy (Nabha). He was the coordinator of the National Mission for Manuscripts in his department. He is the Member of Executive Council, Maharishi Valmiki Sanskrit University, Haryana.

Moreover, He has attended numerous seminars, workshops, Kavi Sammelan and Sanskrit Sammelans. Five (05) students have completed their research work (Ph.D.) under his guidance.

Awards and Honors -

Jagdish Prasad Semwal's talent and activeness in various fields has touched various dimensions of creativity time to time. Due to his poetic creation, he has achieved success as a well-known poet across the country. Therefore, for this reason, various awards were given to him from time to time by many institutions across the country. Awards are listed below here:

1. Government's Awards -

1.1 Presidential Award - Ministry of Human resource development, Government of India - 2017.

1.2 Śiromaṇi Saṁskṛta Shityakr Sammāna - Language Department, Government of Punjab, 2009.

1.3 Panini Sammāna - Delhi Sanskrit Academy, Delhi Government - 2009.

1.4 Vlmīki Sammāna - Delhi Sanskrit Academy, Delhi Government - 2017.

1.5 Shityālaṅkār Sammāna - Haryana Sanskrit Vishvavidyala - 2018.

2. Awards by other institutions -

2.1 Vidybhūṣana Award - Sanskrit Pracharak Mandal, Delhi, 1972.

2.2 Sāhityaśrī Award - Punjab Sanskrit Academy, Nabha, Punjab - 1992.

2.3 Kālidāsa Sammāna - Kalidas Janmbhu Smarak Samiti, Uttarakhand - 2009.

2.4 Śri Rāmkiṅkara Sammāna - Ramayana Trust, Shridham, Ayodhya - 2010.

2.5 Uttarakhand Saṁskṛta Śiromaṇi Mukund Śraddhā Award - Sanskrit Education Department, Uttarakhand, 8 june, 2016.

2.6 Vidwatbhusan Sammāna - Akhil Bhartiya Vidwat Parishad, Varanasi - 2017.

Works -

Jagdish Prasad Semwal's works are achieving a remarkable place in the contemporary Indian poetry world due to the excellence of his expressions and their intensity. He has created poetry in many genres of Sanskrit literature. He has written on various subjects like literature, philosophy, devotion, politics etc. His works are mentioned below -

1. Mahākāvya - There is **one** Mahākāvya with the name Śrīgurunānakadevacaritam written by him.

1.1 Śrīgurunānakadevacaritam- This is an epic poem composed by Jagdish Prasad Semwal. As the name of this epic suggests, it is based on the biography of the founder of Sikhism, Sri Guru Nanak Dev. This epic is composed in 26 cantos and has 1119 verses. The predominant Rasa of this epic is Śānta Rasa i.e. imaginative experience of tranquility; the other Rasas also exist in the form of Aṅga Rasa. This epic is currently under publication.

2. Vilāsakāvya (Śatakakāvya) - There are Ten Vilāsakāvyas written by him.

2.1 Vasantavilāsa - In this poetry, through 101 verses, the spring season is presented with

various quotes. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' (magazine) in December 1984. The poet has displayed the importance of spring-season in Vasantavilāsa. With the advent of spring, the atmosphere of the entire universe becomes captivating. The poet has presented a natural and picturesque description of the spring season in this and has presented a depiction of its effect in different places in the world. The poet has used Vasantatilakā metre in this poem.

2.2 Meghavilāsa - There are 102 verses in this poem. The poet has presented this poetry also in the Vasantatilakā metre. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' (magazine) from 1983-1984. In this, the poet has guided the cloud in many forms through many examples. Presenting the description of the cloud in this Vilāsakāvya, at one place, the poet has described Vidyuta i.e. lightning as the beloved of the cloud and depicted the helplessness of the Ctaka birds, who were crying for rain. Similarly, the poet has presented the description of the cloud in many forms.

2.3 Induvilāsa - In Induvilāsa poetry, the beauty of the moon has been described in different forms in 102 verses. Viyoginī metre has been used in this poem. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' (magazine) in December 1984. In this Vilāsakāvya, the moon is addressed by different names. Like - Tuhināṁśa, Mṛgalāñchana, Śītakara, Sudhākara, Vidhu, Nakṣatrapati etc. The poet has touched many aspects of human life by making the moon the basis of his writing.

2.4 Himagirivilāsa - There are 103 verses in Himagirivilāsa poetry. Upendravajrā metre is used in this poem. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' (magazine) in September 1985. The unique beauty of the Himgiri i.e. the Himalayan Mountain has been described in this Vilāsa poem. The poet has very picturesquely described many delightful places and subjects related to nature like snow-covered mountains, valleys, trees, seasons etc. in this poem. Therefore, as a result of this type of interpretation, the beauty of the Himalayan Mountain becomes more captivating and delightful.

2.5 Viḍambnāvilāsa - There are 102 verses in this poem. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' (magazine) in September 1985. According to the poet, there are many types of irony in the world or society. The poet has also used the Viḍambnā word as laughter, mockery, deception, behavior done to tease someone, etc. Therefore, by connecting those ironies with the worldly life, the poet has presented many types of ironies in this poem.

2.6 Bhānūkdayavilāsa - In Bhānūkdayavilāsa poem, 102 verses have been presented. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' (magazine) in August 1986. In this poem, the glory, effects and states of Lord Skrya i.e Sun have been displayed in many forms by the poet. Sūrya has been addressed by many names according to his duties. Like - Savitā, Divasanātha, Dinakara, Carācaranāyaka, Dinamaṇi etc. Through this poem, the poet has inspired all human beings to be dutiful, energetic, resplendent, laziness-free, luminous etc.

2.7 Jaipuravilāsa - In this Vilāsakāvya, Jaipur city is described as beautiful, heart-warming and glorious in 101 verses in Upajāti metre. It was published in 'Svaramaṅgalā' (magazine) in the year 1988. The divine houses, palaces, forts, lakes etc. situated in Jaipur are beautified by the poet and he has also described the valor and glory of the kings and emperors there. Similarly, we get the description of the architecture and other arts there in this Vilāsakāvya. This Vilāsakāvya well portrays the beauty and all the fabulous characteristics of Jaipur.

2.8 Sailaputrīvilāsa - There are 102 verses in this poem and the Vasantatilakā metre is used. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' (magazine) in the year 1995. The poet has described the glory of many forms and powers of Mother Sailaputrī on the basis of many mythological stories. The poet has described Mother Sailaputrī as a boon giver, at some places as a benefactor of the world, at some places as the destroyer of enemies and at some places as giving strength to the weak. According to this Vilāsa poem, Mother Sailaputrī is the supreme power of this world.

2.9 Prabhāvilāsa - This is a Samasyāpūrti

poem, which contains 104 verses and describes about the beauty of Prabhā. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' (magazine) in the year 2005. In this Vilāsa-Kāvya, the poet has described the Prabhā of Sun, Moon, Ziva, Pārvatī, Gaṇeśa, Sarasvatī, Nārāyaṇa, NarasiAha, Kṛṣṇa, Rādhikā, Bramhā, Caṇḍikā etc. poet has adopted many subtle and detailed meanings of the word Prabhā. He also talked about the Saguṇa bhakti and Niraguṇa Bramhā.

2.10 Svatantra-Bhārata-Vilāsa - This is a Śataka poem presented in the form of sarcastic. In this, the condition of India after independence has been described in different forms through Anuṣṭup metre in 101 verses. It was published with the title ''Svatantre Bhārate Mitra'' in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' (magazine) in the year 2008. In this Vilāsa poem, the poet has described the social, economic, religious, political etc. conditions of independent India in a sarcastic Way. Touching upon the topics of corruption, violence and terrorism prevalent in independent India, the poet has directed the evils prevalent in independent India in this poem.

Prof. Ved Prakash Dindoriya, University of Delhi has published all the Vilāsakāvyas collectively again with the name ''Vilāsakāvya-Saṁgrahaḥ'' with Review and Hindi Translation in 2016 from Manyata Prakashan, New Delhi.

3. Philosophical works -

3.1 Vedāntakārikā - This is a philosophical text. Bramhasūtra is a great book of Vedanta philosophy. It is counted under the Prasthānatrayī. Bramhasūtra's Sūtras with Śāṅkara bhāṣya have been converted in simple and comprehensible Kārikās in Vedntakrik by Jagdish Prasad Semwal. According to the Bramhasūtra in this work, there are four chapters and each chapter has four Pāda. There are total 647 Kārikās. This work was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine from 1990 to 1994 respectively. Dr. Ved Prakash Dindoriya has published it again from Vidyanidhi Prakashan, Delhi with its Hindi translation and interpretation.

3.2 Yogānuśāanaprakāśa - This is also a philosophical text. This work is divided into four Pādas, which are based on the subject matter of Maharishi Patanjali's Yogasūtra with Vyāsabhāṣya. There are 225 verses in this. For the first time in 1996, it was published in the 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine. Dr. Ved Prakash Dindoriya has published it again in 2016 from Parimal Prakashan, Delhi with its Hindi translation and interpretation.

4. Rūkpak (Drama) -

4.1 Yamanaciketasīyaṁ (Ekānkī) **-** Yamanaciketasīyaṁ is an allegory. The main source of Yamanaciketasīyaṁ story is the famous story of Yama and Nachiketa described in the Kaṭhopaniṣada. This was published in 1976 in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine.

4.2 Surabhārtīkrandanaṁ (Ekānkī) **-** Surabhārtīkrandanaṁ is a one-act poem originated from the poet's sentiments on the plight of Sanskrit in India. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine in 1976.

5. Stotra Shitya or Bhaktiparaka Shitya or Etymologogigal literature -

''Stotram kasya na tushtaye'' means who does not get pleased by the hymns. It can be said about this Kalidas sūkti that stotra-poems have an unequaled place in Sanskrit literature. Looking at the immense affection towards stotras, it is known that this is the reason why Jagdish Prasad Semwal has composed various stotras. His stotra literature can be seen in the following way-

5.1 Śrī-Durgāmahāstotraṁ - In this Stotra poem, Goddess Durgā has been grandly praised through 40 Verses. The publication of this Stotra-Kavya was done from November to February, in volume 17 of 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine of Vishveshwaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur.

5.2 Śrī-Śivastuti - This is a poem related to the praise of Lord Śiva. In this, Lord Śiva has been worshiped in many forms through 50 verses. It was published in 'Svaramaṅgalā' magazine on September 1980, which is published from

Rajasthan Sanskrit Academy, Jaipur.

5.3 Śrī-Rāmacaritāvalī - This is a Samasyāpūrti creation related to praise. This is the first work of the poet. In this, Raghuvanshi Lord Śrī Rāma has been praised in 140 verses. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine in 1981-1982.

5.4 Yakṣarājastotraṁ - This is a hymnal poem, which is based on the praise of Yakṣa Devtā, the local deity of Uttarakhand in twenty verses. It was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine in 1994.

5.5 Śivasahasranāmāvalīnirvacanakārikā - In this composition, 1008 names of Lord Śiva has been explained in verse. This work was partially published in the magazine Hariprabha of Haryana Sanskrit Academy, Panchkula, Haryana. It was published completely in 2017 by Saptaści Publication, Chandigarh. In the context of this composition, it can also be said that it is an etymological explanation of the 1008 names of Lord Śiva.

5.6 Viṣṇusahasranāmāvalīnirvacanakārikā - In this work, 1000 names of Lord Viṣṇu have been explained in verses in 1000 verses. This work is being published gradually in the magazine Hariprabha of Haryana Sanskrit Academy, Panchkula (Haryana). It was published completely in 2017 by Saptaṛṣi Publication, Chandigarh. It is also an etymological explanation of the 1000 names of Lord Viṣṇu.

5.7 Śrīgurunānakadevasahasranāmāvalī - This composition is based on the first Guru of Sikhs, Śrī Guru Nānakadeva. It is a poem of 188 verses in Sanskrit, which is still unpublished.

5.8 Śrīmahāganpatisahasranāmānirvacanakārikā - This is a composition of 1000 verses based on Ganesha, the destroyer of obstacles. In which there is etymological explanation of 1000 names of Lord Ganesha. It was published in 2018 by Saptaṛṣi Publication, Chandigarh.

5.9 Śrīsūryasahasranāmānirvacanakārikā - This is a composition of 1000 verses based on Sūrya. In which there is etymological explanation of 1000 names of Lord Sūrya. It was published in 2019 by Saptaṛṣi Publication, Chandigarh.

5.10 Śrībhavānīsahasranāmānirvacanakārikā - This is a composition of 1008 verses based on Bhavānī. In which there is etymological explanation of 1008 names of Bhavānī. It was published in 2020 by Saptaṛṣi Publication, Chandigarh.

5.11 Kṛṣṇojagatprītaye - This is a Veṇugītaśatakaṁ. There are 103 verses in this poem. This was published with Hindi translation from publication à? in 2020.

6. Translation works -

6.1 Japujī Sāhiba - This is a translated work. This is a translation of Japujī Sāhiba from Punjabi to Sanskrit Chhaya, which is very beneficial for the followers of Sikhism. This is still unpublished.

6.2 Caṇḍī Dī Vāra - This is also a translated work. This is a work translated into Sanskrit verses. There are 56 verses in this composition. This is still unpublished.

7. Revised text -

7.1 Jālandharpīṭhadīpikā - This is a revised text by Jagdish Prasad Semwal, which was edited by Prithuram Shastri in the year 1984.

7.2 Vedamantrātmaka Kāvyaṁ - This is composed by Sant Ram Shastri. This book is also a revised book by poet. It was published in 1984.

7.3 Yajurveda Mantrātmaka Kāvyaṁ - This is composed by Shri Sant Ram Shastri. This book is also a revised book by poet. It was also published in 1984.

8. Contribution in various disciplines of knowledge -

Jagdish Prasad Semwal has given his invaluable contribution in many articles; essays etc. while touching different genres of knowledge, which can be described as follows -

8.1 Jagdish Prasad Semwal wrote an educational essay on the subject ''Education in Sanskrit'' through Sanskrit poems, which was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine in February 1976.

8.2 Rāmasya Vaidehī Virahaḥ - Jagdish Prasad Semwal did poetic creation on this subject, which was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine in February 1978.

8.3 Vedatrayī Janmabhū - A short essay based on this topic was published in February 1979 in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine by Jagdish Prasad Semwal.

8.4 Arthatantraṁ - This is a poetic work of Jagdish Prasad Semwal on this subject, which was published in the year 1982 in a magazine called Parijatam, which is published from Kanpur.

8.5 Śrīmad-Dayānanda-Sarasvatīti - He did poetic work on this subject, which was published in 'Viśvasaṁskṛtaṁ' magazine in 1983.

8.6 Bhāratājiraṁ - He did the poetic work on the basis of this subject. It was published in the March 1989 issue of 'Viśvasaṁskṛtaṁ'.

Anyoktayaḥ, Niśi Bhānoreṣyati, Śikṣā, Tvaṁ Kathaṁ Nāgatā Gauri Melāpake, Kṛṣcakaḥ, Vasantagītaṁ, Indire! Tvayi Gatāyāṁ, Manoharā Vasundharā, Netā Jayī Vijayate Saḥ, Vayaṁ no Jānīmahe etc., More than 50 compositions of poet are published time to time in various newspapers and magazines of the country.

9. Reaserch works on Jagdish Prasad Semwal's works -

9.1 Ph.D. Degrees are -

9.1.1 Gulshan Sharma from Panjab University, Chandigarh has done his Ph.D. Degree on the topic ''जगदीश प्रसाद सेमवाल के विलाससंज्ञक काव्यों का औचित्य सिद्धान्त की दृष्टि से अध्ययन''।

9.1.2 Harendra Kumar from University of Delhi, Delhi has done his Ph.D. Degree on the topic ''जगदीश प्रसाद सेमवाल के विलासकाव्यों का काव्यशास्त्रीय अध्ययन''।

9.1.3 Pawan Kumar from Punjabi University, Patiala has done his Ph.D. Degree on the topic ''जगदीश प्रसाद सेमवाल के काव्यों का काव्यशास्त्रीय अध्ययन''।

9.1.4 Reena from Punjabi University, Patiala has done her Ph.D. Degree on the topic ''कवि श्री सेमवाल की कृतियों में प्रकृतिः संवाद स्वरूप एवं संवेदना दृष्टि''।

9.1.5 Ashish Kumar from Punjabi University, Patiala has done his Ph.D. Degree on the topic '' श्री गुरुनानकदेवचरितम् महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन''।

9.1.6 Amit nautiyal from Hemvati Nandan Bahuguna, Garhwal University, Srinagar, Uttarakhand is pursuing his Ph.D. Degree on the Topic ''कवि जगदीश प्रसाद सेमवाल के विलासकाव्यों में पर्यावरणीय चिन्तन''।

9.1.7 Anshul from Hemvati Nandan Bahuguna, Garhwal University, Srinagar, Uttarakhand is pursuing his Ph.D. Degree on the Topic ''गढ़वाल के संस्कृत साहित्य में कविवर डॉ. जगदीश प्रसाद सेमवाल का अवदान''।

9.1.8 Akansha Goshwami from Kumaun University, Nainital is pursuing her Ph.D. Degree on the Topic ''जगदीश प्रसाद सेमवाल के काव्यों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन''।

9.2 M.Phil. Degrees are -

9.2.1 Sandeep Kumar from Punjabi University, Patiala has done his M.Phil. Degree on the topic ''शैलपुत्रीशतकम् का समीक्षात्मक अध्ययन''।

9.2.2 Satish Nautiyal from Shri lal Bhadur Shastri National Sanskrit University, Delhi has done his M.Phil. Degree on the topic ''पांच विलासकाव्यों का काव्यशास्त्रीय अध्ययन''।

9.2.3 Chitra from University of Delhi, Delhi has done her M.Phil. Degree on the topic ''जगदीशप्रसाद सेमवाल विरचित योगानुशासनप्रकाश का समीक्षात्मक अध्ययन''।

10. An Analysis of his works -

There are various elements of literature that are figures of speech, metres, Rasa, Aucitya etc. It is agreed that the basic element of poetry is joy. But when we talk about the soul of poetry everyone has different words to describe it. Some called 'Rasa' the soul of poetry whereas some called 'Dhvani' as soul. For some 'Rīti' became everything and for some 'Vakrokti' became the life

of poetry. Some searched for 'Alaṅkāra' in poetry. Some started looking for 'Aucitya'. As a result, different schools of poetry came into existence.

10.1 Rasa -

All these elements are easily present with full splendor in the poetry that emerges from the emotion of an eminent poet like poet Jagdish Prasad Semwal. As he has inbuilt qualities of a poet, so he does not has to put special and extra efforts for his marvelous creations. To discuss in detail the creations of poet from all points of view is the subject of many dissertations. Therefore, only a guideline is being given here. Verses with all the Rasas are found in his epic and other poems in their full glory. Here, illustrating a verse from one of his creations containing erotic Rasa.

10.1.1 Erotic Rasa in Union (Sambhoga Śṛṅgra) -

A humorous beautiful lady while sleeping in the night hides all the clothes of her beloved and after awakening him by lighting the lamp, she made him feel shy by not giving his clothes back. Here, poet shows the playful couples -

''एका विनोदकुशला दयितस्य रात्रौ
सुप्तस्य सर्ववसनान्यथ गोपयित्वा।
दीपं प्रकाश्य वनिता ननु तं प्रबोध्य
लज्जातुराय वसनं न ददाति शीघ्रम्।।''[1]

10.2 Metres - The natural diversity of the poet's expressions is revealed only by being covered by different covers of various verses. The beginning of the poet's compassion and grief, as well as the appearance of cosmic rituals are proof of this. The diversity of the poet's subjects naturally required the diversity of verses. In this way, the poet has used traditional verses like Vasantatilakā, Indravajrā, Upendravajrā, Upajātī, Mālini, Śārdūlavikrīit, Viyoginī, Pañcacāmara etc.

10.3 Figures of speech -

We have school Alaṅkāra, which states the importance of Alaṅkāra. So, Figures of speech are the important factors that should be discussed here also. Ācārya Bhāmaha has said that Alaṅkāras are the Main factor of the poetry k

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः अनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्रोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया दिना।।[2]

Figures of speech have been used very naturally in the poems of the poet. The use of almost all the figures of speech is seen in his poems.

10.3.1 Example of Verbal figures of speech i.e., Śabdālaṅkra -

10.3.1.1 Yamaka -

जयति जयपुरश्रीः श्रीरिवाखण्डलस्य
जयति च जयसिंहः शक्रतुल्यो नरेन्द्रः।
प्रतिदिनमिह नव्या राजधानी पुराणी
विलसति भुवि यस्य प्रोल्लसद्दिव्यसौधा।।[3]

The repetition of two meaningful or one meaningful and one meaningless group of vowel and consonant in the same sequence constitute Yamaka.[4]

10.3.2 Ideal figures of speech (Arthālaṅkāra) -

In 'Agnipuran' it is said that a poem devoid of ideal figures of speech (Arthālaṅkāra) has been described as a widow:

काव्यशोभाकारान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
अर्थालङ्काररहिता विश्ववेव सरस्वती।।[5]

So, here illustrating Arthālaṅkāra -

10.3.2.1 Simile (Upamā) -

In Meghavilāsa, the poet has made very natural and captivating use of similes at many places. As -

सा त्वम्बरे सुवदनाद्य मुमुक्षमाणा
विद्युन्महोग्रजलदाङ्कगतोन्मिषन्ती।
शोकेन चाश्रपृषतानथ पातयन्ती
सीतेव रोदिदि दशाननिग्रहार्ता।।[6]

10.3.2.2 Arthāntharanyāsa -

Arthāntharanyāsa where either a universal or a particular is supported by its converse, either through similitude or otherwise, it is Transition.[7]

प्रासादपङ्कजमुखानि महानगर्यां
चन्द्रोदयेऽधिकतराणि लसन्ति नूनम्।
केषां मुखानि विकसन्ति न निश्चछलानां
प्रत्यागतं प्रियजनं समुदीक्ष्य भूयः।।[8]

10.4 Language and Style - The poet follows

the Vaidarbhī Rīti, which is considered to have either no compound or short-compounds. According to this custom, his language is simple, full of Rasa and Prasāda Guṇa. The poet has not made his creations burdensome by creating unnecessary words just for the display of erudition. According to critics, the poet has used grammatically pure Sanskrit language in his creations. There is no use of difficult and obsolete words in the language of his poetry. Through his poetry, he speaks from the heart in simple and beautiful Sanskrit. An illustration from his creation portraying his language and style -

स्वतन्त्रे भारते मित्र कन्याभ्रूणं च मातरः।
गर्भ एव स्वयं हत्वा पूतनामतिशेरते।।[9]

Conclusion -

In the tradition of Sanskrit, Jagdish Prasad Semwal is a prominent name. He has enriched Sanskrit language with his creativity. He has written various books in different genre of Sanskrit like Poem, Drama, Philosophy, Grammar and many more. His collection consists of Mainly 2 Philosophical works, 1 Mahākāvya , 2 Ekānkī Rūpak (Drama), 10 Vilāsakāvyas (Śatakakāvya), 11 Stotrakāvya or Bhaktiparaka or Etymologoical literature. There are more than 50 compositions of poet, which are published time to time in various newspapers and magazines of the country. He has justified all of them, with his skills. Especially his philosophical work Vedāntakārikā and Yogānuśāsanaprakāśa has made a remarkable impact. As we all know, it is not easy to understand the Bramhasūtra of Vedanta philosophy. But, he made it possible to understand by converting Sktras and Shankara Bhashya of Bramhasūtra in simple and comprehensible Kārikās in Vedāntakārikā. Similarly, Yogānuśāsanaprakāśa is based on Maharishi Patanjali's Yogasūtra. This is also a simple explanation of Yogasūtra. He has written a vast Bhaktiparaka and etymological literature which is not yet published all together as a book. Many researches are being done on his works across the country and still many more to come. His works has great scope of researches. This shows his unequalled contribution to Sanskrit Language and Research.

For doing exceptional and remarkable work in the field of Indian languages, he has been honored by the Government of India with the famous Presidential Award and various other important awards by different institutions. He has received total 11 awards in which 5 awards are by Government and 6 awards are by other institutions.

After studying the personality and work of Jagdish Prasad Semwal, it can be concluded that he is rich in unmatchable talent and there is probably no such genre in the world of poetry, in which he has not worked, his poetry writing in the modern Sanskrit literature world, holds its own special place. In conclusion, we could say that his poetry has an unprecedented place in modern Sanskrit literature. Poet has depicted things in a very unambiguous language. These flawless creations lead to unmatchable collection of works.

Research Scholar,
Department of Sanskrit,
University of Delhi

References

1. वसन्तविलास-56
2. काव्यालंकार-2.85
3. जयपुर-विलास-100
4. सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहते।
5. अग्निपुराण
6. मेघविलास-81
7. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
   यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।।
   काव्यप्रकाश-10.109
8. वसन्तविलास-87
9. स्वतन्त्रभारत-विलास-11

प्रो. वेद प्रकाश डिंडोरिया

योगानुशासनप्रकाश में विषय-प्रतिपादन की पद्धति

भारतवर्ष की भूमि में उत्पन्न होकर विकसित हुए दार्शनिक सम्प्रदायों को दो भागों में विभाजित किया जाता है - आस्तिक तथा नास्तिक। जो दर्शन वेद को प्रमाण मानते हैं, उन्हे 'आस्तिक दर्शन' कहते हैं। इन दर्शनों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त का परिगणन होता है। आस्तिक दर्शनों के प्रतिपाद्यों में योग-पद्धति के माध्यम से जीवन के परमार्थ की प्राप्ति का उपदेश अत्यन्त महत्त्व का स्थान रखता है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में ही योग के तत्त्वों का विवेचन प्राप्त होता है, यद्यपि वहाँ यह विवेचन शृङ्खलाबद्ध न होकर यत्र-तत्र विकीर्ण है। इस विवेचन को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय महर्षि पतञ्जलि को है। अत: उन्हें ही योगशास्त्र का प्रणेता स्वीकार किया जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने योगशास्त्र के सिद्धान्तों को योगसूत्र के चार पादों में सूत्र रूप में प्रतिपादित किया है।

पातञ्जल योगसूत्र में निबद्ध निगूढ़ तत्त्वों के यथावत् प्रकाशनार्थ योग की परवर्ती परम्परा में भाष्य तथा टीका ग्रन्थ निर्मित किए गये। इन ग्रन्थों में व्यासभाष्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। योगसूत्रों पर लिखे गये इस सर्वप्रथम भाष्यग्रन्थ में सूक्ष्म तथा संकेतमात्र रूप में विद्यमान योगसूत्र का यथार्थ व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'व्यासभाष्य' पर वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्ववैशारदी', विज्ञानभिक्षु ने 'योगवार्तिक' तथा हरिहरानन्द आरण्यक ने 'भास्वती' नामक टीकाएँ लिखी। 'तत्त्ववैशारदी' पर राघवानन्द ने 'पातञ्जलरहस्य' नामक टीका लिखी।

पातञ्जल योगसूत्र पर सूत्रार्थप्रधान वृत्तिग्रन्थ भी लिखे गये। इनमें भोजदेव का 'राजमार्तण्ड', रामानन्द यति की 'मणिप्रभा', सदाशिवेन्द्र सरस्वती का 'योगसुधाकर' नारायण तीर्थ की 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' तथा 'सूत्रार्थबोधिनी', नागेश भट्ट की 'बृहद्योगसूत्रवृत्ति' तथा 'लघुयोगसूत्रवृत्ति', भावागणेश की 'योगदीपिका', अनन्तदेव पण्डित की 'पदचन्द्रिका' तथा बलदेव मिश्र की 'योगदीपिका' प्रमुख हैं।

योगदर्शन की बृहत् साहित्य-परम्परा में प्रस्तुत ग्रन्थ 'योगानुशासनप्रकाश' भी है। इसके प्रणेता सरस्वती के वरदपुत्र, लब्धप्रतिष्ठित कवि, व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य जगदीशप्रसाद सेमवाल हैं। 'योगानुशासनप्रकाश' भी 'योगसूत्र' की तरह चार पादों - समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद में विभाजित है। आचार्य जगदीशप्रसाद सेमवाल ने इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण योगसूत्रों को 225 पद्यों में 'अनुष्टुप्' छन्द में निबद्ध किया है। यह 1996 में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर से प्रकाशित 'विश्वसंस्कृतम्' नामक त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। तदनन्तर हिन्दी-अनुवाद तथा व्याख्या के साथ इसका प्रकाशन परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली से 2016 ई. में हुआ। इसके सम्पादक, हिन्दी-अनुवादक तथा व्याख्याकार प्रस्तुत शोधपत्र के लेखक स्वयं ही हैं।

योगानुशासनप्रकाश में विषय-प्रतिपादन की पद्धति का वैशिष्ट्य हमें अनेक रूपों में प्राप्त होता है। कहीं पर योगसूत्र को अनेक भाष्यकारों के मतों के अनुसार श्लोक में व्याख्यायित किया है। कहीं पर संक्षिप्त योगसूत्र को श्लोक में विस्तार दिया गया है। अर्थात् सूत्रगत पदों की ही व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। कहीं पर योगसूत्र में जिन विषयों का संकेतमात्र कर दिया गया है, उन विषयों को

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

श्लोकों में स्पष्टता से कहा गया है। कहीं पर योगसूत्र में प्रसङ्गवश आये विषयों को भी श्लोकों में प्रमुखता से स्थान मिला है।

योगसूत्र का प्रथम सूत्र है – 'अथ योगानुशासनम्।' इस सूत्र पर प्रस्तुत ग्रन्थ में श्लोक मिलता है –

अथ कैवल्यकामानां हिताय योगवित्तमः।
पतञ्जलिरिदं शास्त्रं ब्रूते योगानुशासनम्।।[1]

अर्थात् कैवल्य की कामना रखने वाले व्यक्तियों के कल्याण के लिए योगशास्त्र को जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ (महर्षि) पतञ्जलि योगानुशासन को कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र के समाधि पाद का प्रारम्भ 'अथ योगानुशासनम्' सूत्र से किया है। 'अथ' शब्द का प्रयोग शास्त्र के प्रारम्भ में एवं मङ्गलाचरण के रूप में किया जाता है।[2] 'अनुशासन' शब्द योगशास्त्र की अनादिता को सूचित करता है। 'अनुशासन' शब्द 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'शास्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से बनता है। 'शास्' धातु का अर्थ – निर्देश अथवा उपदेश करना होता है। इस धातु के साथ 'अनु' उपसर्ग का योग होने पर यह अर्थ अभिव्यक्त होता है कि योग का उपदेश पतञ्जलि मुनि की अपनी कल्पना नहीं है, अपितु इसकी परम्परा आदि सर्ग से चल रही है, जिसका मूल स्रोत वेद है।[3]

योगसूत्र का समाधि पाद का द्वितीय सूत्र भारतीय दार्शनिक परम्परा में अत्यन्त प्रसिद्ध है – **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः।'** इस सूत्र पर श्लोक के माध्यम से आचार्य कहते हैं –

आत्मनो बन्धहेतुभ्यो विषयेभ्यः समन्ततः।
निरोधश्चित्तवृत्तीनां योग इत्युच्यते बुधैः।।[4]

अर्थात् आत्मा के बन्धन के कारणभूत विषयों से चित्तवृत्तियों का सब प्रकार का निरोध 'योग' कहलाता है; ऐसा (योग-दर्शन के) विद्वान् कहते हैं। आत्मा के बन्धन (संसार में आवागमन, दुःखादि) का कारण उसका चित्त के माध्यम से विषयों के साथ सम्पर्क में आना और उसमें आसक्त हो जाना है। योग दर्शन में बुद्धि तत्त्व को 'चित्त' कहा गया है, क्योंकि यह चिन्तन का प्रधान साधन है। 'वृत्ति' व्यापार को कहते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों का रूप, रस आदि विषयों के साथ सम्बन्ध में आना 'व्यापार' कहलाता है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं। चित्त सदैव इनमें से किसी न किसी वृत्ति से अभिभूत रहता है। अतः इन वृत्तियों का निरोध हो जाना ही योग है।

एक अन्य सूत्र **'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'** (योगसूत्र 1.4) पर आचार्य कहते हैं –

व्युत्थाने चित्तवृत्तीनां विषयासक्तचेतसः।
तस्यास्य वृत्तिसारूप्यं भवतीति पतञ्जलिः।।[5]

अर्थात् व्युत्थान (निरोध के विपरीत) अवस्था में विषयासक्त व्यक्ति के चित्त की वृत्तियों का वृत्तिसारूप्य होता है, ऐसा पतञ्जलि कहते हैं। समाधि-काल से भिन्न अवस्था में इन्द्रियाँ विषयों के साथ सम्पर्क में आकर अन्तःकरण द्वारा आत्मा तक उन विषयों को पहुँचाने में रत रहती हैं। इसके परिणामस्वरूप उस समय उन बाह्य विषयों का बोध आत्मा को होता रहता है। यह बोध ही आत्मा की 'व्युत्थान-अवस्था' कहलाती है। बाह्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा जो विषय आत्मा के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं; आत्मा उनका ग्रहण करता है। इस ग्रहण के कारण आत्मा उन विषयों के साथ तादात्म्य सा अनुभव करता है। इसी को आत्मा की 'वृत्तिसारूप्य' अवस्था कहते हैं।

भावार्थ यह है कि जब तक योग के साधनों से चित्त की वृत्तियों का निरोध नहीं हो जाता, तब तक द्रष्टा चित्त की वृत्तियों को अपना स्वरूप समझता है। उस स्थिति में वह अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर देता है। अतः साधक को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो, इसके लिए चित्त की वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। **पतञ्जलि के 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (1.4) सूत्र में 'इतरत्र' को योगानुशासनप्रकाशकार ने 'व्युत्थाने' कहकर स्पष्ट किया है।**

पतञ्जलि ने 'निद्रा' को परिभाषित करते हुए **'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।'** (योगसूत्र 1.10) कहा है। योगानुशासनप्रकाश में –

यस्यामयं न जागर्ति न वा स्वप्नं च पश्यति।
वृत्तिर्निगद्यते निद्रा साभावप्रत्ययाश्रया।।[6]

अर्थात् जिस वृत्ति की अवस्था में साधक न जाग रहा होता है और न ही वह स्वप्न देख रहा होता है, उस वृत्ति को 'निद्रा' कहते हैं। यह वृत्ति अभाव के ज्ञान का अवलम्बन करने वाली होती है। अभाव के ज्ञान का अवलम्बन करने वाली वृत्ति 'निद्रा' है। अर्थात् जिस समय मनुष्य को किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता, उसे केवल मात्र ज्ञान के अभाव की प्रतीति रहती है। वह ज्ञान के अभाव का ज्ञान जिस वृत्ति के आश्रित रहता है, वह

निद्रा वृत्ति है। यहाँ द्रष्टव्य है कि महर्षि पतञ्जलि ने 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' अर्थात् अभाव के ज्ञान का अवलम्बन करने वाली वृत्ति को निद्रा कहा है। **योगानुशासनप्रकाशकार ने 'अभाव' को स्पष्ट करते हुए इसे जागृत एवं स्वप्न की अवस्था से रहित कहा है।**

जैसे यह सूत्र – **'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।'** (योगसूत्र 2.19) अर्थात् विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग ये चार सत्त्वादि गुणों के भेद हैं। इस सूत्र को योगानुशासनप्रकाश में चार श्लोकों में व्याख्यायित किया है –

आकाशादीनि भूतानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि च।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव मनस्तत्रोभयात्मकम्॥
एतानि गुणपर्वाणि योगशास्त्रे मनीषिभिः।
विशेषपदवाच्यानि ख्यापितानीति योगिनः॥
अविशेषाश्च तन्मात्राः शब्दादीनां हि पञ्च ताः।
बुधैरत्र निगद्यन्ते षष्ठोऽहङ्कार एव च॥
लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वमलिङ्गा प्रकृतिस्तथा।
व्याख्यातान्यत्र चत्वारि गुणपर्वाण्यनुक्रमात्॥[7]

अर्थात् योगशास्त्र में मनीषियों ने आकाशादि पाँच स्थूलभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा उभयात्मक मन – गुणों के इन परिणामों को 'विशेष' पद से कहा है। शब्दादि पाँच तन्मात्राओं और छठे अहङ्कार को यहाँ विद्वानों ने 'अविशेष' कहा है। 'लिङ्गमात्र' महत् तत्त्व है तथा अलिङ्ग प्रकृति है। इस प्रकार से इन चार गुणपर्वों का क्रमशः व्याख्यान किया गया है।

इसके अतिरिक्त 'तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।' (योगसूत्र 2.27) अर्थात् 'विवेकख्याति' को उपलब्ध योगी पुरुष की सात प्रकार की उच्च अवस्था वाली बुद्धि होती है। 'विवेकख्याति' को उपलब्ध पुरुष के चित्त का आवरण तथा मल सर्वथा नष्ट हो जाता है। उस समय उसके चित्त में दूसरे सांसारिक ज्ञानों का उदय नहीं होता।

उसमें सात प्रकार की उत्कर्ष अवस्था वाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इस पर योगानुशासनप्रकाशकार कहते हैं –

विवेकख्यातिरत्रैषा येनाप्ता योगिना पुनः।
सप्तधा प्रान्तभूमिः सा तस्य प्रज्ञा प्रजायते॥[8]

उन सात प्रज्ञाओं में चार की 'कार्यविमुक्ति' संज्ञा तथा तीन की 'चित्तविमुक्ति' संज्ञा होती है। योगानुशासनप्रकाश में वर्णित सात प्रज्ञाओं में चार की 'कार्यविमुक्ति' संज्ञा तथा तीन की 'चित्तविमुक्ति' संज्ञा स्वयं पतञ्जलि द्वारा वर्णित नहीं है; परन्तु इसका विवरण योगशास्त्र की परम्परा में प्राप्त होता है। यथा –

ज्ञातव्यं हि मया ज्ञातं न किञ्चिदवशिष्यते।
इत्याकारा हि या बुद्धिः सा तत्र प्रथमा स्मृता॥
संयोगस्य कृतोऽभावः स मया द्रष्टृदृश्ययोः।
इत्याकारा हि या बुद्धिर्द्वितीया कथ्यतेऽत्र सा॥
कैवल्यं प्राप्य चाप्तव्यं न ममास्त्यत्र किञ्चन।
इत्याकारा हि या बुद्धिः सा तृतीयात्र कथ्यते॥
कृतं सर्वं मया कार्यं कर्त्तव्यं मे न शिष्यते।
इत्याकारा हि या बुद्धिः सा चतुर्थी निगद्यते॥
दत्तो भोगश्च मोक्षश्च मम चित्तेन सर्वथा।
इत्याकारा हि या बुद्धिः पञ्चमी सा प्रकीर्तिता॥
इह बुद्ध्यादयः सर्वे लयं प्राप्ता गुणा मम।
इत्याकारा हि या बुद्धिः साऽत्र षष्ठी प्रकीत्यते॥
स्वरूपावस्थितस्तस्मात्सोऽहं सम्प्रति पूरुषः।
इत्याकारा हि या बुद्धिः सप्तमी साऽत्र कथ्यते॥[9]

प्राणायाम के भेदों के विषय में पतञ्जलि ने 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।' (योगसूत्र 2.50) कहा है। इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए योगानुशासनप्रकाशकार ने कहा है –

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकश्चेति यस्त्रिधा।
स देशकालसंख्याभिर्दीर्घसूक्ष्मो विलोक्यते॥[10]

अर्थात् प्राणायाम रेचक, पूरक तथा कुम्भक भेद से तीन प्रकार का होता है। यह देश, काल, संख्या के अनुसार दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है। प्राणायाम के इन तीन – रेचक, पूरक तथा कुम्भक प्रकारों को क्रमशः बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति भी कहा जाता है।

पतञ्जलि कहते हैं – 'ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।' (योगसूत्र 3.36) अर्थात् उस स्वार्थसंयम से योगियों को प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ये छः सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। योगानुशासनप्रकाश में इन छः सिद्धियों को अलग-अलग बताया गया है –

प्रातिभं जायते ज्ञानं योगिनां स्वार्थसंयमात्।
यतो भूतं भविष्यच्च प्रत्यक्षमिव जायते॥
तेनैव श्रावणं ज्ञानं यमिनां जायते तथा।
शापाँश्च वरदानानि श्रोतुमर्हन्ति येन ते॥
ज्ञानं च वेदनाख्यं तज् जायते स्वार्थसंयमात्।
देवानां चरणौ स्प्रष्टुं यस्माच्छक्ता भवन्ति ते॥

आदर्शाख्यं तथा ज्ञानं तेषां यत्स्वार्थसंयमात्।
जायते तेन शक्तास्ते स्वेष्टं द्रष्टुं भवन्ति हि॥
आस्वादाख्यं तथा ज्ञानं तेषां यत्स्वार्थसंयमात्।
पातुं तेनैव पीयूषं प्रभवन्ति च साधवः॥
वार्ताख्यं जायते ज्ञानं योगिनां स्वार्थसंयमात्।
अर्हन्ति दिव्यपुष्पाणां गन्धं घ्रातुमनेन ते॥[11]

अतः स्पष्ट है कि योगानुशासनप्रकाश में विषय-प्रतिपादन की पद्धति का वैशिष्ट्य हमें अनेक रूपों में प्राप्त होता है। इसमें योगसूत्र को अनेक भाष्यकारों के मतों के अनुसार श्लोक में व्याख्यायित किया गया है। कहीं पर योगसूत्र के संक्षिप्त कथ्य को श्लोक में विस्तार दिया गया है अर्थात् सूत्रगत पदों की ही व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। कहीं पर योगसूत्र में जिन विषयों का संकेतमात्र कर दिया गया है, उन विषयों को श्लोकों में स्पष्टता से कहा गया है। कहीं पर योगसूत्र में प्रसङ्गवश आये विषयों को भी श्लोकों में प्रमुखता से स्थान मिला है। निश्चित रूप से योगदर्शन के अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ सरल एवं सरस विषयवस्तु के कारण हृदयग्राही होगा, ऐसी मेरी मान्यता है।

आचार्य, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. योगानुशासनप्रकाश - 1.1
2. मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ। अमरकोश 3.247
3. योगदर्शनम् - आचार्य उदयवीर शास्त्री, पृष्ठ - 2
4. योगानुशासनप्रकाश - 1.2
5. वही - 1.4
6. योगानुशासनप्रकाश - 1.10
7. वही - 2.23-26
8. योगानुशासनप्रकाश - 2.32
9. वही - 2.34-40
10. वही - 2.66
11. योगानुशासनप्रकाश - 3.37-42

वेणुगीतशतकम् : एक अनुशीलन

प्रो. सारिका वार्ष्णेय

स्थिरीकुर्वन्कृतीख्यातिं सदा वाग्ब्रह्मशीलनात्।
ब्रह्मीभवति मेदिन्यां महीरत्नं हि सत्कवि॥

अर्थात् महाकवि घनश्याम सुकविवर्णन (पद्यसंख्या 05) में कहते हैं कि सुकवि वाणीरूपी ब्रह्मा के शील से अपनी ख्याति को स्थिर बनाता हुआ ब्रह्मस्थिति को प्राप्त करता है और पृथिवी का महान् रत्न कहलाता है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य को अपने ग्रंथों के महनीय योगदान से समृद्धशाली बनाने वाले, रत्नरूपी श्रेष्ठ कवि, अनवरत रूप से वाग् देवता के अनुशीलन से ब्रह्म के समान अपनी ख्याति को स्थिर बनाने वाले आचार्य जगदीशप्रसाद सेमवाल सरलता और सहजता की प्रतिमूर्ति हैं। प्रकृति की क्रोड में पले बढ़े सेमवाल जी प्रकृति के शांत, दिव्य और मनोरम रूप के उपासक हैं। नव्य व्याकरणाचार्य होने के बाद भी उनके व्यक्तित्व में रूक्षता का अभाव है। विषयों के प्रति एक दिव्य मनोरम दृष्टि उनकी प्रकृतिपोषणपरवरिश का ही परिणाम है, जिसके फलस्वरूप वेदांतशास्त्र जैसे दुरूह विषय पर लिखा उनका वेदान्तकारिका ग्रंथ सरलता से अध्येताओं की समझ में आता है। महाकाव्य (01), विलासकाव्य (11), दर्शनग्रन्थ (02), स्तुतिकाव्य (04) और शिव-विष्णु-गुरुनानक-गणपति सहस्रनामनिर्वचन कारिका, अनुदित काव्य (02), रूपक (02) तथा 50 से अधिक स्फुट काव्यकृतियाँ उनके विविध विषयक ज्ञान एवं अद्भुत काव्य लेखन कला के परिचायक हैं। यहाँ हम सेमवाल जी के वेणुगीतशतककाव्य को आधार बनाकर शोधपत्र प्रस्तुत कर रहे हैं।

आजकल शुभकामना-संदेश तथा संवाद के लिए मोबाइल पर वाट्सएप का प्रयोग किया जाता है। एक दिन नरसिंहाचार्य नामक विद्वान ने सेमवाल जी को "वेणुम् वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये" एक चरण श्लोक की समस्यापूर्ति के लिए प्रेषित किया। तब सेमवाल जी ने उस समस्या की पूर्ति कर एक श्लोक लिखकर नरसिंहाचार्य के पास भेजा जिसे देखकर नरसिंहाचार्य प्रसन्न हुए और उनका उत्साहवर्धन किया। तब सेमवाल जी ने प्रतिदिन समस्यापूर्ति के रूप में एक श्लोक लिखा, यह क्रम सौ दिन तक चला जिसका ही परिणाम है – वेणुगीतशतकम्। सेमवाल जी ने इस काव्य को 'कृष्णो जगत्प्रीतये' भी कहा है।

सेमवाल जी ने वेणुगीतशतकम् का प्रणयन भक्ति की इच्छा से किया है जिसे वह स्वयं स्वीकार करते हैं –

तस्य प्रेरणया मया मधुरिपोर्ध्यात्वांघ्रिपद्मद्वयं
श्लोकानां शतकं नवं निगदितं श्रीवेणुगीतात्मकम्।
चाञ्चल्यादिव बालकेन तदिदं मन्देन भक्त्यर्थिना
प्रीत्यर्थं व्रजधूलिधूसरतनोर्गोपीमनोहारिणः॥[1]

वेणुगीतशतकम् का हिन्दी अनुवाद सेमवाल जी के जामाता श्रीसर्वेश्वरप्रसाद ने किया तथा टङ्कण कार्य उनकी पुत्री पूनम सेमवाल ने किया। उन दोनों के प्रयास से ही यह वेणुगीतशतकम् प्रकाशित हुआ है।

कलेवर

सेमवाल जी ने वेणुगीतशतकम् में **वेणुम् वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये** ध्रुवक का प्रयोग करते हुए 103 पद्यों में कृष्ण के बालरूप, सौन्दर्य, उनके कार्य एवं गुणों तथा कृष्ण की सर्वव्यापकता को शार्दूलविक्रीडितम् छंद में निबद्ध किया है। इसके साथ ही भारत एवं वृन्दावन की महिमा का भी वर्णन किया है।

कृष्ण का अनुपम बालरूप – कृष्ण का जन्म

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

वसुदेव और देवकी के पुत्र के रूप मे कंस के कारागार में हुआ। इनका पालन-पोषण यशोदा और नन्द ने किया है। वह व्रज में ग्वाल बालों के साथ क्रीड़ा करते हैं -

देवक्यां वसुदेवतः शिशुरभूत् कंसस्य कारागृहे
नन्देनाथ यशोदया सुत इव प्रीत्या च संवर्धितः।
क्रीडन् गोपसुतैर्व्रजे व्रजवधूचित्तापहृत् कोऽप्यसौ
वेणुम् वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[2]

जिस कृष्ण से बड़े-बड़े बलवान दैत्य भी भय से कांपने लगते हैं ऐसे वह कृष्ण अपने बालपन की चपलता के कारण माता यशोदा के क्रोध से भयभीत हो जाते और माता की प्रसन्नता के लिए वंशी बजाने लगते हैं।

जब कृष्ण बाल्यावस्था मे क्रीड़ाएं करते तब माता यशोदा उन्हे दंडस्वरूप बांधने में असमर्थ होती परंतु उन्हीं श्रीकृष्ण को गोपियों ने अपने हृदय में बड़ी दृढ़ता से बांध लिया था।

कृष्ण का अद्भुत सौंदर्य - कृष्ण कमल के समान सुंदर, सौम्य, मनोहर, विद्युत के समान तेजस्वरूप, नवीन मेघ के जैसे श्यामल वर्ण वाले एवं सुवर्ण के समान पीताम्बर धारण किये हुए स्निग्ध दृष्टि वाले हैं -

विद्युत्कान्तिनिभं सुवर्णसदृशम् पीताम्बरां धारयन्
श्यामश्यामनवाम्बुदाभवदनो नीलालको बर्हभृत्।
मध्ये गोपगणस्य काननगतो गोपाङ्गनाभ्यर्थितो
वेणुम् वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[3]

कृष्ण अपने अनुपम रूप से सभी प्राणियों को मोहित कर लेते, अपनी माधुर्यमूर्ति से गोपियों को आकर्षित कर लेते और वंशी की धुन से ग्वाल बालों पर शाब्दी कृपा की वर्षा करते -

रूपेणाप्रतिमेन तत्र सकलान्सम्मोहयन्प्राणिनो
माधुर्यातिशयेन गोपवनिता आकर्षयन्गोकुले।
गोपेष्वन्यतमां स्वभावमधुरां शाब्दीम् कृपां वर्षयन्
वेणुम् वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[4]

कृष्ण के उत्तम कार्य - कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को धारण कर ग्वाल बालों और गायों की रक्षा की जिसे देखकर देवता भी आश्चर्यचकित हो गये। वह शरणागत के रक्षक हैं-

गोपानां परिरक्षणाय च गवां त्राणाय गोवर्धनं
धृत्वा योऽद्भुतकर्मणात्र मनुजान् स्वर्गे च देवानपि।
साश्चर्यान् व्यदधात्प्रपन्नशरणो गोविन्द इत्यर्थवान्
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[5]

कृष्ण ने पृथ्वी को पाताल लोक में ले जाने वाले हिरण्याक्ष नामक दैत्य का वराह अवतार धारण कर वध किया -

दैत्येनापहृतां बलाद्वसुमतीं दृष्ट्वा सुरैः प्रार्थितो
दंष्ट्राग्रे निखिलामिमामुदहरत्पातालतो यस्तदा।
सोऽयं सम्प्रति नन्दगोपभवने केलिं विधत्ते तथा
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये ।।[6]

कृष्ण के दिव्य गुण - कृष्ण के दिव्य गुणों का वर्णन करते हुए कवि लिखते हैं कि कृष्ण भक्तों की कामना को पूरा करने वाले, दुःखियों के दुःख का हरण करने वाले, सज्जनों के दारिद्रय को समाप्त करने वाले एवं विपत्तियों का हरण करने वाले हैं -

आर्त्तानामपहर्त्तुमार्त्तिमखिलां दैन्यं च हर्त्तुम् सतां
भीतानां भयकारणञ्च निखिलं संहर्तुमामूलतः।
सद्वृत्तानवितुं विपत्सु पतितानानन्दयन्सर्वथा
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[7]

कृष्ण का ध्यान योगीजन मुक्ति के लिए, राजा लोग पृथिवी पर विजय के लिए, गोकुल में गोपांगनाएं आनन्द के लिए करते हैं। कृष्ण विपदाओं के समय सदैव अग्रगण्य रहते हैं। वह सभी प्राणियों को अभीष्ट की प्राप्ति कराने वाले हैं-

आधिव्याधिहरः सतां शरणदः कारुण्यवर्षाकरो
दुष्टोत्सादनतत्परश्च भजतां सर्वार्थसिद्धिप्रदः।
इष्टार्थप्रतिपत्तये सुकृतिभिः संसेवितो माधवो
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[8]

कृष्ण अपने सभी भक्तों का हित चाहने वाले हैं, उनकी कृपा से गूंगे बोलने में प्रवीण हो जाते हैं, दरिद्र समृद्धशाली हो जाते हैं, पंगु पर्वत शिखरों पर चढ़ने में समर्थ हो जाते हैं एवं सज्जन प्रसन्न हो जाते हैं-

मूका वाक्पटवो भवन्तु भुवने दीना अदीनाः पुनर्
आरोहन्त्वथ पंगवोऽपि शिखरं नन्दन्तु सन्तः सदा।
इत्थं भक्तहितं स भक्तिसुलभः सञ्चिन्तयन्माधवोः
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये ।।[9]

कृष्ण की सर्वव्यापकता - कृष्ण एक होकर भी अनेक रूप में भासित होते हैं। यह विश्व कृष्ण से ही व्याप्त है। कृष्ण ही प्रातःकाल संसार के कल्याण हेतु सूर्य रूप में उदित होते हैं और वरुण रूप में संसार पर शासन करते हैं। इसलिए वेद उनके गुणों एवं कार्यो का बखान करते हैं और योगी कठिन तप से उन्हें प्राप्त करने की

इच्छा करते हैं-

हृद्देशेऽखिलदेहिनामभिहिता विज्ञैः स्थितिर्यस्य सा,
यः सर्वान्भ्रमयत्यनन्तबलभृद्यन्त्राधिरूढानिव।
चित्रम्, तं भ्रमयन्ति गोपवनितास्ताभिर्नियुक्तो हरिर्,
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[10]

मनीषियों का कथन है कि कृष्ण सभी प्राणियों को सांसारिक बंधनों से मुक्त कर देते हैं।

प्रेम की अद्भुत महिमा - सेमवाल जी ने प्रेम की महिमा को प्रतिपादित किया है। वह प्रेम से श्रेष्ठ किसी को नहीं मानते हैं -

प्रीतेस्तुल्यमिहास्ति नैव किमपि श्रेष्ठं कुतः स्यादिति।[11]

उनका कथन है कि प्रेम से ही संसार की उत्पत्ति होती है और प्रेम में ही संसार लीन हो जाता है-

प्रीतेर्जातमिदं समस्तभुवनं प्रीताविदं लीयते,
प्रीत्या यान्ति सरित्पतिञ्च सरितो वर्षन्ति मेधास्तथा।
प्रीतिर्भूतिकरी भवेत्सुकृतिनामित्यर्थतो माधतो,
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[12]

भारत एवं वृन्दावन की महिमा - कवि कहते हैं कि विश्वविख्यात भारतभूमि धन्य है उसमें भी विविध लताओं एवं कुञ्जों से युक्त वृन्दावन रमणीय है और वहां भी ग्वाल, गोपियां एवं गायें धन्य हैं क्योंकि उनके मध्य में श्रीकृष्ण विद्यमान है-

धन्येयं सुजलान्विता च सुफला रम्या सुपुष्पा मही,
धन्यं गोकुलमेतदत्र मधुरं धन्यं च वृन्दावनम्।
यत्रासौ मधुराधिपो यदुपतिर्माधुर्यपूर्वाम्बुधिं,
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[13]

प्रकृति-चित्रण - वेणुगीतशतकम् में विविध स्थलों पर प्रकृति के मनोहर दिग्दर्शन होते हैं। कृष्ण के वंशी बजाने पर वृन्दावन में गायों ने घास चरना, पक्षिगण ने चहचहाना, वानरों ने उछलना कूदना, हिरणों ने चपलता, सिंह व्याघ्र आदि पशुओं ने हिंसा करना छोड़ दिया। रात्रि में यमुना का तट चन्द्रमा की रश्मियों के स्पर्श से उज्ज्वल एवं शोभायमान है-

शोभन्तां विपिनान्यमूनि तरुभिः कुञ्जैर्लताभिस्तथा,
भूयोव्याघ्रमृगादिभिश्च विविधैः कूजद्भिर्हंगैरिह।
नद्यः स्वच्छजला वहन्तु वसुधा धान्येन पूर्णेत्यसौ,
वेणुम् वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[14]

दार्शनिक ज्ञान - वेणुगीतशतकम् में कवि ने दार्शनिक विचारों को भी वर्णित किया है। विद्वानों ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ,आकाश, मन, बुद्धि, अंहकार को प्रकृति कहा है-

भूमिर्वार्युनलः सदागतिरथाकाशाभिधः पञ्चमो,
देहे तत्र मनश्च बुद्धिरथ सोऽहंकार इत्यष्टधा।[15]

इस शतककाव्य में सांख्य का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। कृष्ण को तीनों दु:खो को शमन करने वाला माना है-

यस्यायत्तमिह त्रितापशमनं प्रोक्तं बुधैः प्राणिनां,
तस्य प्रार्थयते सुतस्य सदया सौख्यं यशोदा व्रजे।[16]

वेणुगीतशतकम् के एक निम्न पद्य में भगवद्गीता एवं योगदर्शन का चित्र चित्रित किया है-

यं पश्यन्ति कथञ्चिदत्र यमिनो ध्वान्तात्परस्तादमी,
बीजं वेदविदो वदन्ति यममुं चौकं जगच्छाखिनः।[17]

रस - प्रस्तुत शतककाव्य शांत रस प्रधान है। अद्भुत, भक्ति और वात्सल्य रस का प्रयोग हृद्यावर्जक है।

छन्द - वेणुगीतशतकम् में शार्दूलविक्रीडितम् छन्द का प्रयोग किया गया है।

गोपी काचिदुपेत्य पृच्छति सखीं श्रीराधिकां गोकुले,
किं त्वां कामयतेऽधिकं नटवरो त्वय्यस्ति किं तन्नवम्।
यच्चासावविचार्य नन्दतनयो वाक्ये स्थितस्तावके,
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[18]

अलंकार - प्रस्तुत शतककाव्य में अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग दर्शनीय है जो कवि की सहज अलंकारप्रियता का द्योतक है। कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है -

अनुप्रास अलंकार

जाते तत्र विधूदये यदुपतेर्गेहं निशायां गता,
गोपा गोपसुताश्च गोपवनिताः प्राहुर्यशोदासुतम्।
वेणुं वादय मोहन! त्वमधुनेत्याकर्ण्य गोपीप्रियो,
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[19]

'ग' वर्ण की विविध बार आवृति होने से अनुप्रास अलंकार है।

उपमा अलंकार -

राजन्ते कुसुमैः फलैश्च तरवो वृन्दावने पावने,
प्रेयस्यो दयितानिवेह विटपानावेष्ट्य हृष्टा लताः।
चित्रेष्वालिखिता इवात्र हरिणा प्रेमाश्रुधाराभृतो,
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[20]

अर्थात् लताएँ वृक्षों पर प्रसन्न होकर वैसे ही लिपट जाती हैं जैसे प्रेयसियां अपने प्रियों पर। यहाँ लता उपमेय,

प्रेयस्यो दयितान् उपमान, इव उपमावाचक शब्द एवं विटपानामवेष्ट्य हृष्टा साधारण धर्म है। अतः यह पूर्णोपमा का मनोहर उदाहरण है।

उत्प्रेक्षा अलंकार-

यो देवस्तपसेज्यया च विविधैर्यत्नैरगम्यः स्मृतो,
गोपीनां हृदयस्थया परमया सोऽयं यशोदासुतः।
प्रीत्या क्रीत इव स्वभावमृदुलो गोपीश्च गाः प्रीणयन्
वेणुं वादयते जगत्त्रयगुरुः कृष्णो जगत्प्रीतये।।[21]

क्रिया के साथ इव का प्रयोग होने से उत्प्रेक्षा अलंकार होता है अतः यहाँ क्रीत इव में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

वस्तुतः कृष्ण के वेणुरव से केवल वृन्दावन ही नहीं अपितु सारा विश्व चमत्कृत है। कृष्ण की वंशी की धुन से मंत्र मुग्ध हुए गोप-गोपीजन, पशु-पक्षी आदि सभी अपने-अपने कार्यों को छोड़कर केवल और केवल ओटीए है उस धुन में खो जाते हैं। यहाँ आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल जी ने कृष्ण के वेणु वादन का एक नवीन प्रयोजन भी स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि कृष्ण केवल अपने शौक से ही वंशी नहीं बजाते हैं अपितु वह अपनी माता को प्रसन्न करने, गोप-गोपियों के दुःख को दूर करने, वृन्दावन के वृक्षों-लताओं-पशु-पक्षियों को प्रसन्न करने के लिए, ग्रीष्म ऋतु के बीत जाने पर भी वर्षा न होने पर गोकुल में वर्षा के लिए, गायों की रक्षा कर उन्हें प्रसन्न करने के लिए व्रज में मानव देह धारण कर माधव जो तीनों लोकों के स्वामी हैं वह सबकी प्रसन्नता के लिए वंशी बजाते हैं।

कृष्ण की दिव्य लीलाओं की कल्पना से आचार्यवर्य स्वयं चमत्कृत हो जाते हैं। बड़ी ही आश्चर्य के साथ वह कृष्ण की दिव्यता के विषय में कुछ इस प्रकार लिखते हैं कि नाट्यलीला में निपुण जो नटवर सम्पूर्ण विश्व को नचा रहे हैं उस सुंदर लीलाधर को गोकुल में गोपियाँ उल्टा नचा रही हैं – बड़े बड़े धनाढ्य भी दिन-रात जिस भगवान से अधिकाधिक समृद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं वहीं गोकुल में माता यशोदा और अन्य गोपबालाओं से थोड़े से माखन की याचना कर रहा है – माया के अधिपति जिस परमेश्वर ने समस्त प्राणियों को इस सांसारिक भ्रम में डाल रखा है वही परमेश्वर व्रज में गोपियों की अदाओं के भ्रम जाल में पड़े हुए हैं - विश्वभर में जिनकी कृपा के बिना कोई भी सकुशल नहीं रहता व्रज में माता यशोदा उसी की कुशलता के लिए प्रार्थना करती रहती है - समस्त सांसारिक बंधनों को काट देने वाले कृष्ण को माता यशोदा उनकी चपलता के कारण बांध देती है।

कृष्ण के प्रति निश्चल प्रेम और भक्ति भाव से लिखा गया आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल का यह शतक काव्य पाठकों की भक्ति धारा को सतत प्रवाहित कर उन्हें कृष्ण भक्ति के अद्भुत रस से पूर्ण सरोवार करने में समर्थ है। काव्यशास्त्रीय नियमो का पूर्ण पालन करते हुए यह एक सफल शतककाव्य है। जगदीश जी ने स्वयं कहा की हमें श्रीकृष्ण के दो रूप प्राप्त होते हैं एक तो महाभारत के युद्धा के समय वाले नीतिकुशल कृष्ण और दूसरे गोकुल में रहने वाले वंशी बजाने वाले राधा के प्रियतम कृष्ण को अपनी वंशी की धुन न केवल गोकुलवासियों से अपितु समस्त संसार को अपने वश में कर लेते हैं।

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
संस्कृत-विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

सन्दर्भ सूची

1. वेणुगीतशतकम्, श्लोक -102
2. वही, 28
3. वही, 16
4. वही, 59
5. वही, 45
6. वही, 89
7. वही, 62
8. वही, 82
9. वही, 96
10. वही, 30
11. वही, 5
12. वही, 99
13. वही, 52
14. वही, 98
15. वही, 27
16. वही, 43
17. वही, 49
18. वही, 78
19. वही, 75
20. वही, 9
21. वही, 21

डॉ. चन्द्र शेखर त्रिपाठी

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल कृत मेघविलास में मेघ के विविध रूप

संस्कृत के महाकवियों ने अपने काव्य में प्रकृति के सर्वव्यापी सौन्दर्य को ऋतुओं के माध्यम से चित्रित किया है। वसन्त एवं पावस ऋतु का वर्णन गद्य एवं पद्य दोनों काव्य में बहुलता से प्राप्त होता है। कविवर जगदीश प्रसाद सेमवाल भी प्रकृति के इन दो मनमोहक ऋतुओं के वर्णन से अपने को रोक नहीं पाए। उन्होंने वसन्तविलास और मेघविलास नाम से दो स्वतन्त्र विलासकाव्यों की रचना की तथा दोनों ऋतुओं को एक नूतन रूप में वर्णित किया है।

मेघविलास 102 पद्यों में रचित है, जिसमें कवि ने मेघ के विविध रूपों को वर्णित किया है। उसका पृथिवी पर पड़ने वाले प्रभावों का हृदयग्राही चित्रण आधुनिक परिप्रेक्ष्य में किया है। यहाँ ध्यातव्य है कि इनसे पूर्व के कवियों के द्वारा वर्षा ऋतु का वर्णन प्राय: श्रृंगार रसाश्रित है। कवि सेमवाल ने मेघ के सौन्दर्यवर्णन में न केवल श्रृंगार रस को आधार बनाया, अपितु उसके द्वारा आधुनिक भारत की सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था पर भी व्यंग्य किया गया है, जो अद्‌भुत है। जगदीश प्रसाद सेमवाल द्वारा वर्णित मेघ के विविध रूपों का विश्लेषण इस प्रकार है –

मेघोत्पत्ति एवं उसके विविध नाम –

मेघविलास में मेघ की उत्पत्ति को नए रूप में प्रस्तुत किया गया है। यज्ञकुण्ड में स्थित अग्नि को मेघ का पिता एवं मन्त्रों से युक्त आहुति को माता कहना वैदिक परम्परा के अनुरूप है –

अग्निस्तवास्ति जनकोऽध्वरकुण्डसंस्थो।
मन्त्रान्विताहुतिरियं जननी च मेघ॥[1]

अग्नि एवं आहुति को क्रमश: पिता एवं माता कहकर कवि कदाचित् उसी तथ्य को प्रकाशित कर रहे हैं, जिसे कालिदास ने धूम एवं ज्योति कहा है – 'धूमज्योतिसलिलमरूतां संनिपात: क्व मेघ:।' अग्नि ताप ऊष्मा का प्रतीक है और आहुति से धूम उत्पन्न होता है। आधुनिक जलचक्र-प्रक्रिया में भी सूर्य के ताप से वाष्पोत्सर्जन प्रक्रिया से मेघ का निर्माण होता है। आचार्य सेमवाल ने मेघ के विविध नामों का उल्लेख भी किया है। यहाँ ध्यातव्य है कि उन्होंने मेघ के प्रत्येक नाम का आधार भी स्पष्ट किया है यथा –

विश्वम्भरोऽसि भगवन् हि बिभर्षि लोकान्
काले पयोद ननु वर्षसि यत्त्वमित्थम्।
रुद्रोऽप्यसि प्रखरभीषणशब्दकर्मा नैकांश्च
संहरसि वारिद तूर्णमेव॥
जीवांस्त्वमेव परितो जनयस्यसंख्यान् पर्जन्यदेव
इति तत्तव नामधेयम्।
संवर्धयस्यथ पुनर्जननीव सर्वान् तस्मात् पयोधर
इति प्रथितोऽसि मेघ॥[2]

मेघ का जीवनदायक रूप –

मेघ जीवन का प्रतीक है। मेघ से वर्षित जल कृषकों के चेहरों पर मुस्कान ला देता है। ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से व्याकुल पेड़-पौधे प्राणियों को मेघ एक नया जीवन देता है। कवि इसी भाव को व्यक्त करते हुए मेघ से प्रार्थना करता है कि –

शीघ्र विमोचय पयोधर वारिधारां नार्थ:
कदापि सुकृतेऽतिचिरायितेन।
आप्लाविता कुरु धरां सकलां समन्तान्
मार्ग तवैव सुचिरादियमीक्षमाणा॥[3]

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

किसान भी प्रतिदिन दिखने वाले परन्तु न बरसने वाले बादल से प्रार्थना कर रहे हैं कि मेरा खेत सूख रहा है अब तुम बरस जाओ। खेत सूख जाने पर तुम्हारा बरसना निष्फल होगा –

आयासि नित्यमपयासि न वर्षसि त्वमित्थं
चरिष्यसि कियन्ति दिनानि मेघ।
शस्यं प्रशुष्यति दिनानुदिनं ममेदं शुष्के
भविष्यति कृताप्यफलाय वृष्टिः।।[4]

निःसंदेह कर्म का वही फल सुफल होता है जिसे यथा काल किया जाए। कहा भी गया है कि आदान और प्रदान रूपी कर्म तथा करने योग्य कार्य समय से कर लेना चाहिए अन्यथा समय इन कर्मों के फलरूपी रस को पी जाता है अर्थात उन कर्मों का समुचित फल नहीं मिलता –

आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्।।

वर्षा के जल को अमृत तुल्य कहना उसके जीवनदायक रूप को ही वर्णित करता है –

सञ्जीवयस्यखिलभूतगणान् प्रसन्नः
पीयूषतुल्यजलवर्षणकर्मणेमान्।[5]

पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले समस्त पादपवर्ग वर्षा पर ही निर्भर है। इसी तथ्य को कवि ने आलंकारिक रूप में वर्णित करते हुए कहा है कि हे मेघ! यह पृथिवी जो विविध प्रकार की औषधियों तथा अन्नों को धारण करती है उन सब के कारण तुम ही हो –

एषा धरा धरति यद् विविधौषधीश्च तत्रापि
कारणमथो जलमुक्त्वमेव।
अन्नानि चापि विविधानि पुनस्त्वमेव संवर्ध्य
भूर्युपकरोषि समस्तलोकान्।।[6]

सम्पूर्ण पृथिवी वर्षा के प्रथम जल को पाकर धन्य हो उठती है। वनभूमि, खेत, वृक्ष, लताएँ इत्यादि समृद्धि को प्राप्त कर एक नूतन सुषमा को उत्पन्न करती हैं –

क्षेत्राणि वारिधर काननभूमयश्च वृक्षा
लताश्च विविधास्तव तोयदानात्।
ऋद्धिं समेत्य जनयन्त्यवनीतलस्य
काञ्चित्त्वपूर्वसुषमां स्मरणीयरूपाम्।।[7]

मेघ का विनाशक रूप –

आधुनिक विकासवाद के दो रूपों की तरह मेघ के भी इस प्रसङ्ग में दो रूप प्राप्त हैं। विकास का एक पक्ष किसी के लिए लाभप्रद हो सकता है तो वहीं पक्ष दूसरों के लिए हानिकारक भी हो सकता है। मेघ एक ओर जहाँ जीवनदायक है तो वही यह समाज के गरीब, निर्धन, असहाय लोगों के लिए विनाशक रूप में भी प्रस्तुत होता है और जब यह अपने भीषण रूप में प्रस्तुत होता है तो सबके लिए विनाशक ही होता है। कवि ने मेघ के जीवनदायक रूप के साथ-साथ उसके विनाशक रूप को भी प्रकट किया है। मेघ से समाज के गरीब निर्धन किस प्रकार प्रभावित होते हैं उसका सजीव चित्रण कवि ने किया है। कुम्भकार के लिए वर्षा ऋतु बड़ा ही दुःखदाई होता है। उसके मिट्टी के कच्चे बर्तन सूख नहीं पाते और वे विनष्ट हो जाते हैं। कुम्भकार की इसी मनोदशा को हृदयग्राही रूप में प्रस्तुत किया गया है –

रे मेघ सूर्यकिरणान् परितोऽवरुद्धय व्योम्नि
स्थितोऽसि न च जाड्यमवैषि नैजम्।
एतान्ममामकलशानपि पश्य किञ्चिद्
यास्यन्ति नाशमधुना त्वयि वर्तमाने।।[8]

मेघ झोपड़ी-कुटिया में रहने वालों के लिए दुख लेकर आता है। ऐसे लोग मेघ के लगातार बरसने पर दुःखी हो उससे रुकने की प्रार्थना करते हैं –

तूर्णं निवारय पयोधर वारिधारां दीने
दयस्व मयि सम्प्रति वारिवाह।
आभ्यन्तरं निविशते हि ममोटजस्य
जीर्णस्य वृष्टिरतिवेगवती निशायाम्।।[9]

श्रमिकों के लिए भी मेघ सुखदाई नहीं होता। श्रमिक वर्ग प्रतिदिन मेहनत-मजदूरी कर अपना जीवन यापन करते हैं। वर्षा ऋतु के कारण उन्हें आजीविका प्राप्त नहीं होती है। कवि ने श्रमिक वर्ग की व्यथा का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है –

अम्भोद वर्षसि निरन्तरमेव किं त्वं
नाद्यापि किं विरमसीह दिनत्रयेण।
नीतो मयोपवसता समयः कथञ्चिन् नूनं
प्रियेऽद्य भृतिकां यदि नार्जयेयम्।।[10]

वर्षाकाल में एक निर्धन माँ की अपने बच्चों के प्रति उसकी ममता एवं स्नेह के साथ-साथ उसकी शिक्षा के प्रति जागरूकता को कवि ने बड़े ही हृदयग्राही रूप में प्रस्तुत किया है –

विद्यालयं व्रजति सम्प्रति बालकोऽयं
छत्रादिकं किमपि नास्ति तथास्य पार्श्वे।

तावत्ततो विरम मेघ स एष यावद्
गन्तव्यमेति तनयो मम निर्धनायाः॥[11]

मेघ जब अपने भयंकर रूप में आता है तो वह सम्पूर्ण पृथिवी के लिए विनाशक हो जाता है। इसी तथ्य को उद्घाटित करते हुए कवि कहते हैं कि मेघ जब रुष्ट हो जाता है तो वह समस्त लोकों को नाश करने में समर्थ होता है –

रुष्टस्त्वमेव घन नाशयितुं समस्तान् लोकान्
समर्थ ईति वेत्ति न को नु विज्ञः।[12]

बाढ़ के दुष्परिणाम से कौन नहीं अवगत है? कवि के शब्दों में बाढ़ की स्थिति का सजीव चित्रण उसके भयंकर रूप को प्रस्तुत करता है –

मुञ्चत्ययं करिकरोपमवारिधारां कर्तुं
धरामपि समुद्रमिवाद्य मेघः।
इत्थं निरन्तरमहो घटिकाद्वयं चेद्
वर्षिष्यति क्षयमुपैष्यति सर्वलोकः॥[13]

कविसमय (रूढि) के रूप में –

काव्यशास्त्र में अनेक कविरूढि प्रसिद्ध हैं, यथा - चक्रवाक का नैश-विरह, हंस का नीर-क्षीर-विवेक, गजमदजल-श्राव इत्यादि। मेघ को लेकर भी अनेक कविरूढि प्रसिद्ध हैं यथा - स्वाति नक्षत्र में मेघ की बूंदें यदि केले में गिरें तो कपूर, सीप में मोती और सर्प के मुख में गिरे तो विष बनता है। इसी प्रकार एक और कविरूढि प्रसिद्ध है कि चातक पक्षी स्वाति नक्षत्र का ही मेघजल ग्रहण करता है, अन्यथा वह जल के अभाव में अपना प्राणोत्सर्ग कर देता है। कवि को चातक के इस स्वभाव का ज्ञान है। वे चातक से सहानुभूति रखते हुए मेघ से प्रश्न करते हैं कि –

स्वात्यां न वर्षसि पयोधर चेत्त्वमद्य प्राणान्
धरिष्यति कथं ननु चातकोऽयम्।
शक्नोति जीवितुमथाद्य न यो दिनान्तं मासं
कथं स गमयेदिति ते न बोधः॥
अम्भोद! चातकमिमं स्वनुरागबद्धं किञ्चित्तु
पश्य भुवि कातरमारुदन्तम्।
एतावतापि जलबिन्दुनिपातरूपा दोषोऽस्य
कोऽस्ति करुणा यदि तेन जाता॥
धन्यस्त्वमेक इह चातक यो जगत्यामंगीकृतं
न परिपालयसी व्रतं न।
एकोऽस्त्ययं वियति विस्तृतधूमयोनिर्जागर्ज्यते
क्वचन वर्षति नैव किन्तु॥[14]

नीतिशतक में भर्तृहरि ने भी मेघ को चातक पक्षी के जीवन का आधार माना है-

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः।
किमम्मोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे॥[15]

परोपकारी के रूप में –

भारतीय संस्कृति में निःस्वार्थ परार्थवृत्ति को सर्वोत्कृष्ट आचरण माना गया है। इस सम्बन्ध में एक सूक्ति भी प्राप्त होती है-

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्यवचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

मेघविलास में कवि ने 2 पद्यों के द्वारा मेघ के लोकोपकारक स्वरूप की प्रशंसा की है। मेघ खारे सागर से लवणयुक्त जल को पीकर मधुर जल इस संसार को देता है। कवि का कहना है कि इस स्वार्थपरायण संसार में प्रतिदिन दान करने वालों में मेघ की समानता कोई नहीं कर सकता –

क्षारं निपीय लवणाम्भसि वारिपूरं नीरं
त्वमुत्सृजसि यन्मधुरं पयोद।
कस्ते तुलां जलद तत्प्रतिदानकृत्सु लोके
गमिष्यति निजार्थपरायणेऽस्मिन्॥[16]

मानसून के लौटते समय गगनरूपी आंगन में मेघ अत्याधिक सुशोभित हो रहा है। कवि उसकी शोभा का कारण उसकी परार्थवृति को मानते हैं –

उत्सृज्य नीरमखिलं जगतो हिताय त्वं
शोभसेऽधितकरं गगनाजिरेऽद्य।
भात्यल्पदोऽपि मनुजो जलमुग् विशेषं
सर्वस्वमेव भवता त्वधुना प्रदत्तम्॥[17]

भौगोलिक तथ्यों के रूप में –

भारत की जलवायु को प्रभावित करने वाले कारकों में हिमालय पर्वतीय क्षेत्रों की बहुत बड़ी भूमिका है। हिमालय भारत और मध्य एशिया के बीच एक जलवायु-विभाजक के रूप में कार्य करता है। मानसून के महीने के दौरान दक्षिण-पश्चिम मानसून हवाएँ तेजी से उत्तर की ओर बढ़ती हैं। हिमालय पर्वत-शृंखला इन हवाओं को आगे जाने से रोक देता है और इसी कारण पहाड़ों पर मैदानी इलाकों की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है। कवि सेमवाल ने भारत

के इस भौगोलिक तथ्य को बड़े ही आलंकारिक रूप में प्रस्तुत किया है –

आलिङ्गय तिष्ठसि चिराय गिरौ वनालीं
तस्यां तवास्ति जलमुक् कतमोऽनुरागः।
उल्लङ्घितानि समभूस्थितकाननानि तूर्णं
त्वयेति विदितो बहुपक्षपातः।।[18]

राजनैतिक कटाक्ष –

मेघ का विनाशक रूप भ्रष्ट राजनेताओं और नौकरशाहों के लिए वरदान होता है। वे बाढ़ रूपी आपदा में भी अपने सुख का अवसर ढूंढते हैं। जब अतिवृष्टि नहीं होती है तब ऐसे राजनेता दुःखी हो जाते हैं। भारतीय राजनीति की इस विडम्बना का सजीव चित्रण कवि ने किया है –

नास्मिन् बलाहक कृता भवतातिवृष्टिर्वर्षेऽत्र
सा क्वचिदपीति न मेऽस्ति सौख्यम्।
आस्थाय पुष्पक इवाद्य निजे विमाने
पश्येयमाकुलजनान् नभसः कथं हि।।
नो क्रन्दनं जनपदेषु न मज्जनं च न
प्लावनं न मरणं तव वर्षणेन।
जातं तु कुत्रचिदपि स्तनयित्नुवर्य!
स्नेहस्त्वया प्रकटितो जनतासु कोऽपि।।[19]

पौराणिक आख्यानों के पात्रानुरूप मेघ का चित्रण –

कवि सेमवाल ने मेघ के सौन्दर्य-चित्रण में पौराणिक पात्रों से उसकी तुलना की है, यथा -

मेघा इमे प्रवितता हि सहस्रशोऽद्य पूर्वं
रवेरुदयतो दिवि पश्य मित्र।
सद्यो हता दितिसुता समरे भवान्या सुप्ता
इवात्र नव शोणितलिप्तदेहाः।।[20]

वहीं कवि ने मेघ को अन्धकासुर, त्रिपुरासुर, शुम्भासुर की उपाधि से भी चित्रित किया है –

अद्यातिनीलवदनश्च महारवश्च लब्ध्वा
कठोरतपसा बलमप्यजेयम्।
मेघोऽन्धकासुर इवायमुपेत्य देवान्
सर्वांस्त्वथैकपद एव जिघांसतीव।।
एकोऽधुना नभसि यस्त्रविभक्तरूपः
शुक्लारुणासितमयो जलदोऽस्ति सोऽयम्।
दवासुरानिव रणे त्रिपुरासुरः किं जित्वा
त्रिशूलहतिना नदतीह शम्भोः।।
वीरौ निशम्य निहतौ युधि चण्डमुण्डौ
शुम्भासुरः प्रकुपितः सह कालकेयैः।
योद्धुं प्रयाति शिवया पुनरद्य किं वा
यद्वोत्तरां प्रति मसीमुखवारिदौघः।।[21]

मेघ का प्राकृतिक सौन्दर्य –

मेघ का प्राकृतिक सौन्दर्य प्रेमियों में उत्कण्ठा को जागृत करने वाला होता है। मेघ प्रेमियों के अन्तःकरण में शृंगार रस के स्थायी भाव रति को जागृत करने में उद्दीपक का कार्य करता है। मेघ को देखते ही प्रेमी-हृदय मदमस्त हो उठता है। वह धैर्य को त्याग व्याकुल हो उठता है। कवि ने मेघविलास में मेघ के इस आह्लादक स्वरूप को प्रश्नात्मक रूप में प्रस्तुत किया है –

अद्याम्बरेसितपयोधरमण्लस्य काञ्चिद्
विलोक्य सुषमां हृदयं मदियम्।
धैर्यं पयोधिरिव तत्सहजं विहाय
पर्याकुलीभवति तीव्रतया किमर्थम्।।[22]

आकाश में मेघाच्छादित हो जाने पर जड़ पृथिवी और दिशाएँ मदमस्त हो जाती हैं फिर चेतन प्राणियों का तो कहना ही क्या?

व्याप्नोषि वारिद यदा भुवनं दिवं च घोरं
तमः सृजसि तद् दिन एव दिक्षु।
नूनं तदा तु गगनं च धरा दिशोऽपि मत्ता
भवन्त्यथ कथा क्व नु चेतनानाम्।।[23]

मेघ के प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में कवि ने वर्षा में भीगे तरूणी के माध्यम से लोक-लज्जा का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया है –

रे मेघ पश्य तव निष्ठुरवर्षणेन सम्पृक्तमाद्र-
परिधानमितो ममाङ्ग।
एतर्हि सा कथमहं तरुणी व्रजेयं
मार्गेण तेन बहुपुरुषसंकुलेन।।[24]

वर्षा में भीगी नारी की विवशता का यह सजीव चित्रण है। ऐसी स्थिति में महिलाएँ अपने-आप को अत्यन्त ही असहज स्थिति में पाती हैं। कवि के द्वारा यहाँ नारियों की उस स्थिति का यथार्थ चित्रण किया गया है।

इस प्रकार मेघविलास में मेघ के विविध रूपों को आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल ने प्रस्तुत किया है। पुरातन मेघ के सौन्दर्य के साथ-साथ नए रूप में उसका वर्णन प्रशंसनीय है। वर्तमान प्रसङ्गों को मेघ के माध्यम से

चित्रित करना भी अद्भुत है। एक माँ की अपने बच्चे के अध्ययन की चिन्ता इस दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है, वहीं राजनेताओं के ऊपर कटाक्ष आज की वास्तविक भ्रष्टख़्र व्यवस्था को चित्रित करता है। मेघ के जीवनदायक रूप के साथ-साथ उसके विनाशक रूप का गरीब निर्धनों पर प्रभाव को जिस प्रकार कवि ने चित्रित किया है, वह भी यथार्थ चित्रण है।

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग,
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. मेघविलास 37
2. वही, 42-43
3. वही, 6
4. वही, 4
5. वही, 40
6. वही, 45
7. वही, 101
8. वही, 3
9. वही, 5
10. वही, 68
11. वही, 7
12. वही, 40
13. वही, 33
14. वही, 7, 17, 18
15. नीतिशतक, 50
16. मेघविलास, 22
17. वही, 55
18. वही, 23
19. वही, 30-31
20. वही, 77
21. वही, 78, 79, 85
22. वही, 2
23. वही, 51
24. वही, 9

डॉ. अवधेश प्रताप सिंह

आचार्य जगदीशप्रसाद सेमवालकृत् 'वेदान्तकारिका' : एक समीक्षा

वेद मानव सभ्यता के आद्य वांग्मय हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की अन्तर्दृष्टि से अभिव्यंजित तथा संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् रूप से चतुर्धा विभक्त वेदों से ही विश्व का समस्त ज्ञान-विज्ञान निःसृत हुआ है। ज्ञाननिधि वेदों की ज्ञानराशि का चरमोत्कर्ष (पराकाष्ठा) ही वेदान्त है। 'वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः' इस व्युत्पत्ति से 'वेदान्त' शब्द का व्यवहार मुख्य रूप से वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों के लिए होता है तथा उपचार से शारीरकसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता इत्यादि के लिए के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है।[1] डॉ. राधाकृष्णन ने वेदान्त का मूल उपनिषदों को बताते हुए इसे वेदों का सार कहा है।[2] वेदान्तदर्शन समस्त भारतीय दार्शनिक प्रस्थानों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित है। वेदान्तमत का मूल उपनिषदों में निहित है। इसीलिए ब्रह्मसूत्र को उपनिषदीय सिद्धान्तों का सूत्रमय सारांश कहा जाता है। आचार्य बादरायण द्वारा प्रणीत ब्रह्मसूत्र में वेदान्त के सिद्धान्तों का व्यवस्थित प्रतिपादन प्राप्त होता है। ब्रह्मसूत्र में औपनिषदिक सिद्धान्तों में उपलब्ध होने वाले परस्पर विरोधी विचारों का परिहार करते हुए उपनिषद् वाक्यों में परस्पर समन्वय का प्रतिपादन किया गया है। समस्त उपनिषदों का सूत्रों द्वारा ब्रह्म के तात्पर्य से समन्वय होने के कारण ही इसका 'ब्रह्मसूत्र' नाम अन्वर्थक है। वेदान्तदर्शन की प्रस्थानत्रयी में परिगणित ब्रह्मसूत्र न्यायप्रस्थान का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। आचार्य शंकर ने 'गीताभाष्य' में ब्रह्मसूत्र पद की व्याख्या करते हुए कहा है-**'ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्रणि तैः पदैः गम्यते ज्ञायते इति।'**[3] ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मविषयक विचारों की मीमांसा का ही प्रणयन किया गया है। ब्रह्मसूत्र में कुल चार अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय को चार पादों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक पाद में अनेक अधिकरण हैं तथा उन अधिकरणों का सूत्रों में विभाजन किया गया है। शांकरभाष्यानुसार ब्रह्मसूत्र में 4 अध्याय, 16 पाद, 191 अधिकरण तथा 555 सूत्र हैं।

ब्रह्मसूत्र वेदान्तदर्शन का अत्यन्त महनीय ग्रंथ है। अतः इस ग्रन्थ पर भिन्न-भिन्न कालों में विभिन्न विद्वानों ने स्वमतानुसार भाष्यग्रन्थों का प्रणयन किया है। इन भाष्यों में आचार्य शंकर का 'शारीरकभाष्य', आचार्य रामानुज का 'श्रीभाष्य', आचार्य मध्व का 'पूर्णप्रज्ञभाष्य', आचार्य निम्बार्क का 'वेदान्तपारिजात' तथा आचार्य वल्लभ का 'अणुभाष्य' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। भाष्यों के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र पर अनेक वृत्तियों की रचना हुई है, यथा-समरपुंगवदीक्षितकृत् 'अद्वैतविद्यातिलक', ब्रह्मेन्द्र सरस्वतीकृत् 'अद्वैतामृत', नारायणतीर्थकृत् 'ब्रह्मसूत्रवृत्ति', अप्यय दीक्षितकृत् 'नयमंजरी' इत्यादि। ब्रह्मसूत्र के अर्थ की स्पष्टता हेतु अनेक विद्वानों ने इस पर टीका तथा व्याख्याग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। इसी परम्परा में आधुनिक संस्कृत साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् आचार्य जगदीशप्रसाद सेमवाल ने 'वेदान्तकारिका' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें ब्रह्मसूत्र तथा शारीरकभाष्य को आधार बनाते हुए वेदान्तसिद्धान्तों को सरल एवं स्मरणीय कारिकाओं में निबद्ध किया गया है । इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य अधोलोखित है-

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय 'समन्वयाध्याय' में समस्त

वेदान्तवाक्यों का एकमात्र अद्वय प्रत्यगभिन्न ब्रह्म के ही प्रतिपादन में समन्वयता का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र है–'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'। इस सूत्र तथा आचार्य शंकरकृत् शारीरकभाष्य के अनुसार इसका तात्पर्य है कि साधनचतुष्टयसम्पत्ति (विवेक, वैराग्य, शमादिषटक तथा मुमुक्षुत्व) के अनन्तर कर्मफल की अनित्यता एवं ज्ञानफल मोक्ष की नित्यता को जानकर मुमुक्षु को ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। इस अर्थ को आचार्य सेमवाल ने अत्यन्त सरल कारिका में निबद्ध किया है–

प्राक्संस्कारवशाद् यद् वा नित्यादीनां निषेवणात्।
नितान्तनिर्मलस्वान्तो ब्रह्म जिज्ञासते बुधः।।[4]

आचार्य की इस कारिका से न केवल सूत्र का अर्थ सरलता से स्पष्ट हो जाता है अपितु यह अतिरिक्त अर्थ भी ज्ञात हो जाता है कि ब्रह्मजिज्ञासा हेतु साधक का चित्त निर्मल होना चाहिए जिसके लिए उसे नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना आदि शास्त्रविहित कर्मों का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार यह कारिका अधिकारी के स्वरूप का उद्घाटन करते हुए–'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र के सारांश को सम्यक्तया अभिव्यक्त कर देती है जो आचार्य के अद्भुत वैदुष्य का परिचायक है।

इसी प्रकार द्वितीय ब्रह्मसूत्र है–'**जन्माद्यस्य यतः**' जिसका तात्पर्य है कि इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। यह सूत्र ब्रह्म के तटस्थ लक्षण को प्रदर्शित करता है जिसका आधार तैत्तिरीय उपनिषद् का यह वाक्य है–'**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म**'।[5] इस सूत्रार्थ को आचार्य सेमवाल ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–

उत्पत्तिस्थितिसंहाराः कृत्स्नस्य जगतो यतः।
तदेव ब्रह्म जानीयाच्छ्रुतिप्रामाण्यतो बुधः।।[6]

'**शास्त्रयोनित्वात्**' सूत्र का तात्पर्य है कि ब्रह्म ऋग्वेद आदि शास्त्रों का योनि (कारण) है। आचार्य शंकर ने इस सूत्र का एक और व्याख्यान प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार ब्रह्म केवल ऋग्वेद आदि शास्त्रों से गम्य होने के कारण किसी अन्य प्रमाण से वेद्य नहीं है। आचार्य सेमवाल की एतद्विषयक कारिका है –

उपादानं निमित्तञ्चेत्युभयं हि समन्वयात्।
तदेव कारणं वेत्ति नापरं जगतो बुधः।।[7]

इस कारिका में आचार्य ने न केवल सूत्रार्थ एवं भाष्यार्थ को समाहित किया है अपितु वेदान्त के एक विशिष्ट सिद्धान्त का भी ख्यापन किया है जो कि सूत्र एवं शांकरभाष्य में अकथित है। यह सिद्धान्त है–ब्रह्म की अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता। अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म को जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण माना जाता है। आचार्य सेमवाल ने उपरोक्त कारिका में इस तथ्य का निरूपण करते हुए 'समन्वयात्' पद के प्रयोग से ब्रह्म की जगत्कारणता एवं ऋग्वेदादि शास्त्रकारणता को एकत्र निबद्ध कर दिया है जो कि आचार्य की वेदान्त में अप्रतिहत गति एवं शास्त्रनैपुण्य का सुन्दर निदर्शन है।

'**अविरोधाध्याय**' नामक द्वितीय अध्याय में सांख्य, योग, काणादादि स्मृतियों और सांख्य आदि द्वारा प्रयुक्त तर्कों से वेदान्त समन्वय पर किए गये विरोधों का परिहार किया गया है। इस अध्याय के प्रथम सूत्र पर कारिका की रचना से पूर्व आचार्य सेमवाल ने प्रथम अध्याय की विषयवस्तु का संक्षेप में निरूपण किया है जिससे पाठक को प्रथम अध्याय का मूल विचार ज्ञात हो जाता है एवं वह द्वितीय अध्याय की विषयवस्तु से उसकी संगति का ग्रहण कर लेता है। शास्त्रों में इसे ही '**अध्यायसंगति**' कहा जाता है। आचार्य सेमवाल इस शास्त्रीय व्यवस्था का अनुपालन करते हुए कारिका की रचना करते हैं–

जगतोऽस्याखिलस्यापि ब्रह्मण्येवास्ति हेतुता।
इति समन्वयाध्याये प्रथमे प्रतिपादितम्।।[8]

आचार्य सेमवाल ने द्वितीय अध्याय की सम्पूर्ण विषयवस्तु को एक अत्यन्त मंजुल कारिका में निबद्ध कर दिया है–

श्रुतीनामत्र वैमत्यं विद्यते न मनागपि।
अविरोधाभिधेऽध्याये द्वितीयेऽथ निरूप्यते।।[9]

इस कारिका द्वारा आचार्य ने एक नवीन एवं मौलिक उद्भावना प्रस्तुत की है। उन्होंने अध्याय की सम्पूर्ण विषयवस्तु का सारांश अध्याय के व्याख्यान से पूर्व ही प्रस्तुत कर दिया है जिससे पाठक को विषय की आधारभूत भूमिका ज्ञात हो जाती है और उसका मानस सिद्धान्तों के अवबोध हेतु दत्तचित्त हो जाता है। आचार्य सेमवाल की यह पद्धति सर्वथा स्तुत्य है।

आचार्य सेमवाल क्लिष्ट सूत्रों का व्याख्यान इतनी सरल कारिकाओं में करते हैं कि सूत्र एवं भाष्य की अपेक्षा कारिका से अर्थ का बोध अधिक सुकरता से हो जाता है।

इस सन्दर्भ में द्वितीय अध्याय के प्रथम अध्याय का प्रथम सूत्र **'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश-दोषप्रसंगात्'**[10] द्रष्टव्य है जिसका सूत्रार्थ एवं शांकरभाष्यार्थ है कि यदि सांख्यदर्शन यह कहे कि समस्त वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय स्वीकार करने पर सांख्यस्मृति अनवकाश (व्यर्थ) हो जायेगी, अतः सांख्यस्मृति द्वारा समर्थित प्रधानकारणवाद को स्वीकार करना चाहिए तो उनके प्रति वेदान्त का उत्तर है कि सांख्यस्मृति को प्रमाण मानने पर यही दोष मनु आदि ईश्वरकारणवादी स्मृतियों पर भी प्रसक्त होगा। इस विस्तृत एवं गम्भीर अर्थ को आचार्य ने अत्यन्त सरल कारिका में प्रस्तुत किया है जिसका पाठ करते ही सम्पूर्ण अर्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है–

ब्रह्मण एव हेतुत्वे व्यर्था सांख्यस्मृतिर्भवेत्।
इति ब्रवीति यो विद्वान् तस्यान्या स्मृतिरन्यथा।।[11]

तृतीय अध्याय 'साधनाध्याय' के प्रारम्भ में भी आचार्य ने 'अध्यायसंगति'[12] तथा 'अध्यायसारनिरूपण'[13] पद्धति का कुशलता से अवलम्बन लिया है। इस अध्याय में सूत्रकार ने ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनों का निरूपण किया गया है जिसमें श्रुतियों को प्रमाण स्वीकार किया गया है। यद्यपि सूत्रकार ने श्रुति का शब्दतः उल्लेख नहीं किया है किन्तु आचार्य सेमवाल ने ऐसे सूत्रों की कारिकाओं में उन श्रुतियों का स्पष्ट सन्दर्भ निरूपित कर दिया है। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है–**'प्राणगतेश्च'**[14] सूत्र का तात्पर्य है कि जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करता है और उसकी यह गति प्राणों के साथ होती है। यह सिद्धान्त प्रश्नोपनिषद् में निरूपित किया गया है जो आचार्य सेमवाल विरचित कारिका में स्पष्टता से अभिव्यक्त हुआ है–

प्रश्नोपनिषदि प्रोक्ता सह प्राणैर्गतिश्च सा।
अतोऽपि सम्परिष्वक्तो जीवात्मैतीति सिद्धयति।।[15]

ब्रह्मसूत्र के कर्तृत्व का विषय अत्यन्त विवादग्रस्त है। इस सन्दर्भ में विद्वानों में तीन मत प्रचलित हैं। प्रथम मत के अनुसार ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता महर्षि वेदव्यास हैं, द्वितीय मत महर्षि बादरायण को इसका कर्त्ता मानता है जबकि तृतीय मत के अनुसार व्यास एवं बादरायण परस्पर अभिन्न हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य सेमवाल महर्षि बादरायण को ब्रह्मसूत्र का कर्त्ता स्वीकार करते हैं जिसे उन्होंने चतुर्थ अध्याय की एक कारिका में दृढ़ता से निबद्ध किया है तथा 'भगवान्' पद के प्रयोग द्वारा सूत्रकार के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता भी व्यक्त की है–

इत्यत्र सूत्रकृत् ब्रूते भगवान् बादरायणः।
तथोपदेशसामर्थ्याद् विद्ययावृत्तिं फलप्रदाम्।।[16]

आचार्य सेमवाल ने सूत्रार्थ तथा भाष्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए लौकिक दृष्टान्तों का भी कारिकाओं में निबद्धन किया है जिससे सूत्रों का तात्पर्य सूर्यप्रभावत् प्रकाशित हो उठता है । यथा–'फलाध्याय' में ब्रह्मविद्या से प्राप्त होने वाले फलों का निरूपण करते हुए **'अविभागो वचनात्'**[17] इस सूत्र में कहा गया है कि मोक्षदशा में विदितात्मा पुरुष का ब्रह्म से अविभाग हो जाता है। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए आचार्य सेमवाल नदी के जल के समुद्र में विलय को दृष्टान्त रूप से उपस्थापित करते हैं जिससे सूत्र का अर्थ पाठक को तुरन्त स्पष्ट हो जाता है –

अब्धौ नदीजलस्येव पुरुषस्य विपश्चितः।
तस्य ब्रह्मणि लीनस्य सोऽविभागः प्रकीर्त्यते।।[18]

निष्कर्षतः आचार्य सेमवाल प्रणीत 'वेदान्तकारिका' ब्रह्मसूत्र के भावार्थ एवं तात्पर्यार्थ को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है । आचार्य द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ में में दुरूह सिद्धान्तों को भी अत्यन्त सरल कारिकाओं में निबद्ध किया गया है जिसके कारण वेदान्त दर्शन से अपरिचित कोई सामान्य पाठक भी इस ग्रन्थ के पारायण से ब्रह्मसूत्रों के मूलभाव को सहजता से अधिगमित कर सकता है। वेदान्तदर्शन की अध्ययन परम्परा में 'वेदान्तकारिका' एक अनुपम ग्रन्थ है जो वेदान्त के प्रत्येक अधिकारी जिज्ञासु के लिए नितान्त उपादेय एवं ग्राह्य है।

सहायक आचार्य,
संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। वेदान्तसार, 3
2. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन, भाग–2, पृ. 368
3. गीताभाष्य, 13.4
4. वेदान्तकारिका, 1.1.1

5. तैत्तिरीय उपनिषद्, 3.1
6. वेदान्तकारिका, 1.1.2
7. वेदान्तकारिका, 1.1.3
8. वेदान्तकारिका, 2.1.1
9. वही, 2.1.2
10. ब्रह्मसूत्र, 2.1.1
11. वेदान्तकारिका, 2.1.3
12. प्रथमाध्याययोः प्रोक्तं स्वरूपं ब्रह्मणस्तथा।
जीवात्मनः स्वरूपं च यथावच्छ्रुतिसम्मतम्।।
वेदान्तकारिका, 3.1.1
13. इदानीं साधनाध्याये तृतीयेऽस्मिन् महर्षिणा।
ब्रह्मणः प्राप्त्युपायार्थं वैराग्यादि निगद्यते।।
वही, 3.1.2
14. ब्रह्मसूत्र, 3.1.3
15. वेदान्तकारिका, 3.1.7
16. वही, 4.1.3
17. ब्रह्मसूत्र, 4.2.16
18. वेदान्तकारिका, 4.2.16

शोध-पत्र

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल विरचित विलासकाव्यों में पद, वाक्य एवं प्रबन्धार्थविषयक औचित्य

डॉ. गुलशन शर्मा

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में औचित्य को काव्य का प्राणतत्त्व मानते हुए औचित्य के 27 भेदों का निरूपण किया है। इन 27 भेदों में प्रथम तीन भेद पद, वाक्य और प्रबन्धार्थ विषयक औचित्य हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल विरचित विलासकाव्यों में इन तीन प्रकार के औचित्यों की समीक्षा की जाएगी।

पद-विषयक औचित्य

कवि द्वारा काव्य में उचित पदों के प्रयोग से पद के समष्टिरूप काव्य में भी स्वयमेव ही चारुता आ जाती है। वस्तुतः भारतीय परम्परा में भी पद की सार्थकता तथा औचित्य को अत्यधिक आवश्यक एवं उपयोगी माना गया है।[1] यही कारण है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने पदौचित्य को अपनी अनुक्रमणिका में प्रथम स्थान प्रदान किया है। पदौचित्य को परिभाषित करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र कहते हैं–

तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम्।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम्।।[2]

अर्थात् जिस प्रकार कोई चन्द्रमुखी गौरवर्णी कामिनी कस्तूरी द्वारा निर्मित श्याम तिलक से अथवा श्यामा नायिका श्रीखण्ड चन्दन द्वारा निर्मित गौरतिलक से सुशोभित होती है, उसी प्रकार तिलक के समान एक उचित पद से युक्त कवि की सूक्ति भी हृदय को रुचिकर लगती है। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि अपने कथ्य को सम्पूर्ण पद्य के माध्यम से प्रस्तुत करता है, परन्तु उसमें किसी एक पद की विशिष्टता रहती है तथा सम्पूर्ण पद्यगत सौन्दर्य उस पद में ही अन्तर्निहित होता है। अर्थात् पद के औचित्य के कारण ही इस पद्य का सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है तथा इसे ही पदौचित्य कहते हैं।

पदौचित्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य एवं अनौचित्य विषयक दोनों ही प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। पदौचित्य के उदाहरण के प्रसङ्ग में आचार्य क्षेमेन्द्र परिमल के पद्य को प्रस्तुत करते हैं–

मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खङ्गधाराकुले,
नाथास्मिन्निति वन्दिवाचि बहुशो देव श्रुतायां पुरा।
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ।।

प्रस्तुत प्रकरण में गुर्जरपाल की महिषी के लिए जो 'मुग्धा' पद का प्रयोग किया गया है, वह अत्यधिक औचित्यपूर्ण है। मुग्धा पद के द्वारा ही सम्पूर्ण पद्य सार्थक, सुसंगत एवं सहृदयाह्लादकारी हो जाता है। यदि यहाँ मुग्धा पद न रहता तो सम्पूर्ण पद्य असंगतार्थक होकर सहृदयों के उद्वेग का कारण बन जाता, क्योंकि तलवार की धारा में जल की आशा करना उपहासास्पद है। परन्तु मुग्धा के लिए ऐसा करना नितान्त उचित है। अतः यहाँ पर पदौचित्य है।

पदानौचित्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र धर्मकीर्ति के पद्य को प्रस्तुत करते हैं –

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान्स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वधसा विनिहतस्तन्व्यास्तनुं तन्वता।।

प्रस्तुत पद्य में कवि द्वारा **'तन्व्याः'** पद का प्रयोग केवल शब्दानुप्रास की संगति के कारण किया गया है। इसके अतिरिक्त इसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है। वस्तुतः तन्व्या पद दुर्बलता का द्योतक है, इसलिए तन्व्याः

पद का प्रयोग किसी विरहणी के प्रसङ्ग में उचित हो सकता था। परन्तु यहाँ पर तो विरह का कोई भी प्रसङ्ग नहीं है। अतः यहाँ पर यदि तन्व्याः की जगह **'सुन्दर्याः'** शब्द का प्रयोग होता तो अत्यधिक समीचीन होता।

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल द्वारा विरचित विलासकाव्यों में अनेक स्थलों पर पदौचित्य का अद्भुत सन्निवेश दिखाई पड़ता है। यथा–

अद्यापि वर्णनकलाकुशलैः कवीन्द्रः सौन्दर्यमम्ब!
तदवर्णितमेव तेऽस्ति।
त्वां योऽपि चिन्तयति कोऽपि यतस्तदर्थं
तस्यैव जायत इहात्मगतः समाधिः॥[3]

यहाँ पर सम्पूर्ण पद्य का औचित्य **'समाधिः'** पद के कारण हैं। क्योंकि माँ भगवती का वर्णन करने में सभी की असमर्थता की सिद्धि इसी पद के कारण हो रही है। अर्थात् जो भी व्यक्ति माँ भगवती का वर्णन करने के लिए चिन्तन करता है वह आत्मगत समाधि को प्राप्त हो जाता है तथा समाधि में वर्णन का अभाव[4] होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार यहां पर वर्णन करने में असमर्थता का मूल कारण समाधि पद है। अतः यहाँ पदौचित्य है। इसके अतिरिक्त–

जननं तव दुग्धसागरात् सुधया सार्धमभूत्सुधाकर।
वितनोषि सुधाञ्च सन्ततं त्वमिहेति प्रवदन्ति वेदिनः॥[5]

यहाँ पर चन्द्रमा के लिए प्रयुक्त सुधाकर पद के कारण ही सम्पूर्ण पद्य में औचित्य एवं चमत्कार है। क्योंकि चन्द्रमा की क्षीरसागर से उत्पत्ति एवं निरन्तर अमृत का प्रसार करना इत्यादि तथ्य सुधाकर पद के कारण ही सिद्ध होते हैं। अतः यहाँ पदविषयक औचित्य है।

इसके अतिरिक्त–

आवृताप्यम्बरे वारिदैः सर्वतः शोभते सा
यथा शीतरश्मेः कला।

प्रस्तुत पद्य में कवि आकाश, चन्द्र, शिव इत्यादि अलौकिक वस्तुओं का वर्णन कर रहा है तथा इसी प्रसङ्ग में उन्होंने गंगा के लिए जाह्नवी पद का प्रयोग किया है, जो कि अद्भुत पदौचित्य को प्रकट कर रहा है। भगवान शिव एक दिव्य पुरुष हैं तथा उनके द्वारा धारण की हुई वस्तु भी अलौकिक ही होनी चाहिए तथा जाह्नवी पद के द्वारा यहाँ गंगा की अलौकिक उत्पत्ति का अवबोध हो रहा है। वस्तुतः गंगा की उत्पत्ति स्वर्गलोक से मानी जाती है। रामायण की एक कथा के अनुसार जब गंगा भागीरथ का अनुसरण कर रही थी, उस समय पृथ्वी पर जह्नु ऋषि अपने आश्रम में अनुष्ठान कर रहे थे। गंगा के मार्ग में स्थित होने के कारण यह आश्रम भी गंगा के प्रवाह में प्रवाहित हो गया। तब ऋषि ने क्रोधित होकर गंगा के सम्पूर्ण जल को पी लिया। इससे सभी देवता, गन्धर्व एवं ऋषि विस्मित होकर जह्नु की स्तुति करने लगे तथा उन्होंने ऋषि को आश्वासन दिलाया कि यदि आप गंगा को पुनः प्रकट कर देते हैं तो गंगा भविष्य में उनकी पुत्री के समान मानी जाएगी। तभी से गंगा जाह्नवी नाम से भी जानी जाती है।[6] इस प्रकार यहां पर आकाश, चन्द्रकला, शिव एवं गंगा के मध्य साधर्म्य स्थापित करने के प्रसङ्ग में कवि द्वारा **जाह्नवी** पद का प्रयोग परमौचित्य कारक है। अतः यहाँ पदविषयक औचित्य है। इसके अतिरिक्त–

तव गुणानुकथाकथने विभो!
द्रुहिणविष्णुमहेशपुरः सराः।
सुरगणा अपि नो प्रभवन्ति चेत्
कथय कोऽस्ति समर्थ इहापरः॥[7]

यहाँ पर सूर्य के लिए प्रयुक्त विभो पद अत्यन्त सार्थक है। क्योंकि कवि यहाँ पर ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश द्वारा सूर्य के गुणों के वर्णन में अक्षमता प्रकट करता है तथा विभु पद का सामान्य अर्थ है व्यापक। जो वस्तु व्यापक होती है उसके गुणों का वर्णन करना भी क्लिष्ट प्रतीत होता है। अतः यहाँ पर विभो शब्द के समुचित प्रयोग के कारण पदौचित्य की सृष्टि हो रही है।

वाक्य-विषयक औचित्य

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचारचर्चा में पदौचित्य के बाद वाक्यौचित्य को स्थान दिया है। पद के बाद वाक्य ही भाषा की सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई है। इसलिए आचार्य क्षेमेन्द्र वाक्यगत औचित्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं–

औचित्यरचितं वाक्यं सततं संमतं सताम्।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्जवलमिव श्रुतम्॥[8]

अर्थात् जिस प्रकार त्याग के कारण उदार ऐश्वर्य एवं सदाचार के कारण विद्या सहृदयों के लिए सदा अभीष्ट होती है, उसी प्रकार औचित्यपूर्ण वाक्य भी काव्य मर्मज्ञों के लिए अभीष्टतम होता है। इस औचित्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र अपनी ही कृति विनयवल्ली का एक पद्य प्रस्तुत करते हैं–

देवो दयावान्विजयो जितात्मा यमौ मनः संयममाननीयौ
इति ब्रूवाणः स्वभुजं प्रमार्ष्टि य
कीचकाकालिककालदण्डम्।

धीरः स किर्मीरजटासुरारिः कुबेरशौर्यप्रशमोपदेष्टा
दृष्टो हिडिम्बादयितः कुरूणां पर्यन्तरेखागणनाकृतान्तः॥

यहाँ भीमसेन की प्रकृति के अनुरूप जो **'कीचका-कालिककालदण्डम्'** एवं **'हिडिम्बादयित'** आदि जो विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं उनके द्वारा उत्कृष्ट रौद्र रस की अभिव्यक्ति में सम्पूर्ण वाक्यार्थ सजीव हो उठा है। अतः यहाँ वाक्यौचित्य है।

इसी के अनौचित्य के प्रसङ्ग में आचार्य क्षेमेन्द्र राजशेखर के पद्य को प्रस्तुत करते हैं-

नाले शौर्यमहोत्पलस्य विपुले सेतौ समिद्वारिधेः
शश्वत्खड्गभुजङ्गचन्दनतरौ क्रीडोपधाने श्रियः।
आलाने जयकुञ्जरस्य सुदृशां कन्दर्पदर्पे परं
श्रीदुर्योधनदोष्णि विक्रमपरे लीनं जगन्नन्दतु॥

प्रस्तुत पद्य में दुर्योधन की पराक्रमी भुजा के साथ नालदण्ड, विशाल सेतु, चन्दन वृक्ष, क्रीडोपधान आदि के साथ अभेद आरोप किया गया है। यहाँ भुजा के समस्त आरोप उसके पराक्रम की वृद्धि को प्रकट करने वाले हैं। परन्तु **'नाले शौर्यमहोत्पलस्य'** अर्थात् शूरतारूपी कमलिनी के लिए नालदण्ड विशेषण सर्वदा अनुचित है, क्योंकि नालदण्ड स्वभावतः अत्यधिक कोमल होता है। अतः पराक्रमी भुजा के साथ नालदण्ड को आरोपित कर देने से सम्पूर्ण वाक्यार्थ उपहासास्पद सा प्रतीत होता है जिससे सम्पूर्ण वाक्य का सौन्दर्य नष्ट हो गया है। अतः यहाँ वाक्यानौचित्य है।

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल विरचित विलासकाव्यों में वाक्यौचित्य का अद्भुत सन्निवेश हुआ है। इसी बात को और भी स्पष्ट करने के लिए विलासकाव्यों के कतिपय पद्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यथा-

व्याघ्रचर्माम्बरः सर्पमालाधरो धूर्जटिश्चन्द्रमौलिः
स गङ्गाधरः।
वादयन् यस्तु ढक्कां स्वयं नृत्यति पातु
नस्तस्य देवस्य कापि प्रभा॥[9]

यहाँ पर कवि के द्वारा शिव के लिए **व्याघ्रचर्माम्बरः, सर्पमालाधरो, धूर्जटिश्चन्द्रमौलिः, गंगाधरः** इत्यादि पद प्रयुक्त किए गए हैं, जिससे सम्पूर्ण वाक्यार्थ ही औचित्यपूर्ण हो गया है तथा वाक्य में प्रयुक्त समस्त पद शिव की परोपकारिता को भी प्रदर्शित कर रहे हैं। अतः यहाँ पर वाक्यौचित्य है। इसके अतिरिक्त-

आपदां हारिणी सम्पदां कारिणी
देवसंरक्षिणी दैत्यविद्वेषिणी।
दुःखदारिद्र्यदैन्यादिकच्छेदिनी हृत्तमः
संहरेदद्रिजायाः प्रभा॥[10]

यहाँ पर माँ पार्वती की प्रभा के लिए **आपदां हारिणी, सम्पदां कारिणी, देवसंरक्षिणी, दैत्यविद्वेषिणी** इत्यादि विशेषण पदों का प्रयोग किया गया है। ये सभी विशेषण पद साभिप्राय हैं एवं परस्पर मिलकर सम्पूर्ण वाक्यार्थ को चमत्कृत कर रहे हैं। अतः यहाँ वाक्यौचित्य की सृष्टि हो रही है। इसके अतिरिक्त-

जेतुं समाधिस्थमजेयमीशं विनिर्मितं पुष्पशरेण पौष्पम्।
वनं रतेरश्रुतिषारराशिं न मुञ्चतीदं दिवसोदयेऽपि॥[11]

यहाँ सूर्योदयकालीन फूलों पर विद्यमान ओंसकणों में कामपत्नी रति के अश्रुकणों का आरोप किया गया है, जिसके सम्पूर्ण वाक्यार्थ में ही औचित्य की सृष्टि हो रही है। इसके साथ ही यहाँ अधिकांश पद विशिष्टता को धारण किए हुए हैं। अतः यहां वाक्यौचित्य है। इसके अतिरिक्त-

स्निग्धेक्षणं स्मितमनोज्ञमदृष्टपूर्वं स्वप्ने
विलोकितमनेकमनोजकान्तिम।
अन्वेष्टुमिच्छिति वृथाप्यपरा युवानमाकाशपुष्पमिव
चारुमुखी तु काचित्॥[12]

यहाँ पर पद्य में प्रयुक्त **स्निग्धेक्षणं, स्मितमनोज्ञमदृष्टपूर्व** इत्यादि विशेषण पद युवति के अभिलाष श्रृंगार के उद्दीपक है। जिसके कारण अभिलाष श्रृंगार की अभिव्यक्ति से सम्पूर्ण वाक्यार्थ सजीव एवं चमत्कृत हो गया है। अतः यहाँ वाक्यौचित्य है।

प्रबन्धार्थौचित्य

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार समुचित अर्थ विशेष से युक्त होने पर प्रबन्ध अर्थात् काव्य का अर्थ उसी प्रकार प्रकाशित होता है जिस प्रकार दया दाक्षिण्यादि गुणों से सज्जन प्रकाशित होते हैं, यथा-

उचितार्थविशेषेण प्रबन्धार्थः प्रकाशते।
गुणप्रभावभव्येन विभवेनेव सज्जनः॥[13]

इस प्रकार समुचित अर्थो के द्वारा समस्त प्रबन्धार्थ को पूरित कर देना ही प्रबन्धार्थौचित्य है। इस औचित्य के रहने पर ही काव्य अपने समस्त प्रबन्धार्थ व्यापि अर्थ को सामाजिकों के हृदय तक सम्प्रेषित कर पाता है, अन्यथा नहीं। प्रबन्धार्थौचित्य को ओर भी स्पष्ट करने के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र उदाहरण के रूप में महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध गीतिकाव्य मेघदूत के पद्य को प्रस्तुत करते हैं।

यथा–

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं विधिपरवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।।

प्रस्तुत पद्य में जिस प्रकार अचेतन मेघ में चेतनत्व का आरोप कर उसे पुष्पक एवं आवर्तक नामक मेघों का वंशज तथा देवराज इन्द्र का प्रधानमन्त्री बतलाया गया है। उससे मेघ में दौत्य योग्यता का संचार हो गया है। फलस्वरूप समस्त प्रबन्ध में अद्भुत रुचिरता का सन्धान हो गया है। अतः यहाँ प्रबन्धार्थौचित्य है।

प्रबन्धार्थानौचित्य के स्पष्टीकरण के लिए भी आचार्य क्षेमेन्द्र ने कालिदास विरचित कुमारसम्भव महाकाव्य के पद्य को प्रस्तुत किया हैं। यथा–

ऊरूमूलनखमार्गपङ्क्तिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत्।।

यहाँ पर कवि द्वारा पार्वती–परमेश्वर के संभोग का वर्णन किया है। यह वर्णन इतना निकृष्ट कोटि का है जो निश्चय ही सहृदयों में वितृष्णा उत्पन्न कर देता है। अतः यहाँ पर प्रबन्धार्थ विषयक अनौचित्य है।

आचार्य जगदीशप्रसाद सेमवाल विरचित विलासकाव्यों में प्रबन्धार्थौचित्य के उदाहरण भी मिलते है। यथा–

ललितशशिविलासः किञ्चिदुक्तो मयासौ मदयतु
रसिकानां शुद्धचेतांसि नित्यम्।
लघुरपि नवचन्द्रो वर्धयत्येव मोदं विमलनभसि
किञ्चित्पश्यतां सज्जनानाम्।।[14]

प्रस्तुत पद्य में कवि ने इन्दुविलास को सहृदय काव्यरसिकों को प्रसन्नता प्रदान करने वाला कहा है। जिससे इन्दुविलास के सम्पूर्ण कथन का औचित्य सिद्ध हो जाता है। अर्थात् भले ही कवि का यह काव्य लघु हो परन्तु जिस प्रकार छोटा होते हुए भी नवीन चन्द्रमा की किरणें सज्जनों के आनन्द को बढ़ाती हैं उसी प्रकार कवि का यह छोटा इन्दुविलास भी काव्यरसिकों के आनन्द अथवा प्रसन्नता में वृद्धि करेगा। इस प्रकार यहाँ कवि की उक्ति से स्वतः ही इन्दुविलास प्रबन्ध का औचित्य लक्षित हो रहा है। अतः यहाँ प्रबन्धार्थ विषयक औचित्य है। इसके अतिरिक्त–

अयमुदयविलासश्चित्रभानोर्मयोक्तो हरतु
निखिलदैन्यं पापराशीस्तथैव।
अपनयतु तमो यद् बाह्यमाभ्यन्तरं वा भवतु
कृतिपराणां सर्वभोग्योदयाय।[15]

प्रस्तुत पद्य में कवि ने 'भानूदयविलास' को सम्पूर्ण दीनता और पापराशियों को दूर करने वाला एवं सभी प्रकार के अज्ञान को नष्ट करने वाला बतलाकर सम्पूर्ण प्रबन्ध के औचित्य को स्वतः ही प्रकट कर दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर सम्पूर्ण संसार में व्याप्त अन्धकार एवं पाप नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार भानूदय विलास को पढ़ने से काव्यरसिकों के सम्पूर्ण अज्ञानरूपी अन्धकार दूर हो जाएँ । अतः यहाँ पर भी प्रबन्धार्थ विषयक औचित्य है।

निष्कर्ष–

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल ने अपने विलासकाव्यों में पद, वाक्य एवं प्रबन्धार्थ विषयक औचित्यों का उचित निर्वाह किया है, जिसके फलस्वरूप विलासकाव्यों में पद, वाक्य एवं प्रबन्धार्थगत औचित्य के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

प्रवक्ता संस्कृत
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय
नूरपुर, कांगड़ा, हिमाचल प्रदेश

सन्दर्भ सूची

1. एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गलोके कामधुग् भवति। म.भा., पृ. 54
2. औ. वि. च., 11
3. शै. वि., 76
4. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। यो.सू.,3.3
5. इ.वि., 03
6. औचित्य सिद्धान्त एवं किरातार्जुनीयम्, डॉ. वेदप्रकाश डिंडोरिया, पृ. 152
7. भा. वि., 50
8. औ. वि. च., 12
9. प्र. वि., 12
10. प्र. वि., 16
11. हि. वि., 64
12. व. वि., 63
13. औ. वि. च., 13
14. इ. वि., 102
15. भा. वि., 102

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल के विलास-काव्यों में वर्णित ध्वनि-तत्त्व

डॉ. हरेन्द्र नरियाल

संस्कृत साहित्य के सर्वमान्य छह सिद्धान्तों में ध्वनि-सिद्धान्त अन्यतम है। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन हैं, जिन्होंने ध्वन्यालोक नामक अपने ग्रन्थ में ध्वनि-तत्त्व की विस्तारपूर्वक विवेचना प्रस्तुत की है। जगदीश प्रसाद सेमवाल कृत विलास-काव्यों में ध्वनि-तत्त्व अनेक स्थलों में दृष्टिगोचर होते हैं। उक्त शोध-पत्र का विषयक्षेत्र केवल ध्वनि के अविवक्षितवाच्यध्वनि (लक्षणामूला) के दो भेदों तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (अभिधामूला-वाच्यध्वनि) के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के रसादि भेदों का जगदीश प्रसाद सेमवाल के विलास-काव्यों में उद्धृत ध्वनितत्वों का ही विवेचन करना है। अतः जगदीश प्रसाद सेमवाल कृत विलास-काव्यों में उद्धृत ध्वनिविषयक चिन्तन का प्रतिपादन प्रस्तुत है। आचार्य आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम ध्वनि के दो भेद स्वीकार किये हैं। आचार्य सेमवाल कृत विलासों-काव्यों में अनेक स्थलों में उक्त दोनों भेदों के उदाहरण दृष्टिगत होते हैं-

अविवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् लक्षणामूलध्वनि काव्य वहाँ होता है जहाँ वाच्यार्थ अविवक्षित होता है और लक्षणामूल व्यङ्ग्य की प्रधानता होती है, अर्थात् यह लक्ष्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण हुआ करता है।[1] अविवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् लक्षणामूलध्वनि के दो मुख्य भेद होते हैं[2] -

- अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि
- अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि

अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्यध्वनि काव्य वहाँ होता है, जहाँ व्यञ्जक रूप में आने वाला वाच्यार्थ अपने स्वरूप में (प्रकरण की दृष्टि से) अनुपयुक्त हो जाता है तथा अपने से भिन्न किसी अर्थ में (अर्थान्तरे) परिणत हो जाता है। इसी क्रम में आचार्य सेमवाल विरचित स्वतन्त्रभारतविलास का यह काव्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का ही द्योतन कर रहा है-

स्वतन्त्रे भारते मित्र द्विजिह्वा भोगिलोकतः।
महीतले समागत्य विचरन्ति यथासुखम्।।[3]

पुराणों में पाताल लोक को अनेक प्रकार के सर्पों और राक्षसों का निवास स्थान बताया गया है, जो पृथ्वी के प्राणियों के लिए कष्टदायक है। कवि का कहना है कि वे दो जीभ वाले सर्प पाताल से अब स्वतन्त्र-भारत में पृथ्वी पर आ गये हैं। यहाँ पाताल से सर्पों का पृथ्वी पर आना सम्भव नहीं है और न ही उनका सूखपूर्वक विचरण करना सम्भव है क्योंकि सर्प भीरु प्राणी है। अतः ''स्वतन्त्र-भारते'' यह शब्द ''द्विजिह्वा'' पद को विश्लेषित करता है। तब ''द्विजिह्वा'' पद अपना सर्प रूप अर्थ को छोड़कर धूर्त और चाटुकार व्यक्तियों के अर्थ में परिणत हो जाता है। इस प्रकार पद्य का निहितार्थ यह होगा कि स्वतन्त्र भारत में वे ही लोग सूखपूर्वक रह रहे हैं, जिनकी कथनी और करनी में भेद है। जो चाटुकार है और सरल व्यक्ति को वञ्चित कर रहे हैं। ''द्विजिह्वा'' पद के अर्थान्तर में संक्रमित होने से यह अविवक्षितवाच्यमूलक अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण है। इसी क्रम में वसन्तविलास का यह उदाहरण भी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि को ही द्योतित कर रहा है। यथा -

दैवज्ञ पश्य यदि पश्यसि पाणिरेखां
भाग्यं प्रगल्भ! वद तन्नवयौवनायाः।
किं किं भविष्यति ममापि मधौ विशेषं

यस्माद् गृहे सुमुख सम्प्रति कोऽपि नास्ति।।[4]

कोई युवती घर में अकेली है, तभी वहाँ कोई ज्योतिषी पहुँच जाता है। जिससे वह अपना हाथ दिखाकर भाग्य बताने के लिए कह रही है। वह कामासक्त है यह ''मधौ मम किं विशेषं भविष्यति'' इस वाक्य से द्योतित हो रहा है। ''नवयौवनाया: भाग्यं वद''। ''मधौ मम किं विशेषं भविष्यति''। यहाँ तक यह वाक्य निराकांक्ष होता हुआ भी पूर्ण हो रहा है। किन्तु अन्तिम चरण में ''मम गृहे कोऽपि नास्ति'' यह वाक्य साकांक्ष ही रहता है। जिससे उसका प्रकृत वाक्य के साथ अन्वयाभाव होता है। अनन्वित होने से वह वाक्य उस कामिनी के सुरतौत्सुक्यरूप अभिलाष अर्थ को व्यक्त करता है। व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान हो जाने से साकांक्ष वाक्य का अर्थ निष्क्रिय सा होता हुआ प्रतीत होता है। साकांक्ष वाक्य का प्रकृत अर्थ में अनन्वित होने से और व्यङ्ग्यार्थ को प्रधानतया व्यक्त करने से यह अविवक्षित-वाच्यमूलक अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण है। अत: इसी क्रम में अविवक्षितवाच्यमूलक अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनि के पश्चात् अविवक्षितवाच्यध्वनि के दूसरे भेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि को प्रस्तुत किया जा रहा है-

अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्यध्वनि काव्य (लक्षणामूलध्वनि) वहाँ होता है, जहाँ व्यञ्जक रूप में आने वाला वाच्यार्थ (प्रकरण की दृष्टि से) अपने स्वरूप से अनुपयुक्त हो जाता है तथा अपने अर्थ का सर्वथा त्याग करके अन्यार्थ का लक्षक मात्र हो जाता है।[5] स्वतन्त्रभारत-विलास का उक्त पद्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि को ही निर्देशित कर कहा है। यथा-

स्वतन्त्रे भारते मित्र पाशं प्रक्षिप्य धीवरः।
वराकान् हन्ति मत्स्याँश्च मकरं न कदाचन।।[6]

इस पद्य में धीवर द्वारा मत्स्यग्रहण का कथन सामान्य व्यवहार है, किन्तु कवि को वह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। अत: ''धीवर'' शब्द ''शासन व्यवस्था'' अर्थ में परिणत होता है। उसी प्रकार ''पाश'' शब्द ''कानून'' अर्थ में, ''मत्स्य'' ''सामान्य अपराधी'' तथा ''मकर'' शब्द ''दुर्दान्त अपराधी'' के अर्थ में परिणत होता है। यहाँ पर स्वतन्त्र-भारत शब्द व्यञ्जक शब्द है। स्वतन्त्र-भारत शब्द के योग से धीवरादि शब्द अपने अर्थ में अनन्वित होकर कालिक सम्बन्ध से शासनादि अर्थो का बोध कराते हैं। वाच्य के तिरस्कृत होने से यह अविवक्षितवाच्यध्वनि का अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनिरूप भेद होता है। वसन्तविलास का उक्त उदाहरण भी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिरूप को ही द्योतित कर रहा है-

अद्यापि ते कुटजपुष्परतिं विलोक्य
चेखिद्यते मधुप मे हृदयं विशेषम्।
तत्रैव तिष्ठ सुचिरं पिब वा कषायं
कालो वसन्त इति ते यदि नास्ति बोधः।।[7]

यहाँ पर प्रकृत का निषेध किया गया है अत: आक्षेपालङ्कार है। नायिका का हृदय विशेषरूप से खिन्न हो रहा है, इससे नायिका की भ्रमर द्वारा अन्योक्ति भी सिद्ध हो रही है। वह भ्रमर के माध्यम से नायक को सम्बोधित करना चाहती है कि अब तक तुम अन्य नायिकाओं के प्रति आसक्त थे, किन्तु अब मैं आ गयी हूँ। अत: मेरे होते हुए तुम अन्य के प्रति आसक्त हो यह खेद का विषय है, यह व्यङ्ग्यार्थ है। यह व्यङ्ग्य ''हृदयं विशेषं चेखिद्यते'' पद से व्यक्त होता है, जिससे भ्रमर पद अपना अर्थ छोड़कर नायक के अर्थ में परिणत हो जाता है। अत: यह अविवक्षितवाच्यध्वनि का अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यध्वनि का उदाहरण है।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि अर्थात् अभिधामूलध्वनि वहाँ होती है, जिस ध्वनि में (यत्र) वाच्यार्थ अपने स्वरूप से अन्वययोग्य होता हुआ (विवक्षित) भी (च) अन्यपर अर्थात् व्यङ्ग्यार्थपरक (व्यङ्ग्यनिष्ठ) होता है। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेद से वह दो प्रकार की होती है।[8]

- असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि
- संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि काव्य में व्यञ्जक (वाच्यार्थ) और व्यङ्ग्यार्थ का क्रम परिलक्षित नहीं होता है। वहाँ पर रसादि ही व्यङ्ग्य होते हैं और उनके व्यञ्जक विभावादि होते हैं। विभावादि के द्वारा रसाभिव्यक्ति होती है, अत: वे हेतुरूप हैं। वहाँ हेतु (इति) का क्रम तो है, परन्तु वह शीघ्रता के कारण परिलक्षित नहीं होता है।[9] वह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि रस (शृङ्गारादि), भाव (रति आदि), रसाभास, भावाभास, भावशान्ति (व्यभिचारी आदि भावों की शान्ति) भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता ये आठ प्रकार है।

रस ध्वनि -

रस को काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में सभी काव्यशास्त्री स्वीकार करते हैं। ध्वनिकाव्य में भी रस की

ही भूमिका महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि रस की अभिव्यक्ति ही ध्वनिकाव्य को प्रकट करने में सहायक होती है। आचार्य मम्मट रस के स्वरूप को विवेचित करते हुए कहते हैं कि लोक में रति आदि स्थायी भाव जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्य में प्रयुक्त होते हैं, तो क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और उन विभाव (आलम्बन या उद्दीपन) आदि (रूप कारण, कार्य तथा सहकारियों के योग) से व्यक्त वह (रति आदि रूप) स्थायि भाव रस कहलाता है।[10] अतः काव्य में जब रस की अभिव्यक्ति उत्कृष्ट रूप में होती है तो वहीं रसध्वनि होती है। वसन्तविलास का यह काव्य भी विप्रलम्भ शृङ्गार रस रूप रसध्वनि को ही प्रकट कर रहा है। यथा–

काचिद्वियोगकलुषा तु विलिख्य पत्रं
तत्रैव चम्पककलिं स्वपिधाय रम्याम्।
दूरे स्थिताय सुभगा हृदयेश्वराय
संप्राहिणोति मधुपुष्पसमागमेऽस्मिन्॥[11]

किसी नायिका का प्रेमी अथवा पति दूर देश में रहता है और वसन्त के समय में भी अपनी प्रिया के पास नहीं आया है। उसके विरह से आतुर नायिका उसे पत्र लिखती है और अपने प्रेम के उपहार स्वरूप पत्र में एक चम्पककली को रखकर भेज देती है। यह प्रवासहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार रस का उदाहरण है। नायक आलम्बन–विभाव है। वसन्त का समय उद्दीपन–विभाव है। पत्रलेखनादि अनुभाव हैं। प्रवासहेतुक विप्रलम्भजन्य उत्कण्ठादि व्यभिचारिभाव है। नायक के प्रति प्रकृष्ट रति होने से यह अभिधामूलक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का उदाहरण है। इसी क्रम में मेघविलास का यह उदाहरण भी रसादि ध्वनि को ही इंगित कर रहा है–

सा त्वम्बरे सुवदनाद्य मुमुक्षमाणा
विद्युन्महोग्रजलदाङ्कगतोन्मिषन्ती।
शोकेन चाश्रुपृषतानथ पातयन्ती
सीतेव रोदिति दशाननिग्रहार्ता॥[12]

यहाँ पर कवि ने विद्युत् की उपमा सीता से की है। जिस प्रकार रावण द्वारा गृहीत सीता करुण–विलाप करते हुए आंसुओं को गिरा रही है। उसी प्रकार यह सुमुखी विद्युत् मेघ के अङ्क में दबी हुई किसी प्रकार मुक्त होने की इच्छा वाली आंसुओं के रूप में अश्रुओं को गिरा रही है। शोक के स्थायिभाव होने के कारण यह करुण रस का उदाहरण है। विद्युत् का छूटने के लिए प्रयास करना आदि अनुभाव हैं। क्रन्दन हस्तक्षेपादि व्यभिचारिभाव हैं। शोक नामक स्थायिभाव के प्रधान होने से यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रसादिध्वनि) का उदाहरण है।

भावध्वनि –

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में भावध्वनि को परिभाषित करते हुए लिखा है कि देव आदि विषयक रति तथा प्रधानता से व्यञ्जित व्यभिचारि को भाव शब्द से कहा जाता है।[13] भाव शब्द कहने से सभी स्थायिभाव तथा व्यभिचारि आदि भावों का परिगणन हो जाता है। शैलपुत्रीविलास का यह काव्य भावध्वनि को ही निर्देशित कर रहा है। यथा–

लीलाविलास इति सृष्टिमिमां लयान्तां
यस्या वदन्ति मुनयः परदेवतायाः।
विक्रीडनानि च भवन्ति जगन्ति यस्या–
स्तस्या नमामि चरणौ ललिताम्बिकायाः॥[14]

प्रस्तुत काव्य में भगवती शैलपुत्री की स्तुति की गई है। शैलपुत्री आलम्बन–विभाव है, उसका लीलाविलास उद्दीपन–विभाव है, देवविषयक रति होने से यह भावध्वनि का उदाहरण है।

रसाभास –

रसाभास के विषय में आचार्य मम्मट लिखते हैं कि अनुचित रूप से प्रवृत्त होने वाले रस को रसाभास कहते हैं।[15] इसी सन्दर्भ में वसन्तविलास का यह पद्य रसाभास को स्पष्टतया परिलक्षित कर रहा है। यथा–

काचिन्निमील्य नयने सुरतप्रसङ्गे
स्वेष्टं स्वभर्त्तरि नरं ननु भावयन्ती।
संवर्ध्य चात्मनि ततः कुसुमेषुवेगम्
आस्वादयत्यतितरां स्मरकेलिसौख्यम्॥[16]

नायक और नायिका की रति शृङ्गार रस की स्थिति होती है। किन्तु नायिका की बहुनायक विषयक रति रस ना होकर रसाभास रूप मानी जाती है। इस पद्य में नायिका रमण तो नायक के साथ कर रही है, किन्तु स्मरण अन्य प्रेमी का कर रही है। अतः बहुनायक विषयक रति होने से यह रसाभास का उदाहरण है।

भावाभास –

आचार्य मम्मट के अनुसार अनुचित रूप से प्रवृत्त होने वाले भाव को भावाभास कहते हैं। वसन्तविलास का यह पद्य इसी ओर सङ्केत कर रहा है। यथा–

भिक्षां गृहाण सपदि व्रज चान्यगेह-
मित्थंविलोकयसि किं त्वमितीरयन्तीम्।
दण्डी ब्रवीत्यथ पिबन्निव चक्षुषैव
दोषो वसन्तसमयस्य न मेऽस्ति बाले!।।[17]

देव, गुरु अथवा सम्मानित व्यक्ति विषयक रति भाव कहलाती है, किन्तु यदि उनके ही विषय में रति का अनुचित रूप से वर्णन हो तो वह भावाभास कहलाता है। संन्यासी समाज में सम्मानित व्यक्ति होता है, उसे आश्रित बनाकर श्रृङ्गार रस का वर्णन किया जा रहा है जो अनुचित है। सामान्य व्यक्ति का किसी कन्या पर अनुरक्त होना सामान्य है, किन्तु संन्यासी की किसी पर अनुरक्ति होना भाव ना होकर भावाभास है।

भावशान्ति -

भावशान्तिरूप ध्वनि वहाँ होती है जहाँ पर भाव रस रूप में परिणत होने से पूर्व ही भावमात्र में ही शान्त हो जाय। जैसा की वसन्तविलास का उक्त पद्य भी भावशान्ति ध्वनि रूप को ही बता रहा है। यथा-

त्वं कान्त किं स्मरसि तत्प्रथमे वसन्ते
वत्स्याव इन्दुधवले न गृहे स्वघोषे।
आसीत्तथापि हृदये स कियान् प्रमोदो
व्याहृत्य सस्मितमुखी स्वपितीति काचित्।।[18]

कोई नायिका अपने विवाह के पहले वसन्त को स्मरण करते हुए कह रही है कि उस समय सुन्दर घर के ना होते हुए भी हृदय में कितना आनन्द था। इतना कहने से नायिका की नायक के प्रति अति अनुरक्ति सूचित होती है। इसके बाद उनका प्रेम प्रसङ्ग दिखाना उचित था। किन्तु नायिका का प्रेमालाप आधा ही करके सो जाने से रति रूप भाव की शान्ति हो गई। अतः यह भावशान्ति का सुन्दर उदाहरण है।

भावोदय -

भावोदय ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ पर व्यभिचारिभावों की स्थितियों में बदलाव होकर नवीन व्यभिचारिभावों का उदय हो जाता है। अतः इसी सन्दर्भ में वसन्तविलास का यह पद्य भावोदय नामक ध्वनि का ही द्योतन कर रहा है। यथा-

सोल्लासमाशु तटिनीतटमानताङ्गी
गत्वा प्रतीक्ष्य सुचिरं दयितं दिनान्ते।
तन्वी तु तत्र तदनागमनेन खिन्ना
काचिज्जहाति कुसुमाभरणानि नद्याम्।।[19]

इस पद्य में नायिका नायक से मिलने के लिए नदी के तट पर गयी है, किन्तु उसके वहाँ न आने पर वह खिन्न हो उठती है और फूलों के आभूषणों को फेंक देती है। यहाँ पर चपलता के स्थान पर विषाद अथवा ग्लानि नामक व्यभिचारी भावों के उदय होने से यह भावोदय का उदाहरण है।

भावसन्धि -

काव्य में जहाँ केवल दो भावों का योग होता है, वहाँ पर भावसन्धि होती है। मेघविलास का यह पद्य इसी सन्दर्भ को प्रकट कर रहा है। यथा-

मध्ये विरौति चपलासितवारिदानां
रुद्धेव देववनिता पिशिताशनानाम्।
एषा विभाति च पुनर्गगने कदाचिन्
मातङ्गजेव ललना सुदती हसन्ती।।[20]

यहाँ पर बादलों की उपमा राक्षसों की गई है तथा विद्युत् की उपमा देवाङ्गनाओं से की गई है। बादलों के द्वारा रोकी जाती हुई विद्युत् देवङ्गना के समान रुदन कर रही है। वह उसी प्रकार सुशोभित हो रही है, जिस प्रकार मातङ्ग कन्या हँसती हुई सुशोभित होती है। अतः यहाँ हर्ष तथा विषाद रूप भावों की सन्धि है।

निष्कर्ष :-

ध्वनितत्त्व विषयक उदाहरणों की दृष्टि से कवि जगदीश प्रसाद सेमवाल विरचित विलासकाव्य परिपूर्ण हैं। उक्त शोध-पत्र में विलास-काव्यों में ध्वनि के लक्षणामूलध्वनि तथा अभिधामूलावाच्यध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के प्रायः सभी भेद-प्रभेदों के उदाहरणों को विवेचित किया गया है। जिनमें लक्षणामूलध्वनि, अभिधामूलध्वनि के भेदों के विलासकाव्यों में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यद्यपि ध्वनि के अनन्त भेद सम्भव हैं, तथापि उन अनन्त भेदों में से शोधार्थी ने ध्वनि के प्रमुख भेदों को अपने शोध का विषय बनाया है। ध्वनि के ये सभी भेद विलासकाव्यों में सहजतया प्राप्त होते हैं। अतः ध्वनितत्त्व की दृष्टि से ये विलासकाव्य उपयोगी और समृद्ध हैं।

सहायक अध्यापक
राजकीय इण्टर कालेज छडनदेव
पिथौरागढ़, उत्तराखण्ड

सन्दर्भ सूची

1. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ. 112
2. अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
   अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।।
   काव्यप्रकाश 4.24
3. स्वतन्त्रभारतविलास 21
4. वसन्तविलास 32
5. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ. 114
6. स्वतन्त्रभारतविलास 35
7. वसन्तविलास 3
8. विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः।
   कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः।।
   काव्यप्रकाश 4.25
9. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ. 116
10. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
    रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
    विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
    व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।।
    काव्यप्रकाश 4.27-28
11. वसन्तविलास 66
12. मेघविलास 88
13. काव्यप्रकाश 10.35
14. शैलपुत्रीविलास 1
15. तदाभास अनौचित्यप्रवर्तिताः।
    तदाभास रसाभास भावाभासाश्च।। काव्यप्रकाश 4.36
16. वसन्तविलास, 64
17. वही, 22
18. वही, 52
19. वही, 46
20. मेघविलास, 87

कविता एवं राष्ट्र के विलास के कवि आचार्य जगदीश सेमवाल

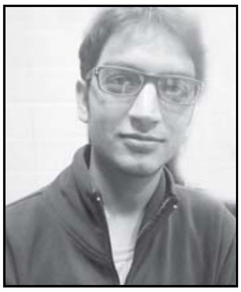

डॉ. मृगांक मलासी

शिव की प्रतिष्ठा और अशिव की निवृत्ति ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। इसकी पूर्ति साहित्य के द्वारा होती है, अतः साहित्य के प्रति प्रत्येक बुद्धिसम्पन्न मानव की अभिरुचि उन्मुख हो, यह स्वाभाविक है। इस उन्मुखता के कारण ही साहित्य और जीवन परस्पर एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं तथा मानवजीवन को उदार, प्रगतिशील एवं स्वावलम्बी बनाकर स्वात्मविकास करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार जीवन को प्रकाश में लाकर विकास की ओर बढ़ते रहने की प्रेरणा का स्रोत साहित्य ही बन जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि साहित्यहीन जीवन समाज के विकास में बाधक होता है और जीवनहीन साहित्य समाज की उन्नति में विघ्नरूप होता है। समाज मेधासम्पन्न मानवों के समुदाय का ही एक परिनिष्ठित पर्याय है, अन्यथा वह समाज न कहलाकर 'समज' ही कहा जाता है, जिसमें पशुओं के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। यह सत्य है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है, वैसे ही यह भी सत्य है कि समाज साहित्य का दर्पण होता है। अतः साहित्यकार सामाजिकता को जिस तत्परता से साहित्य में प्रतिबिम्बित करते हैं उसी प्रकार सामाजिक भी साहित्यिकता को समाज में प्रतिबिम्बित करते हैं। यह पारस्परिक आदान-प्रदान युगों-युगों से चला आ रहा है और चलता ही रहेगा। किन्तु साहित्यकार केवल साहित्यकार ही नहीं होता, अपितु वह सामाजिक भी होता है। अतः उसे उभयधर्म का निर्वहन करना पड़ता है। इस निर्वाह में न्यूनाधिकता की स्थिति उसकी अपनी सुबलता अथवा दुर्बलता पर निर्भर रहती है। सामाजिकता और साहित्यिकता की एक योजक कड़ी है 'मानवता'। क्योंकि उक्त दोनों प्रकार मानव में ही होते हैं और उसी से प्रतिभासित होती है मानवता।

मानव-मात्र में सौन्दर्य के आनन्द की आस्वाद करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यह आस्वाद इन्द्रियग्राह्य और मनोग्राह्य होता है। इस सौन्दर्य की सृष्टि प्रतिभा से होती है, क्योंकि प्रतिभा स्वयं अपनी अभिव्यक्ति के लिए सदा विकल रहती है और अवसर पाकर वह विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो जाती है। साहित्य जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति श्रव्य और दृश्यरूप धारण करने के लिए अक्षरों का आश्रय लेती है तथा प्रत्येक अक्षर और उससे बने शब्दों में कविता भरी रहती है। इसे हम वृद्धसम्प्रयोग से आरम्भ कर नई पौध की नई पँखुड़ियों तक' की 'वाङ्मयी चमक' से प्राप्त कर सकते हैं। आधुनिक समय में जगदीश सेमवाल भी इसी वाङ्मय परम्परा का निर्वहन कर रहे हैं।

भोलानाथ सेमवाल एवं उनकी सहधर्मिणि विजया के घर 1 जनवरी 1944 चमोली जनपद के केदारखण्ड में स्थित यमुनापुर के ह्यूण नामक गाँव तत्कालीन उत्तरप्रदेश वर्तमान में उत्तराण्ड की देवभूमि में रुद्रकृपा से रुद्रपुत्र जगदीश सेमवाल का जन्म हुआ। वर्तमान में यह रुद्रप्रयाग जिले के अन्तर्गत है जो कि पावन धाम केदारनाथ के समीप है। भगवान् शिव के क्रोड में पलने वाले जगदीश सेमवाल ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय विद्यालय में प्राप्त की तत्पश्चात् संस्कृत विद्यापीठ गुप्तकाशी जो कि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध था, वहाँ से इन्होंने अपनी शिक्षा ग्रहण की। तदनन्तर आचार्य की उपाधि हेतु ये बनारस आए और व्याकरणाचार्य की उपाधि

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

को अलंकृत किया। आचार्य ने पंजाब विश्वविद्यालय से विद्यावारिधि की उपाधि ने ग्रहण की। सेमवाल अपने छात्र–जीवन से अधुना संस्कृत सेवा में ही संलग्न हैं। विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन इनके शास्त्रज्ञ होने का द्योतक है। संस्कृतपुत्र जगदीश किसी एक शास्त्र में ही नहीं रमे, अपितु उन्होंने साहित्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, राजनीति, भक्ति आदि सभी विषयों पर अपनी लेखनी चलाई।

रचनाओं की बात करें तो शान्त रस में प्रणीत गुरुनानकदेवचरितम् 24 सर्गों में निबद्ध महाकाव्य है। इसमें नानकदेव के विषय में विस्तार से वर्णन है। पूरे महाकाव्य में 1119 पद्य हैं।

जगदीश का मन विलासकाव्यों में अधिक रमा है, यही कारण है कि इन्होंने वसन्तविलास, मेघविलास, इन्दुविलास, हिमगिरिविलास, विडम्बनाविलास, भानूदयविलास, जयपुरविलास, शैलपुत्रीविलास, प्रभाविलास, स्वतन्त्रभारत–विलास का प्रणयन किया। एतदतिरिक्त स्तोत्रं कस्य ना तुष्टये, दुर्गामहास्तोत्रम्, श्रीशिवस्तुति, श्रीरामचरितावली, यक्षराजस्तोत्रम्, शिवसहस्रनामावलीनिर्वचनकारिका, विष्णुसहस्र–नामावलीनिर्वचनकारिका, श्रीगुरुनानकदेवसहस्रनामावली, श्रीगणपतिसहस्रनामनिर्वचनकारिका आदि उनके भक्तिपरक काव्य हैं।

वेदान्तकारिका एवं योगानुशासनप्रकाश सेमवाल के दर्शनपरक ग्रन्थ हैं। यमनचिकेतसीयम् एवं सुरभारतीक्रन्दनम् दो रूपकों का प्रणयन भी इन्होंने किया है। जपुजी साहिब, चण्डी दी वार, ये अनूदित रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त सेमवाल ने कई ग्रन्थों का संशोधन भी किया है। इनमें वेदमन्त्रात्मक काव्य, जालन्धरपीठदीपिका, यजुर्वेद मन्त्रात्मक काव्य प्रमुख हैं। एतदतिरिक्त भी आचार्य ने अन्य ग्रन्थों रमस्य वैदेही विरहः, अर्थतन्त्रम्, वेदत्रयी जन्मभू, श्रीमद् दयानन्द सरस्वती, भारतारिजम्, नो जानीमहे की रचना भी की है।

चूँकि साहित्य का लक्ष्य मनुष्य ही है अतः जीवन की समस्याओं का समाधान भी साहित्य ही करता है। यह साहित्य अतीत से उपदेश ग्रहण कर वर्तमान को पहचानने की दृष्टि प्रदान करता है। हमारा अतीत संस्कृत–साहित्य में सुरक्षित है इसलिए उसका परिशीलन करना आवश्यक है। इस परिशीलन की दिशाएँ अनेक हैं और उनमें भी छोटी–बड़ी विभिन्न पगडण्डियाँ हैं जिन पर पहुँचकर लक्ष्य को पा लेना प्रत्येक ज्ञान के उपासक का कार्य है। इसी उदात्त आशय से प्रेरणा पाकर आज का यह संस्कृत रचनाकार रचना कर रहा है। वर्तमान का यह नवीन सर्जक संस्कृत भाषा में पिष्टपेषण को त्याग कर अपनी रचनाधर्मिता से नूतन सृजन कर रहा है। जगदीश प्रसाद सेमवाल के ग्रन्थों में रचनाधर्मिता के पग–पग पर दर्शन होते हैं।

विलासकाव्यों के सन्दर्भ में बात करें तो सेमवाल द्वारा प्रणीत विलासकाव्यों में जहाँ एक ओर परम्परा का निर्वहन है तो दूसरी ओर उसमें आधुनिकता का कलेवर भी है। जहाँ एक ओर आचार्य के काव्य में श्रृंगार का अद्भुत वर्णन मिलता है, वहीं राष्ट्र की स्थिति देखकर कविहृदय द्रवित हो जाता है।

विलासकाव्यों में श्रृंगार रस का अद्भुत वर्णन सेमवाल ने किया है। मेघविलास में मेघ को देखकर नायिका की यह उक्ति संभोग श्रृंगार का उदाहरण है –

रे मेघ! पश्य तव निष्ठुरवर्षणेन
सम्पृक्तमार्द्रपरिधानमितो ममाङ्गे।
एतर्हि सा कथमहं तरुणी व्रजेयं मार्गेण
तेन बहुपूरुषसङ्कलेन॥[1]

यहाँ तरुणी आलम्बन है, वर्षा के कारण वस्त्रों का गीला होना, पुरुषों से युक्त मार्ग उद्दीपन विभाव को पुष्ट कर रहा है। लज्जा का आना, शंका, त्रास आदि सञ्चारी भाव हैं। इन सबके मिलने से रति नामक स्थायीभाव संभोग श्रृंगार को अभिव्यक्त कर रहा है।

सेमवाल द्वारा रचित पद्यों में काव्यशास्त्रीय समस्त तत्त्वों का निर्वहन भलीभाँति हुआ है। प्रभाविलास का यह उदाहरण देखिए –

अग्रजायाः पतिं ग्रामबाला नवैर्भूषिता
चित्रवस्त्रैर्यदा पश्यति।
ग्राममेलापके याति मोदं तदा तत्र
जागर्ति तस्या मुखे सुप्रभा॥[2]

प्रस्तुत पद्य ग्रामीण परिवेश का सुन्दर निदर्शन कर रहा है। यहाँ ग्रामीण बाला आलम्बन विभाव है। मेले में अपने जीजा को देखना उद्दीपन विभाव है। जीजा को देखकर ग्रामीण बाला की प्रसन्नता, उसके मुख की कान्ति की वृद्धि आदि अनुभाव हैं। हर्ष, लज्जा, औत्सुक्य, धृति, मति आदि सञ्चारी भाव हैं। ये सभी मिलकर रति को पुष्ट करते हुए श्रृंगार रस को अभिव्यक्त कर रहे हैं।

वक्रोक्तिकार कुन्तक के अनुसार जहाँ किसी अतिशयपूर्ण व्यापार के भाव को प्रतिपादित करने के लिए अत्यधिक

व्यवधान वाली वर्ण्यमान वस्तु में दूसरे पदार्थ से किञ्चिन्मात्र रूप से भी विद्यमान साधारण धर्म का आरोप किया जाता है, वहाँ पर उपचारवक्रता होती है।[3] साथ ही जिसके मूल में होने के कारण रूपकादि अलंकार चमत्कारयुक्त हो जाते हैं, वह उपचार की प्रधानता वाली कोई अपूर्व उपचारवक्रता कही जाती है।[4] इस कथन के उदाहरणस्वरूप इन्दुविलास का यह पद्य देखा जा सकता है –

मृगलाञ्छन! लाञ्छनं तव भजते कामपि चारुतां त्वयि।
अपि गर्हितदूषणं क्वचित् सुजने श्लाघ्यगुणे गुणायते।।[5]

इस पद्य के अनुसार मृगलाञ्छन अर्थात् चन्द्रमा में लाञ्छन उसकी चारुता में वृद्धि उसी प्रकार कर रहा है, जिस प्रकार सज्जन व्यक्ति को गर्हित दुर्गुण प्राप्त करके दुर्गुण भी श्लाघ्य गुण में रूपान्तरित हो जाते हैं। इस काव्य में उपचार के द्वारा दो भिन्न वस्तुओं में साम्यता होने से उनमें अभेद स्थापित करने का प्रयास किया गया है। 'मृगलाञ्छन! लाञ्चनं' तथा 'सुजने श्लाघ्यगुणे' के द्वारा यहाँ पर उपचारवक्रता का प्रतिपादन किया गया है।

सेमवाल के काव्यों में हास्य का भी सुन्दर निदर्शन हुआ है। यथा –

एका तु तुन्दिलवधूं परिहासदक्षा ब्रूते शनैः
सखि कदाऽऽदयसीह मिष्टम्।
त्वां रक्षितुं प्रसवकालभयाद्यतस्ते शङ्के
दधाति दयितः स्वयमेव गर्भम्।।[6]

न केवल रस वर्णन में अपितु अलंकारों के वर्णन में भी सेमवाल सिद्ध हैं। उनके काव्य में पद-पद पर सुन्दर अलंकारों का निदर्शन हुआ है। इन्दुविलास का यह उदाहरण द्रष्टव्य है –

निपतन्त्यशुचावपि स्थले रजनीकान्तमयूखराशयः।
न तथापि कदापि दूषिता गुणिनामेष गुणो विशिष्यते।।[7]

यहाँ चन्द्रमा की किरणों का अपवित्र स्थल पर गिरकर भी दूषित न होना इस विशेष कथन का गुणवान व्यक्तियों में यह गुण विशेष रूप से होता है, इस सामान्य कथन से इसका समर्थन किया गया है। अतः विशेष का सामान्य से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार यहाँ दृष्टिगोचर होता है।

इसी प्रकार तुल्ययोगिता का उदाहरण देखिए –

अथ पुराणनिबन्धकवीश्वरैर्बहुकथासु विचित्रविधासु यः।
भुवनलोचन एक उदीर्यते स भगवानयमेत्युदयाचले।।[8]

सेमवाल के काव्य की यह विशेषता है कि वे केवल प्रेम अथवा प्रकृति में रमते नहीं दिखते। एक ओर उनके काव्य में शास्त्रीय तत्त्वों के दर्शन होते हैं तो वहीं दूसरी ओर सेमवाल एक राष्ट्रकवि होने के धर्म का भी उचित निर्वहन करते हैं। यही कारण है कि देश की दुर्दशा पर उनका कविहृदय द्रवित ही नहीं होता वरन् वह उन समस्त कुरीतियों पर कुठाराघात करते हैं। वर्तमान समय में हो रहे नारीविषयक अपराध के विषय में वे कहते हैं –

स्वतन्त्रे भारते मित्र रामः क्वापि न दृश्यते।
सीतायाः हरणं कर्तुं रावणास्तुपदे पदे।।[9]

इस काव्य का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि वर्तमान समय में स्त्रियों को दुर्व्यवहार से बचाने वाले राम सदृश पुरुषों का अभाव है और समाज के रावण पग-पग पर घात लगाए बैठे हैं। स्वतन्त्र भारत की ऐसी स्थिति चिन्तनीय है। नारीविषयक समस्या को प्रस्तुत करते हुए वह लिखते हैं कि वर्तमान भारत में द्रौपदी के चीरहरण हेतु उद्यत भ्रष्ट लोग बहुत हैं, परन्तु कृष्ण सदृश चीररक्षक कोई पुरुष नहीं है –

स्वतन्त्रे भारते मित्र नापि कृष्णोऽद्य दृश्यते।
चीरं द्रुपदकन्याया ह्रियते तु पुरे पुरे।।[10]

तात्पर्य यह है कि वर्तमान समय में स्त्रियों को सम्मान देने की क्षमता आज के लोगों में नहीं है। हर कोई स्वयं में स्वार्थी हो गया है कि अपराध को देखकर मूक बना हुआ है। कृष्ण सदृश सहायता करने को भी तैयार नहीं होता।

कन्याभ्रूणहत्या एवं दहेजप्रथा सदृश कुरीतियाँ भारत के गौरव को कलंकित कर रही हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी कन्याभ्रूणहत्या होना हमारे मुँह पर तमाचा ही है –

स्वतन्त्रे भारते मित्र कन्याभ्रूणं च मातरः।
गर्भ एव स्वयं हत्वा पूतनामतिशेरते।।[11]

अर्थात् माताएँ कन्याभ्रूण को गर्भ में ही नष्ट कर देती है। इसकी तुलना कवि सेमवाल जी ने बालघातिनी पूतना से की है। मानो स्त्रियाँ पुत्रमोह में कन्याभ्रूण को नष्ट करके पूतना नामक राक्षसी को भी पीछे छोड़ दे रही है।

वर्तमान में व्याप्त दहेजप्रथा के प्रचलन देखते हुए स्त्रियों पर हो रहे अत्याचार से द्रवित होकर वे लिखते हैं कि दहेजलोभित के द्वारा बहू स्वर्ण के अण्डे देने वाली मुर्गी के समान मारी जाती है –

स्वतन्त्रे भारते मित्र वधूर्योतकलोभिभिः।
स्वर्णाण्डजननी क्रूरैः कुक्कुटीव निहन्यते।।[12]

बेरोजगारी की समस्या से सम्पूर्ण देश त्राहि-त्राहि कर रहा है। युवाओं में भयानक रोष है। उस पर समस्या यह है कि यदि कहीं रोजगार का अवसर प्राप्त भी हो तो भी घूस के कारण योग्य व्यक्ति को स्थान नहीं मिल पाता। उच्चस्तरीय परीक्षाओं में साक्षात्कार आदि में उत्कोच के कारण सर्वथा योग्य व्यक्ति भी मायूस होता है –

स्वतन्त्रे भारते मित्र ग्राहकाँस्तानुपागतान्।
उत्कोचग्राहिणो ग्राहा जग्रस्यन्ते निराश्रयान्।।[13]

अर्थात् स्वतन्त्र भारत में रिश्वत लेने वाले मगरमच्छ समीप आये हुए ग्राहकों को निगल लेते हैं। स्वतन्त्र भारत में ठगवृत्ति को सर्वत्र व्याप्त देखकर कवि सेमवाल के कहते हैं कि ऋषि मुनियों के इस भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् एक पृथक् भारत के ही दर्शन हो रहे हैं, यहाँ कालनेमि के समान कुछ लोग संन्यासी बनकर मनुष्यों को ठग रहे हैं –

स्वतन्त्रे भारते मित्र कालनेमिनिभा इमे।
केचित्सन्यासिनो भूत्वा वञ्चयन्त्यधुना जनान्।।[14]

वस्तुतः ठगवृत्तिः के कारण सामान्य जन-मानस का साधु-सन्तों, ब्राह्मणों आदि के प्रति निष्ठा का धूमिल होना स्वाभाविक ही है।

'जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा द्विजोच्यते' के कारण समस्त विश्व को कर्मप्रधान की शिक्षा देने वाला देश आज अपने ऋषियों के उद्घोष को विस्मृत कर चुका है। क्षेत्रवाद एवं जातिवाद की समस्या से भारत अहर्निश जूझ रहा है। विविधता में एकता की पहचान वाला देश आज भाषावाद से भी व्यथित हो रहा है। कवि इन सबसे व्यथित है –

स्वतन्त्रे भारते मित्र क्षेत्रवादः क्वचित् तथा।
जातिवादः क्वचिच्चैवं भाषावादः क्वचित्पुनः।।[15]

सेमवाल के काव्य में जहाँ भारतवर्ष के लिए चिन्ता व्याप्त है, वहीं देश की शान्ति हेतु निर्बलों की सहायता हेतु आचार्य शैलपुत्री विलास में भगवती से प्रार्थना करते हैं कि हे माँ! जिस तलवार से तुमने रण में अत्यन्त कठिनता से जीते जाने वाले चण्ड-मुण्ड जैसे आततायियों को मार दिया था, उसी तलवार से उस वैरी समुदाय को भी नष्ट कर दीजिए जो बिना किसी कारण ही निर्बलों को दुःख देते हैं–

येनासिनातिबलनौ रणदुर्मदौ तौ मास्त्वया
विनिहतौ युधि चण्डमुण्डौ।
तेनासिनैव जहि तानपि वैरिवर्गान् ये
दुर्बलान् परितुदन्ति विनैव हेतुम्।।[16]

वस्तुतः सेमवाल के काव्यों में जहाँ प्रेम, संयोग, वियोग, प्रकृति आदि के दर्शन होते हैं, वहीं वह यथार्थ का भी वर्णन करने में पीछे नहीं हटते।

कृष्ण की प्रभा को कवि स्मरण करते हुए कहता है कि महाभारत के युद्ध में अर्जुन की रक्षा करने के लिए जिन्होंने स्वयं के द्वारा की गई प्रतिज्ञा को तोड़ दिया था तथा रथ के पहिए को लेकर जो भीष्म की ओर आक्रमण करने के लिए बढ़े थे, आज उनकी अत्यधिक आवश्यकता है –

अर्जुनं रक्षितुं भारताख्ये रणे त्यक्तवान्
यः प्रतिज्ञां निजामेव ताम्।
यो गृहीत्वा रथाङ्गं च भीष्मं ययौ तस्य
कृष्णस्य सा स्मर्यतेऽद्य प्रभा।।[17]

विडम्बनाविलास में कवि ने पग-पग पर जीवन की विडम्बनाओं को उजागर किया है। समाज में व्याप्त हर प्रकार की बुराईयों से कवि व्यथित है। वह व्यक्ति के नैतिक पतन से क्षुब्ध है –

योऽयं स्वजायामवमान्य कश्चित्
पण्यस्त्रियं वैषयिकोऽभियाति।
त्यक्त्वा पुरोडाशमिव ध्रुवं स
श्वोच्छिष्टमश्नाति विडम्बनेयम्।।[18]

ये समाज में व्याप्त वो कलुषता है जिस पर प्रायः आज का कवि मौन रहना ज्यादा श्रेष्ठ समझता है, परन्तु सेमवाल जैसा सहृदय व्यक्तित्व इस विडम्बना को मूकदर्शक बन कर नहीं देख सकता वरन् वह इस पर बोलने का साहस करता है।

वर्तमान समय में प्रचलित शिक्षणसंस्थानों में शिक्षा को छोड़कर मात्र अन्य व्यवस्थाओं पर ही ध्यान दिया जाता है। इन विद्यापीठों में योग्य चाणक्य नहीं दिखते ऐसे में भला वो चन्द्रगुप्तों का निर्माण कैसे कर सकते हैं? –

स्वतन्त्रे भारते मित्र विद्यास्थानेषु शिक्षकाः।
शिष्याणां दूषणे दक्षा अदक्षा मार्गदर्शने।।[19]

कहने का आश्रय यह है कि प्रशासनिक व्यवस्था असम्यक् होने के कारण शिक्षण संस्थानों में योग्य अध्यापकों की नियुक्ति नहीं हो पा रही है। जिस कारण शिक्षाव्यवस्था का स्तरानुकूल ह्रास दिख रहा है।

आपसी सम्बन्धों में कटुता और स्वार्थ ही अधिक

प्रदर्शित होता है। मानवीय संवेदना तो मानों समाप्त ही हो गयी है। किसी के घर में कार्य करने वाला सेवक भी यदि अचानक से पारिवारिक परेशानी में आ जाता है तो भी उसे अवकाश नहीं मिल पाता–

प्रभो! किमस्ति?
ज्वरपीडितो मे सुतः तदा किं? गृहमेतुमीहे।
अत्राद्यः कः पक्ष्यति भोजनं नः?
न यास्यसि त्वं हि विडम्बनेयम्।।[20]

कवि की वेदना यहाँ समाप्त नहीं होती वरन् वह इन बातों से दुःखी है कि राम के वंशजों में कहाँ से आज इतनी घृणा उत्पन्न हो गयी है? जिस देश में एक भाई की चरणपादुका को शिरोधार्य कर समस्त राज्य का संचालन किया जाता रहा, जहाँ विपत्ति आने पर अपने भाई के प्राण बचाने के लिए असम्भव को भी सम्भव कर दिया गया, जहाँ अग्रज की आज्ञा अक्षरशः अनुकरणीय मानी जाती रही है उस देश में आज भाईयों के मध्य ही शत्रु से भीषण शत्रुता दिखाई देती है। आपस में एक–दूसरे के सुख को देखकर भाई ही दुःखी हो रहे हैं। शत्रु से भी निन्दनीय आचरण वे कर रहे हैं। कवि इसका उदाहरण देते हैं कि दो भाई स्व इष्ट प्राप्ति हेतु तप कर रहे थे। उनकी साधना से प्रसन्न होकर ईश्वर ने उन्हें दर्शन देकर उनमें से किसी एक को वर माँगने को कहा। वर माँगने के क्रम में एक भाई ने अपने दूसरे भाई को इंगित करते हुए ईश्वर से कहा कि यह जो माँगेगा मुझे इससे दुगुना देना। इस पर दूसरे भाई ने वर माँगा कि मेरी एक आँख फोड़ दो। वास्तव में इस विश्वगुरु देश की इससे अधिक क्या विडम्बना होगी–

याचिष्यते यन्मम बन्धुरेष तस्मात् प्रभो!
मे द्विगुणं प्रदेहि।
बन्धुस्तु काणत्वमयाचतासौ हतावुभौ हन्त!
विडम्बनेयम्।।[21]

सम्पूर्ण विश्व को नैतिकता और संस्कारों का पाठ पढ़ाने वाले भारतवर्ष में भी संस्कारविहीनता सर्वत्र दिखायी देती है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' के संपोषक देश में जहाँ एक ओर स्त्रियों की दुर्दशा दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर नगरों में रहकर स्वयं को अत्यधिक सभ्य जताने वाली स्त्रियाँ अत्याधुनिक हो गई हैं–

स्वतन्त्रे भारते मित्र नगरेषु कुलाङ्गनाः।
अपि नृत्यन्ति शालासु निशासु मदविह्वलाः।।[22]

नगरों में रहने वाली कुलाङ्गनायें भी आज अपनी अस्मिता को छोड़कर न केवल मद्यपान करती हैं अपितु रात्रि के समय नृत्यशालाओं में मदविह्वल होकर नृत्य करती हैं। यह देश उस सावित्री से सुशोभित था जिसने अपने पति के प्राण बचाने हेतु मृत्यु के देवता यमराज को भी चुनौती दे डाली और अपने पति के प्राण को बचाया। आज ऐसी सावित्री कथाओं में भी नहीं है, इसके विपरीत पतियों की हत्या करने वाली नारियों की कथा प्रतिदिन सुनने को मिलती है–

स्वतन्त्रे भारते मित्र सावित्री न कथास्वपि।
पतिघ्नीनां तु नारीणां वार्ताः पश्य दिने दिने।।[23]

स्त्रियाँ मात्र सौन्दर्य–प्रतियोगिताओं में अंगप्रदर्शन कर स्वयं को गौरवान्वित अनुभूत कर रही हैं। संस्कारों की तो बात ही उनसे दूर हो चुकी है। लज्जा को स्त्री का आभूषण माना जाता था, परन्तु स्त्रियाँ लज्जाविहीन हो गई है

स्वतन्त्रे भारते मित्र व्रीडा स्त्रीणां लयं गता।
प्रतिस्पर्धासु सुन्दर्यो जयन्त्यङ्गप्रदर्शनात्।।[24]

सेमवाल ने जातिप्रथा जैसे विषयों को भी अपने स्वतन्त्रभारतविलास काव्य में सफलता से चित्रित किया है। स्वतन्त्रता के 75 वर्ष के पश्चात् भी जातिप्रथा एवं वर्णव्यवस्था भारतवर्ष में कलङ्क बनी हुई है। योग्यता आरक्षण की मोहताज बनी बैठी है। योग्यता आज भी जातिरुपी सर्पिणी द्वारा डसी जा रही है। जातिप्रथा के विषय में कवि सेमवाल कहते हैं कि स्वतन्त्र भारत में जाति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जाति ही मनुष्य की योग्यता है तथा जाति ही नियुक्ति प्रदान करती है –

स्वतन्त्रे भारते मित्र जातिः सर्वाधिका मता।
जातिरेवार्हता पुंसां जात्या चैव नियोजनम्।।[25]

सेमवाल के काव्यों में प्रकृतिचित्रण, शृंगारवर्णन आदि का सम्यक् निदर्शन तो है ही, साथ ही शास्त्रसम्मत उदाहरण भी वहाँ देखे जा सकते हैं। उनके विलासकाव्यों में जहाँ काव्य सम्प्रदाय के समस्त तत्त्व रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि एवं औचित्य का समावेश है, वहीं उनकी कविता–कामिनी आधुनिक समय की आवश्यकता को पूर्ण करती है। सेमवाल अपने दृष्टिकोण से राष्ट्रीय चेतना को स्वर देते हैं। सेमवाल की राष्ट्रीयता वास्तव में यथार्थवादी राष्ट्रीयता है; जिसमें चिन्तन की संगति की अपेक्षा आवेग और आक्रोश की प्रधानता है। उसमें उत्साह, उमंग और आस्था है। उसमें विश्व–प्रेम का भी वर्णन है। वह पग–पग

पर कटाक्ष कर इंगित कराती है कि राष्ट्र के प्रति निष्ठावान बनों। उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता या मानवतावाद में परिणत होने का प्रयास करती है। एक ओर सेमवाल की कविता हमें निराशा के भंवर से निकालकर आशान्वित करती है तो दूसरी ओर उनका काव्य हमें अति आत्ममुग्ध होने से बचाता हआ समसामयिकता के आयाम पर ला छोड़ता है। जहाँ हमारे सम्मुख जीवन-निर्माण हेतु चिन्तन-मन्थन और करणीय-अकरणीय, ग्राह्य-त्याज्य आदि सभी प्रकार के दृष्टान्त उपस्थित हैं। इन दोनों काव्यों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का भाव और प्रबल हुआ है जो हमें अवसाद और अति आत्मविश्वास से बचाता है। सेमवाल के काव्य में हमारे आदर्शो एवं उच्च मान्यताओं को पुनः अनुकरण करने की सीख है। वह नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक सभी मूल्यों को बिम्बित करते हैं। यदि इसे केवल नकारात्मक कहा जाय तो असमीचीन चिन्तन होगा वस्तुतः उनके काव्य में भले ही एक वृद्ध व्यक्ति की डाँट दिखे, एक निर्मोह अथवा निराशावाद दिखे पर जब हम उसके भीतर प्रवेश करते हैं तो हम पाते हैं कि वह डाँट या क्रोध एक माँ की ममता को लिए हुए है, एक पिता की पुत्र के प्रति चिन्ता को लिए हुए है, वह हमसे सम्पृक्त रहना चाहती है, हमें सम्बल प्रदान करती है। वह काव्यधारा निराशा में आशा का संचरण करती प्रतीत होती है। संक्षेप में कहा जाय तो यहाँ पग-पग पर एक आदर्श और नैतिक जीवन के प्रति अमूल्य शिक्षा छिपी हुयी है। शास्त्रीय परम्परा एवं कविधर्म दोनों का श्लाघनीय निर्वहन सेमवाल ने अपनी रचनाओं में किया है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
डॉ. शिवानन्द नौटियाल
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
कर्णप्रयाग (उत्तराखण्ड)

सन्दर्भ सूची

1. मेघविलास, पृ. 9
2. प्रभाविलास, पृ. 85
3. यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात्सामान्यमुपचर्यते।
   लेशेनापि भवत् कांचिद्वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम्।।
   वक्रोक्तिजीवितम् 2/13
4. यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः।
   उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते।।
   वक्रोक्तिजीवितम् 2/14
5. इन्दुविलास, 21
6. वसन्तविलास, 52
7. इन्दुविलास, 44
8. भानूदयविलास, 17
9. स्वतन्त्रभारतविलास, 5
10. स्वतन्त्रभारतविलास, 6
11. स्वतन्त्रभारतविलास, 11
12. स्वतन्त्रभारतविलास, 12
13. स्वतन्त्रभारतविलास, 13
14. स्वतन्त्रभारतविलास, 14
15. स्वतन्त्रभारतविलास, 16
16. शैलपुत्री विलास, 80
17. प्रभाविलास, 28
18. विडम्बनाविलास, 46
19. स्वतन्त्रभारतविलास, 33
20. विडम्बनाविलास, 28
21. विडम्बनाविलास, 69
22. स्वतन्त्रभारतविलास, 44
23. स्वतन्त्रभारतविलास, 26
24. स्वतन्त्रभारतविलास, 74
25. स्वतन्त्रभारतविलास, 41

Research Paper

Chhavi Tripathi

The effects of spring on human behavior described in Vasantavilāsa

Classical Sanskrit poetry can be seen (Dṛśya, Prekṣaya, i.e., drama/theatre) and poetry that can only be listened to (Śravya).[1] Śravyakāvyas are further divided into three categories that are Prose (Gadya), Verse (Padya) and in a mixed form (Campk). Padyakvya has been divided into two Mahākāvya and Khanḍakāvya.

Mahākāvya, which are large poems divided into sections or cantos (sargas) whereas the second one i.e. Khanḍakāvya deals with the one prolonged portion of the plot.[2] Sanskrit Khanḍakāvyas are linked stanzas using one Sanskrit metre and one theme such as the six Indian seasons, love and Eros and nature. They are variously called ''series of stanzas'' Khanḍakāvya. Most of the Vilāsakāvyas are Khanḍakāvya.

The word 'Vilāsa' comprises of 'vi' prefix, '' las' root, which is followed by 'ghañ' suffix. This word means - 'Presence of special beauty'. Although, poetry cannot be imagined without the beauty factor but Vilāsakāvya is entirly beauty centric poetry.

In the tradition of Sanskrit Vilāsakāvya, Jagadīśaprasāda Semavāla is a prominent name. Jagadīśaprasāda Semavāla is an eminent scholar and poet of the Sanskrit world. He has adorned the posts of Lecturer, Associate Professor, Professor and Head of Department from 1974 to 2005 in the Department of Panjab-University-Vishveshvarananda Vishvabandhu Sanskrit and Bharat-Bharati Anushilan Sansthan, Hoshiarpur, Punjab. He has also been honoured by the Government of India with the famous President's Award for doing remarkable work in the field of Indian languages. He has also been awarded the honorary degree of D.Litt. by Garhwal University, Shrinagar. Apart from this, in view of his unequalled contribution to Sanskrit literature, he has been honoured with 'Vidyabhushan', 'Sahitya Shree', 'Kalidas Samman', 'Shiromani Sanskrit Sahityakar Samman', 'Panini Samman', 'Shri Ramkinkar Samman' and Vidvat Bhushan Samman. Presently his residence is in Śirakpur near Chandigarh. Jagadīśaprasāda Semavāla has enriched Sanskrit literature with his creativity in many genres. His literary work is follow -

Philosophical works - Yognāuśāsanaprakāśa and Vedāntakrikā.

Mahākāvya - Śrīgurunānakadevacaritam.

Vilāsakāvya - Vasantavilāsa, Meghavilāsa, Induvilāsa, Himagirivilāsa, Viḍambnāvilāsa, Bhānūkdayavilāsa, Jayapuravilāsa, Śailaputrīvilāsa, Prabhvilsa, Svatantrabhāratavilāsa.

Stotrakāvya- Durgāmahāstotram, Śrīśivastuti, Śrīrāmacaritāvalī, Yakṣarājastotram, Śivasahasranāmāvalīnirvacanakārikā, Viṣṇusahasranāmāvalīnirvacanakārikā, Śrīgurunānakadevasahasranāmāvalī, Śrīganpatisahasranāmānirvacanakārikā, etc.

Rūpak - Yamanaciketasīyam (Ekānkī) and Surabharatikrandanam (Ekānkī).[3]

He has created Ten Vilāsakāvyas. In this list, Vasantavilāsa has a remarkable and unprecedented place in modern Sanskrit poetry. Vasantavilāsa means The Joys or beauty of spring, this poetry has Erotic Rasa as the chief Rasa and the entire poem has been written in Vasantatilakā[4] metre except the last verse which is written in Mālinī[5] metre.

Describing the specialty of spring in this poetry, the poet has demonstrated that how the surrounding atmosphere becomes alive with the arrival of pleasant spring. The poet has presented a natural and captivating description of spring. Spring is such a time in which both living and non-living cannot be deprived of it. Due to the influence of spring, various kinds of changes start arising in the human. Due to the influence of spring, not only ordinary men and women but also exceptional human beings like doctors, hermit etc., start to get excited. Here, these changes in both men and women are illustrated on the basis of the following points:

1. Men -

1.1 Old man

A girl says to an old man, who is stalking her - Hey old man! Look in the mirror first! Only then follow an alone girl then the old man sees that girl saying this without blinking his eyes and replied that it is the fault of spring time, not mine -

रे वृद्ध पश्य मुकुरं प्रथमं ततो
मामेकाकिनीमनुसरेति च भाषमाणाम्।
पश्यन्निमेषरहितो भणतीह सोऽयं
दोषो वसन्तसमयस्य न मेऽस्ति बाले।।[6]

1.2 Hermit

Here a lady observes hermit, who is next to her door for asking alms lustfully eyeing at her then she says to him that Immediately go to another house after taking alms, what are you seeing like this then the hermit said that it is the fault of spring time, not mine -

भिक्षां गृहाण सपदि व्रज चान्यगेह-
मित्थं विलोकयसि किं त्वमितीरयन्तीम्।
दण्डी ब्रवीत्यथ पिबन्निव चक्षुषैव
दोषो वसन्तसमयस्य न मेऽस्ति बाले।।[7]

1.3 Doctor -

Lady says to the doctor that Oh doctor! Are you treating my ailment like this for so long today or your ailment? Then doctor replied to the beautiful eyed lady that it is the fault of spring time, not mine -

त्वं वैद्यराज विदधास्युपचारमित्थं
व्याधेर्ममाद्य सुचिरं किमु चाऽऽत्मनो वा।
ब्रूते स तां सुनयनामिति कीर्त्तयन्तीं
दोषो वसन्तसमयस्य न मेऽस्ति बाले।।[8]

1.4 Ordinary man -

Here, an ordinary man suggests a woman to wear clothes properly as he feels the distraction from her tight attire. He says to her that Oh beauty! Who speaks sweet words like nectar! You improve your attire. In this dress, your body looks like a tight fit. Rather people also start doubting whether you are even wearing clothes or not -

वेषं सुधारय सुधारसने स्वीकयं
निष्पीडितेव तव भाति तु गात्रयष्टिः।
सन्दिह्यतेऽथ सकलेन जनेन चाऽस्माद्
यद् वाससी परिधृते किमु नो धृते वा।।[9]

1.5 Wanderer -

A young woman with a pot of water in her hand asks the wanderer whether you want to drink water or not. You yourself said earlier that I am thirsty, but now you are not giving any answer even after asking -

काचिद् ब्रवीति पथिकं जलकुम्भहस्ता
त्वं पातुमिच्छसि जलं यदि वा नवेति।
पृष्टोऽपि यत् प्रतिवचो न ददासि मे त्वम्
उक्तं त्वयैव तृषितोऽस्मि यतस्तु पूर्वम्।।[10]

The wanderer replied to the beautiful lady that O fool! My thirst has been quenched after drinking the nectar of your beauty, now why this water? In this spring, who would wish to drink water again after drinking the rare nectar for the deities?

अज्ञे निपीय तव रूपसुधामिदानीं
तृप्तो भवाम्यलमनेन जलेन तस्मात्।
पीत्वाऽमृतं त्रिदशदुर्लभमेतदस्मिन्
पातुं जलं पुनपीच्छति को वसन्ते?॥[11]

2. **Women -**

A heroine showing her lust and says to a stalker that if you want to tease me here after seeing the deserted place, then listen to my determination too. If you go any further close to me then I would not make a loud noise -

शून्य विलोक्य सहसा यदितत् प्रकर्त्तुं
रे मूढ वाञ्छसि ततः श्रुणु निश्चयं मे।
वर्धिष्यसे किमपि चेत् त्वमथेह भूयो
नोचचैर्विरौमि चपलं वदतीति काचित्॥[12]

Lady tries to attract the ascetic with her beauty and says O ascetic! At this time, renounce penance and stay with me. I have come to you impatient with hundreds of feelings for you. Look outside for a while also, there are many intoxicated vines wrapped around the trees in different ways -

त्यक्त्वा तपो विरह सम्प्रति रे तपस्विन्
त्वामागतास्मि ननु भावशतैरधीरा।
किञ्चिद् विलोकय बहिर्विविधा लतास्ता
आवेष्टयन्ति विटपान् मदिरायमाणाः॥[13]

A woman asks the astrologer that O astrologer! Can you tell the fortune of young me by looking at the lines of my hand, what would happen to me especially during this spring? Then young lady shows her interest in the astrologer and lustfully says to him, that O handsome! There is no one at my house at this spring time -

दैवज्ञ पश्य यदि पश्यसि पाणिरेखां
भाग्यं प्रगल्भ! वद तन्नवयौवनायाः।
किं किं भविष्यति ममापि मधौ विशेषं
यस्माद् गृहे सुमुख सम्प्रति कोऽपि नास्ति॥[14]

Seeing the beloved of a beautiful-eyed lady come back to village, some other beauty thinks that my beloved will definitely come in the spring time. Here a young lady thinks of her beloved's return in this season of spring, this shows the eagerness of her desires -

प्रत्यगतं यदिह वीक्ष्य सुलोचनायाः
कस्याश्चन प्रियतमं निजघोष एव।
तस्माद् विचारयति सा दयितो ममाऽपि
काचिद् वसन्तसमये ध्रुवमेष्यतीति॥[15]

An another young woman, bowed by the weight of her breast, tries to hide her feelings in front of her family members in the spring; it is impossible to hide these desires, but she does not know this. Here, poet has shown the increase in one's lusts and aspects of human psychology -

अन्या तु गोपयितुमेव करोति यत्रं
भावान् मनोभवकृतान् स्तनभारनम्रा।
तन्वी वसन्तसमये सविधे गुरूणां
जानाति नैव तदसंभवमेव किन्तु॥ [16]

Poet sited a situation of a lady in privation reminiscences of her beloved. After finishing her tasks in the evening, she with her mashed-up hair went to bed alone, remembering the things she had done with her husband and tries her best to sleep somehow -

सा योगिनी मलिनकैशिकमुद्वहन्ती
सायन्तनं यदपि कर्म समाप्य तत्तु।
एकाकिनी शयनमध्यगता स्मरन्ती
चेचेष्ठ्यते स्वपितुमेव कृतं स्वभर्त्तुः॥[17]

Poet portrays the condition of a young woman's mind and says that what lovely thoughts this young woman is contemplating in her solitude; who is smiling for no reason and who is capable of knowing hundreds of desires of girls there in the spring -

एषा तथा रहसि चुम्बितयौवना किं
भव्यं विचारयति यत् स्मयते त्वकाण्डे।
यद्वा समर्थ इह कोऽस्ति वसन्तकाले
ज्ञातुं मनोरथशतानि मुगीक्षणानाम्॥[18]

A young woman sitting on a well with very beautiful breasts asks a nearby wanderer that if you are tired, stay here for some time and drink cold

water here, surely you will not get such a thing further anywhere -

पान्थं वदत्युपगतं तरुणी तु काचित्
कूपे स्थिताऽतिरुचिरस्तनमण्डला यत्।
श्रान्तोऽसि चेद् विरम चाऽध्वग किञ्चिदत्र
शीतोदकं पिब किलाऽप्स्यसि नैतदग्रे।।[19]

She indicates him to do things hastily by saying that O wanderer! If you want to drink water, drink it, but don't look at the face of timid me like this, because at this time, the female she predominately comes here from home many a times -

पातुं त्वमिच्छसि जलं पिब पान्थ किन्तु
मैवं विलोकय मुखं मम कातरायाः।
एतादृशे हि समयेऽसकृदत्र घोषाद्
आभीरजा कटुमुखी समुपैति नूनम्।।[20]

Seeing a very attractive wanderer who came in the inner path of the forest, a playful young woman, laughing a little bit, entered the arbour of the forest by striking the traveller's back with a flower -

आयान्तमेकमतिसुन्दरमध्वगं सा काचिद्
विलोक्य चपला विपिनान्तमार्गे।
तन्वी प्रहृत्य कुसुमेन ततोऽस्य पृष्ठे
किञ्चिद् विहमस्य वनकुञ्जगृहं प्रविष्टा।।[21]

Seeing a handsome and desirable young man with in the street, a young woman tighten ups her loose lace more and creates the sound of haaya (हाय), she acted to gather her hair which were not scattered even before. She tries to grab the attention of that man -

आलोक्य सुन्दरमुखं तरुणं प्रतोल्यां
नीवीं श्लथां दृढतरां प्रकरोति काचित्।
हायेत्युदीर्य सहसाऽप्यविकीर्णकेशान्
तन्वी करेण ननु संहरतीति पश्च।।[22]

A beautiful woman wearing a beautiful dress, see her very beautiful form in the mirror for a long time in the tranquil house. She is getting herself fascinated by making many expressions of face, eyes etc. -

शून्यालये मुकुरमध्यगतं स्वकीयं
रूपं निरीक्ष्य परमं सुचिरं सुवासाः।
भावान् विधाय विविधान् मुखनेत्रजादीन्
सा मोहितेव भवति स्वयमेव काचित्।।[23]

A humorous beautiful lady while sleeping in the night hides all the clothes of her beloved and after awakening him by lighting the lamp, she made him feel shy by not giving his clothes back. Here, poet shows the playful couples-

एका विनोदकुशला दयितस्य रात्रै
सुप्तस्य सर्ववसनान्यथ गोपयित्वा।
दीपं प्रकाश्य वनिता ननु तं प्रबोध्य
लज्जातुराय वसनं न ददाति शीघ्रम्।।[24]

In the evening, listening to the melodious chirp of the cuckoo, a young woman with bent body parts, engrossed in the fire of her desires, press her breasts hard, cuts her leaf like lips in her solitude -

निष्पीडयत्यतितरां स्वयमेव काचित्
पीनौ स्तनौ रहसि मन्मथ दाहदग्धा।
दन्तैर्दशत्यश्वरपल्लवमानताङ्गी
श्रुत्वा च कोकिलरुतं मधुरं दिनान्ते।।[25]

The young woman of an old man thinks that what would happen to her in this spring. She says that O creator! What will happen to me in this spring where the rise of these new flowers can be seen, here the birds are chirping and bumble bees are moving around the new flowers. Here she is looking worried and desires to meet a young man because of spring's arrival and its effects on human -

वृद्धस्य चिन्तयति यत्तरुणी वसन्ते
किं मे भविष्यति विश्वे! कुसुमोदयेऽस्मिन्।
कूजन्ति मत्तशुकना इह पर्यटन्ति
भृङ्गा न वेषुकुसुमेषु तथा समन्तात्।।[26]

A comic skilled friend says in her ridicule manner slowly to the wife of a fat man that friend!

When is the occasion of confectionery coming, that is, when are you giving the good news? It is as if your husband himself has conceived to save you from the fear or pain of childbirth. This verse is a very good example of comic Rasa-

खल्वाटभावमिह निन्दति कश्चिदेकः
ब्रूते शनैः सखि कदाऽऽदयसीह मिष्ठम्।
त्वां रक्षितुं प्रसवकालभयाद्यतस्ते
शङ्के दधाति दयितः स्वयमेव गर्भम्।।[27]

Overwhelmed by the radiances (in the spring), one here condemns his baldness, while another criticizes his ripe, that is, white hair, one criticizes his grossness and the other weakness, then one for his tallness and the other of small stature.

खल्वाटभावमिह निन्दति कश्चिदेकः
केशान् परस्तु पलितान् प्रमदाभिभूतः।
स्थूलत्वमेक इतरो ननु दुर्बलत्वं
प्रांशुत्वमन्य इतरोऽपि च वामनत्वम्।।[28]

When a Nun caresses the tender parrot with red beak like a new kinsuka with her hand and says when would your and my lord come, asks the parrot many times. Here nun is not an ordinary woman still the effects of spring could be evidently seen on her behaviour.

काचित् करेण मृदुलं ननु लालयन्ती
क्रीडाशुकं नवलकिंशुकरक्ततुण्डम्।
भर्त्ताऽभ्युपैष्यति तवापि कदा ममेति
साध्वी सदैव परिपृच्छति नैकवारम्।।[29]

Just as a hunting girl kills a deer with an arrow, similarly this girl with eyes like a deer kills a young man with her intoxicating eyes. A deer which is wounded by an arrow goes to heaven, and a young man who is wounded by his lover's eyes attains similar happiness.

आखेटिकी मृगामिवेह मृगीक्षणेयं
बाणेन हन्ति तरुणं मदिरेक्षणेन।
स्वर्गं प्रयाति हि मृगो विशिखेन विद्धः
कान्ताकटाक्षपथिकोऽपि सुखं समानम्।।[30]

In conclusion, we could say that Vasantavilāsa has a distinctive place in modern Sanskrit literature. It is surely one of the best Vilsakāvyas. Here poet follows the legacy of Khanakāvya by depicting one theme of spring that is one of the six seasons. He has portrayed the feelings, joys of people, emotions, psychology, actions and behaviour of people during the spring. Poet has depicted the beauty of spring, which leads to various changes in whole environment, on both living and non-living things in a very unambiguous language. Poet has sited best scenes of erotic Rasa in his verses where we could find out that how people get attracted towards one another, how people face behavioural changes, how do they become excited to meet their beloveds and their feelings become unavoidable. People in different occupation go through the same psychological condition. These flawless verses lead to an excellent and unmatchable work.

Research Scholar,
Department of Sanskrit,
University of Delhi

References -
1. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
साहित्यदर्पण-6.1
2. खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। Ibid 6.329
3. Dindoriya, Ved Prakash (Dr.), Vilāsakāvyas-Saṁgrahaḥa, Manyta Prakashan, New Delhi, 2016.
4. अभिज्ञातं तभजजैरन्तासक्तगुरुद्वयम्।
चतुर्दशाक्षरं वृत्तं वसन्ततिलकं विदुः।।
सुवृत्ततिलकः 1.29
5. अष्टाक्षरविरामेण युक्ता ननमयैः सयैः।
वदन्ति मालिनीनाम वृत्तं पञ्चदशाक्षरम्।। Ibid 1.30
6. वसन्तविलास -10
7. Ibid -22
8. Ibid -23
9. Ibid -29
10. Ibid -40
11. Ibid -41
12. Ibid -25
13. Ibid -28
14. Ibid -32

15. Ibid -34
16. Ibid -37
17. Ibid -38
18. Ibid -39
19. Ibid -42
20. Ibid -43
21. Ibid -45
22. Ibid - 41
23. Ibid -43
24. Ibid -56
25. Ibid -57
26. Ibid -58
27. Ibid -59
28. Ibid -76
29. Ibid -89
30. Ibid -100

आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल : संघर्ष की एक कहानी

ऋतम्भरा सेमवाल

प्रसिद्ध कहावत है पूत के पांव पालने में ही दिखते हैं यह कहावत डॉक्टर जगदीश प्रसाद सेमवाल पर पूर्णत: चरितार्थ होती है। संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में वर्तमान में इनका नाम कौन नहीं जानता? डॉक्टर जगदीश प्रसाद सेमवाल उत्तराखंड के गुप्तकाशी क्षेत्र के 'ह्यूण' जो कि यमुनापुर के नाम से भी जाना जाता है गांव में पैदा हुए। इनका बचपन का नाम पण्डित है। साहित्य के क्षेत्र में इनके इस नाम को शायद ही कोई जानता हो।

गढ़वाल की परम्परा के अनुसार छठे दिन जब बालक को कमरे से बाहर खुली धूप में लाया जाता है। खुले आसमान के नीचे प्रकृति के बीच में लाया जाता है तो पीला वस्त्र धारण करवाया जाता है। उसी दिन पहली बार बच्चा अपनी मां और प्रकृति को एक साथ अपनी आंखों से देखता है। जब इनको भी छठे दिन बाहर लाया गया तो इनकी परदादी ने इनकी सुंदरता को देखते हुए और पीतांबर वस्त्र धारण किए हुए देखकर कहा यह तो पीला पंडित हो गया। कहते हैं जब ये 6-7 वर्ष के हो गए थे तो एक दिन अपनी मां के साथ पड़ोस के गांव में श्रीमद्भागवत कथा सुनने के लिए गए। वहां कथा सुनने के पश्चात जब घर लौटे तो दूसरे दिन इन्होंने अपने साथ के बच्चों को एकत्र किया स्वयं व्यास की वेशभूषा बनाकर अपने घर के बरामदे में तख्त पर बैठे, अन्य साथियों को नीचे बिठाकर कथा वाचन शुरू कर दिया। यह देखकर बड़े बुजुर्गों ने इन्हें पण्डित नाम से पुकारना शुरू किया। इसके बाद पूरे इलाके में सभी इनको पण्डित के नाम से ही जानते हैं। मूल नाम जगदीश प्रसाद सेमवाल बाद में प्रसिद्ध हुआ जब इन्होंने साहित्यिक रचनाएं की। भाइयों में द्वितीय होते हुए भी अद्वितीय हैं। एक साधारण परिवार में जन्म होने के कारण इनका बचपन गांव में ही बीता। गांव का ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो इन्हें नहीं आता हो या जो इन्होंने ना किया हो। अपनी मां के साथ खेत खलिहान से घर गृहस्थी के सभी कार्यों में हाथ बंटाते थे। स्वाभिमान एवं विनम्रता जैसे गुण इनमें बचपन से ही कूट-कूट कर भरे हुए हैं। गांव में सबसे आगे रहने के लिए मां ही इनकी प्रेरणा स्रोत रही। जो सदैव इन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती रही। जिसके फलस्वरूप यह अपने अध्ययन में सदैव अव्वल रहे और अपने साहित्यिक कृतित्व से अपने बुजुर्गों के दिए गये नाम को चरितार्थ किया। इनका जीवन संघर्षमय रहा है। किन्तु इन्होंने कभी हार नहीं मानी कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी निरन्तर प्रयासरत रहे।

प्राथमिक शिक्षा गुप्तकाशी प्राथमिक विद्यालय से करने के बाद आगे की पढ़ाई संस्कृत विद्यालय विद्यापीठ से की। नित्य प्रात: गीता पाठ और अष्टाध्यायी का पाठ इनकी दिनचर्या में शामिल था। प्रतिवर्ष शारदीय नवरात्र में स्थानीय मन्दिर कालीमठ में मां के दरबार में दुर्गा सप्तशती पाठ करते थे। इनकी अभिरुचि कर्मकाण्ड में न होकर अध्ययन और अध्यापन में अधिक थी। अत: इन्होंने भटवाड़ी (अगस्त्यमुनि) संस्कृत विद्यालय में अध्यापन का कार्य आरम्भ कर दिया। कुछ महीने वहां पर अध्यापन कार्य करने के बाद इन्हें मालूम हुआ कि राजकीय विद्यालयों में नियुक्तियां हो रही हैं। तब नियुक्तियां आज की तरह नहीं होती थीं। नियुक्ति अधिकारी पद रिक्त होने पर आवेदन

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

करने वाले का साक्षात्कार करके नियुक्त कर देते थे। इसी बीच इन्हें मालूम हुआ कि राजकीय इण्टर कालेज फाटा जो उस समय तक हाईस्कूल तक था वहां संस्कृत विषय का पद रिक्त है, और नियुक्ति अधिकारी क्षेत्र भ्रमण पर आए हैं। उस समय पहाड़ में आने जाने के साधन नहीं थे पैदल ही जाना पड़ता था। तो इन्होंने आवेदन भरा और नियुक्ति अधिकारी की ढूंढ में निकल पड़े। कई किलोमीटर पैदल चलने के बाद अधिकारी मिले, साक्षात्कार हुआ, इसके बाद नियुक्ति का आश्वासन देकर इन्हें घर भेज दिया गया। ये अपने घर गृहस्थी के नित्य कार्यों में लग गए। दिसम्बर का महीना था, अन्तिम दिन, दूसरे दिन से विद्यालय में एक माह की सर्दियों की छुट्टी होने वाली थी अतः प्रधानाचार्य जी ने विद्यालय से परिचारक भेजकर इनको बुलवाया और कार्यभार ग्रहण करवाया।

लगभग एक डेढ़ वर्ष वहां पर अध्यापन कार्य करने के पश्चात इन्होंने लक्ष्मण संस्कृत महाविद्यालय देहरादून में अध्यापन कार्य आरम्भ किया। इसके बाद उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। इनका विवाह स्वभाव से ही सरल और सहज शिक्षिका जिनका नाम सरला है, से हुआ। वह सुन्दर, सुसंस्कृत, परिश्रमी एवं कर्तव्यनिष्ठ शिक्षिका थी। इसकी झलक इनके काव्य में देखने को मिलती है। इनके कृतित्व में इनकी सहधर्मिणी का भी अप्रत्यक्ष रूप से पूरा योगदान है। जिसके परिणामस्वरूप ये आज भी अपने अध्ययन और अध्यापन कार्य में अनवरत लगे हैं।

डाक्टर जगदीश प्रसाद सेमवाल 'पण्डित' ने संस्कृत साहित्य में अपना अमूल्य योगदान देकर साहित्य को सरल एवं समृद्ध बनाया। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व अनुकरणीय है। मैं इनके स्वस्थ प्रसन्न एवं दीर्घ जीवन की कामना करती हूं।

अञ्जू जमलोकी

मेरे पिताजी

आज बहुत हिम्मत करके पिताजी के जीवन के विषय में लिखने का प्रयास कर रही हूँ। पिताजी के बारे में कुछ भी लिखना मेरा सौभाग्य है। वैसे तो मुझमें वह योग्यता नहीं है कि मैं पिताजी का जीवन परिचय अपने शब्दों में प्रस्तुत करूँ, मेरे पास वो शब्दावली नहीं जो मैं उनके बारे में लिखने के लिए प्रयोग करूँ। हम उनके बच्चे हैं ये हमारा सौभाग्य है, हम सौभाग्यशाली हैं कि हमने इतने बड़े विद्वान, महापुरुष के घर में जन्म लिया, परन्तु इस बात का दुःख जीवन पर्यन्त रहेगा कि हम पिताजी के जैसे नहीं बन पाये। सबसे बड़ी वाली दीदी में उनकी झलक दिखाई देती है। पिताजी के साथ मैं सिर्फ एक साल ही रह पाई हूँ, वो भी जब माँ के साथ होशियारपुर गई थीं, इसलिए पिताजी के बारे में ज्यादा नहीं जानती, पर दादी जी से उनके बचपन की बातें सुनी हैं।

दादी जी कहती थीं कि पिताजी बचपन में अपने पैरों पर स्वयं नहीं चल पाते थे। जब पिताजी पाँच साल के हुए तो पिताजी को गोदी में उठाकर नारायण भगवान का बहुत प्राचीन मन्दिर त्रियुगीनारायण लेकर गये। वहाँ से वापस पिताजी चलकर आये, तब से पिताजी स्वयं अपने पैरों पर चलने लगे। पिताजी बचपन से ही अध्ययन करने में अभिरूचि रखते थे। संस्कृत के प्रति उनका विशेष लगाव था। दादी बताती थी कि पिताजी पढ़ाई के साथ-साथ घर के कामों में, खेती के कामों में भी उनका हाथ बंटाया करते थे। घास काटना, गाय चराना, जंगल से लकड़ी लाना, धान कूटना सभी कार्यो को बड़ी कुशलता से करते थे। पिताजी पढ़ने के लिए विद्यापीठ संस्कृत विद्यालय में जाते थे।

पिताजी बचपन से ही गम्भीर स्वभाव के थे, माता-पिता को ईश्वर तुल्य मानते थे, जो माता-पिता ने कह दिया वो उनके लिए मान्य था। पिताजी अपनी योग्यताओं के कारण अपने व्यवहार के कारण सभी गाँव वालों के प्रिय थे। शाम को जब सभी बुजुर्ग लोग चौक में बैठते तो पिताजी उनको श्लोक सुनाते जिससे पिताजी पण्डित नाम से प्रसिद्ध हो गये। पिताजी को गाँव में सभी पण्डित के नाम से ही जानते है।

पिताजी होशियारपुर में रहते थे, क्योंकि वे साधू आश्रम में कार्यरत थे, इसलिए हम सभी भाई बहन माँ के साथ मैखण्डा स्कूल में रहते थे। पिताजी जब गर्मियों की छुट्टियों में आते तो हम सभी बहुत खुश हो जाते थे। जब भी पिताजी छुट्टियों में आते हम सभी को नये-नये संस्कृत के श्लोक याद कराते, फिर सभी से एक-एक करके सुनते। पिताजी अंगीठी जलाकर कुर्सी पर बैठते, हम उन्हें घेर कर बैठ जाते, फिर उनसे कहानी सुनाने का आग्रह करते, पिताजी हमें बहुत सारी कहानियां सुनाते। उन दिनों में बहुत आनन्द आता जब पिताजी भी साथ होते।

दादी के लिए पिताजी राम स्वरूप रहे। दादी कहती थीं कि पण्डित मेरा राम जैसा बेटा है जिनके लिए माता-पिता की कही बातें सर्वोपरि रहीं, हमारे माँजी-पिताजी को जो संस्कार उनके माता-पिता से मिले वही संस्कार उन्होंने हमें भी दिये। आज हम सभी भाई-बहन अपने परिवारों के साथ सुखी और सम्पन्न हैं, तो उनके दिये हुए संस्कारों के

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

कारण और उनके शुभ आशीर्वाद के कारण। ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ उनका आशीर्वाद हम पर सदैव ऐसे ही बना रहे।

माँजी-पिताजी की लम्बी उम्र और अच्छे स्वास्थ्य की कामना करते हुए अब मैं अपने शब्दों को विराम देती हूँ।

विविध शास्त्रीय विमर्श

प्रो. भीमसिंह

पतञ्जलि के अनुसार भाव, कर्म और कर्त्ता अर्थों के सार्वधातुकार्थत्व/ विकरणार्थत्व पर विचार

भाष्यकार पतञ्जलि ने **'सार्वधातुके यक्'**[1] सूत्र के भाष्य में जहाँ अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार किया है, वहाँ इस बात पर भी दार्शनिक दृष्टि से पर्याप्त गम्भीरतापूर्वक विचार किया है कि भाव, कर्म और कर्ता अर्थों को 'तिप्' आदि सार्वधातुकसंज्ञक प्रत्ययों का अर्थ माना जाए अथवा 'शप्' आदि विकरणों का? अब आगे की पंक्तियों में भाष्यकार की शैली में ही इस सूत्र से सम्बद्ध उक्त समस्या पर सोदाहरण विचार किया गया है जो कि निश्चय ही विद्वान् पाठकों के मनोविनोदार्थ होने के साथ-साथ उनके ज्ञानवृद्धि के लिए भी होगा।

अब भाष्यकार भाव, कर्म और कर्ता अर्थों के सार्वधातुकार्थत्व अथवा विकरणार्थत्व पर विचार करते हुए पूछते हैं कि अच्छा अब यह बताइये कि भाव, कर्म और कर्ता ये जो तीन अर्थ हैं, ये सार्वधातुकसंज्ञक प्रत्ययों के अर्थ माने जाएँ या विकरणों के? **'तिङ्शित् सार्वधातुकम्'**[2] सूत्र के अनुसार 'तिप्', 'तस्', 'झि' इत्यादि तिङ् प्रत्यय सार्वधातुक हैं और 'शप्', 'श्ना', 'श्यन्' इत्यादि विकरण हैं। इस पर भाष्यकार पूछते हैं कि अच्छा कैसे तो ये कर्तृ-कर्मादि सार्वधातुकों के अर्थ हो सकते हैं और कैसे विकरणों के? इसका उत्तर देते हैं कि जब प्रकृत सूत्र का यह अर्थ करेंगे कि भावकर्मवाची सार्वधातुक परे रहते 'यक्' होता है और **'कर्तरि शप्'**[3] सूत्र का यह अर्थ करेंगे कि कर्तृवाची सार्वधातुक परे 'शप्' होता है - तब तो ये सार्वधातुकों के अर्थ बन जाते हैं और इसके विपरीत जब इन उपर्युक्त सूत्रों का यह अर्थ करते हैं कि भाव और कर्म अर्थों में 'यक्' होता है, सार्वधातुक परे रहते और कर्ता अर्थ में 'शप्' होता है, सार्वधातुक परे रहते - तब ये विकरणों के अर्थ बन जाते हैं।

प्रदीपकार के अनुसार भाव यह है कि यहाँ भाष्यकार द्वारा आवाप-उद्वापापरपर्याय अन्वयव्यतिरेकरूप शास्त्रीय पद्धति से पदों के अवयवों अर्थात् प्रत्ययों के अर्थों पर विचार किया जा रहा है। तदनुसार यहाँ शास्त्र में कई बार तो सार्वधातुकसंज्ञक प्रत्यय के अभाव में भी कर्ता आदि उपर्युक्त अर्थों का बोध देखा जाता है, जैसे - 'गच्छ ग्रामम्' में **'अतो हेः'**[4] सूत्र से 'सिप्' स्थानिक 'हि' का लुक् होने से इस तरह सार्वधातुकसंज्ञक 'सिप्' प्रत्यय के न रहने पर भी कर्ता अर्थ की स्पष्ट प्रतीति हो रही है। इसी तरह 'अशायि भवता' में 'शीङ्' धातु से 'चिण्' परे रहते **'चिणो लुक्'**[5] सूत्र द्वारा सार्वधातुकसंज्ञक 'त' प्रत्यय का लुक् होने पर भी भाव अर्थ की प्रतीति स्पष्ट हो रही है। इसी प्रकार 'अकारि कटः देवदत्तेन' में 'कृ' धातु से 'चिण्' परे रहते उक्त सूत्र से सार्वधातुकसंज्ञक 'त' प्रत्यय का लुक् होने पर भी कर्म अर्थ की स्पष्ट प्रतीति हो रही है। इसी तरह कई बार विकरणों के अभाव में भी कर्ता आदि अर्थों की स्पष्ट प्रतीति देखी जाती है, जैसे - 'लविषीष्ट क्षेत्रम्' यहाँ लू धातु से आशीर्लिङ् में किसी विकरण के न होने पर भी कर्ता अर्थ की प्रतीति स्पष्ट देखी जा सकती है। इसी प्रकार कई बार सार्वधातुक तथा विकरण इन दोनों के अभाव में भी कर्ता आदि अर्थों का अवगम देखा जा सकता है, जैसे - 'अजागर्भवान्'। यहाँ 'जागृ' धातु से लङ् लकार में 'तिप्' परे रहते **'इतैः'**[6] सूत्र से इकारलोप तथा **'हल्ङ्याब्भ्यो'**[7] सूत्र से अपृक्त तकार का लोप होने पर **'जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु'**[8] सूत्र से गुण हो जाता है तो रेफ को विसर्ग होकर 'अजागः' यह इष्ट रूप बन जाता है। यहाँ

'शप्' विकरण के तथा सार्वधातुकसंज्ञक 'तिप्' प्रत्यय के न रहने पर भी कर्ता आदि अर्थों की स्पष्ट प्रतीति देखी जा सकती है और इसी प्रकार कहीं-कहीं तो सार्वधातुक तथा विकरण इन दोनों की सन्निधि में ही कर्ता आदि अर्थों का अनुभव होता है, जैसे – 'पचति' तथा 'पच्यते' यहाँ 'पच्' धातु से लट् लकार में सार्वधातुकसंज्ञक 'तिङ्' प्रत्यय (क्रमशः तिप् तथा 'त' प्रत्यय) और 'शप्' एवं 'यक्' रूप विकरण इन दोनों की विद्यमानता में ही क्रमशः कर्ता तथा कर्म अर्थों की प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में किसी एक विशेष निश्चय का अभाव होने से फिर यहाँ यह विचार किया जा रहा है कि उपर्युक्त पक्षों में से यहाँ कौन सा पक्ष माना जाए जिससे शास्त्र का विरोध न हो।

अब भाष्यवार्तिककार पहले भाव, कर्म और कर्ता इन अर्थों को सार्वधातुक का अर्थ मानने पर प्राप्त होने वाले दोष पर विचार करते हुए कहते हैं कि अच्छा यह बताइये कि इन दोनों उपर्युक्त पक्षों में क्या वैशिष्ट्य या विशेष है तो इसका उत्तर देने के लिए आगे वार्तिक है: 'भावकर्मकर्तारः सार्वधातुकार्थाश्चेदेकद्विबहुषु नियमानुपपत्तिरतदर्थत्वात्' इसका अर्थ है कि यदि भाव, कर्म और कर्ता इनको सार्वधातुक प्रत्ययों का अर्थ माना जाता है तो फिर 'तिप्', 'तस्', 'झि' इत्यादि ये जो सार्वधातुकसंज्ञक 18 तिङ् प्रत्यय हैं, **'बहुषु बहुवचनम्'**[9] तथा **'द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने'**[10] इन सूत्रों के अनुसार उनके एक, दो और बहुत अर्थों में नियम नहीं बन सकेगा अर्थात् भाव-कर्मादि अर्थों को सार्वधातुक का अर्थ मानने पर फिर 'तिप्', 'तस्', 'झि' इत्यादि सार्वधातुकसंज्ञक प्रत्ययों में पूर्वोक्त सूत्रों के अनुसार एकत्व अर्थ में ही एकवचन हो, अर्थान्तर में नहीं, द्वित्व अर्थ में ही द्विवचन हो, अर्थान्तर में नहीं तथा बहुत्व अर्थ में ही बहुवचन हो, अर्थान्तर में नहीं – यह नियम नहीं बन सकेगा। पूछते हैं कि क्या कारण है तो इसका उत्तर देते हैं कि उस अर्थ वाले न होने से अर्थात् तब 'तिप्', 'तस्', 'झि' इत्यादि सार्वधातुकसंज्ञक तिङ् प्रत्ययों के अर्थ केवल एकत्व, द्वित्व और बहुत्व ही नहीं होंगे, अपितु, भाव, कर्म और कर्ता अर्थ भी इनके होंगे। स्पष्ट है कि तब उपर्युक्त नियम नहीं बन सकेगा।

अब भाष्यवार्तिककार दूसरे पक्ष की दृष्टि से इन भाव और कर्म अर्थों को विकरण का अर्थ मानने पर प्राप्त होने वाले दोष पर विचार करते हुए कहते हैं कि अच्छा तो फिर अब हम इन भाव, कर्म तथा कर्तृरूप अर्थों को विकरणों का अर्थ मान लेते हैं। इस विषय में आगे वार्तिक है – **'विकरणार्था इति चेत् कृताऽभिहिते विकरणाभावः।'** इस वार्तिक का अर्थ है कि यदि भाव, कर्म और कर्ता इन अर्थों को विकरण का अर्थ माना जाता है तो फिर इन अर्थों के कृत्प्रत्ययों द्वारा अभिहित होने के कारण विकरण का अभाव प्राप्त होगा अर्थात् यदि भाव, कर्म और कर्ता इन अर्थो को 'शबादि' विकरणों का माना जाता है तो कृदन्त प्रत्ययों से भाव और कर्म आदि इन अर्थों का अभिधान हो जाने पर फिर 'शप्' विकरण नहीं प्राप्त होता है, जैसे – 'धारयः' तथा 'पारयः'। यहाँ क्रमशः णिजन्त 'धारि' तथा 'पारि' धातुओं से **'अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपारि.'**[11] इत्यादि सूत्र से कृत्संज्ञक 'श' प्रत्यय होने पर उसके सार्वधातुकसंज्ञक होने के कारण तथा उसके द्वारा **'कर्तरि कृत्'**[12] सूत्रानुसार कर्ता अर्थ का अभिधान होने से फिर 'उक्तार्थानामप्रयोगः' न्यायानुसार इसी कर्ता अर्थ का अभिधान करने वाला 'शप्' प्रत्यय नहीं प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में 'शप्' विकरण के न होने से फिर णिजन्त 'धारि' तथा 'पारि' धातुओं को अभीष्ट सार्वधातुकगुण नहीं हो सकेगा तो 'धारयः' तथा 'पारयः' ये अभीष्ट रूप नहीं बन सकेंगे।

इस पर भाष्यकार आपत्ति करते हैं कि यह आपने क्या कहा कि कृत्प्रत्ययों से भाव और कर्म आदि अर्थो का अभिधान होने पर फिर 'शप्' विकरण नहीं प्राप्त होता है। क्या 'तिबादि' लादेशों से भी भाव और कर्मादि अर्थों का अभिधान नहीं होता है? ऐसी स्थिति में फिर तो आपको वहाँ भी विकरणों के प्राप्त न हो पाने की यह समस्या उठानी चाहिए थी। भाव यह है कि **'लः कर्मणि च भावे च'**[13] सूत्रानुसार क्या लादेश अर्थात् 'तिबादि' द्वारा कर्ता आदि अर्थों का अभिधान होने पर भी फिर वहाँ 'शबादि' विकरण नहीं होते हैं, अपितु अवश्य होते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी कृत्प्रत्यय 'श' के द्वारा कर्ता का अभिधान होने पर भी 'शप्' विकरण अवश्य होता है। इस तरह लादेशों के द्वारा कर्ता का अभिधान होने पर फिर ये कर्ता आदि अर्थ विकरणों के अर्थ नहीं सिद्ध होते हैं। अत एव 'लिट्' इत्यादि लकारों में 'शप्' इत्यादि विकरणों के बिना ही कर्ता आदि अर्थों की प्रतीति होती है।

अब भाष्यकार भाव, कर्म तथा कर्ता इन अर्थों के विकरणार्थत्व के पक्ष में युक्ति देते हुए आगे कहते हैं कि आप 'तिबादि' लादेशों से भाव और कर्मादि अर्थों के अभिधान का आश्रय नहीं ले सकते हैं, क्योंकि यहाँ आपने

यह दूसरा पक्ष उठाया हुआ है कि भाव, कर्म और कर्ता ये अर्थ लादेश जो सार्वधातुक हैं, उनके अर्थ माने जाएँ या विकरणों के अर्थ माने जाएँ? अब यदि आप भाव, कर्म और कर्ता इन अर्थों को 'तिबादि' लादेशों का ही अर्थ मान लेते हैं तो तब तो यह दूसरा पक्ष उपपन्न नहीं हो सकता है। इस पर आक्षेप करते हैं कि यह उपर्युक्त दूसरा पक्ष कैसे नहीं बन सकता है जब आप स्वयं ही यह सूत्र कहते हैं- 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः।' इस सूत्र का अर्थ है कि लादेश अर्थात् 'ल' या लकार के स्थान में होने वाले 'तिबादि' 18 आदेश सकर्मक धातुओं से तो कर्म और कर्ता में होते हैं और अकर्मकों से भाव और कर्ता में। इससे तो स्पष्ट ही आपने भाव, कर्म तथा कर्ता अर्थों को सार्वधातुक का ही अर्थ मान लिया है। अब भाष्यकार इस आपत्ति का विशेष व्याख्यान द्वारा निराकरण करते हैं कि हम 'लः कर्मणि च' इस प्रकृत सूत्र की 'लः कर्मणो भावाच्चाऽकर्मकेभ्यः' इस प्रकार व्याख्या करेंगे। तदनुसार इसका अर्थ होगा कि सकर्मक धातुओं से तो कर्म अर्थ में वर्तमान विकरण से लादेश होते हैं और अकर्मक धातुओं से भाव अर्थ में वर्तमान विकरण से। इस तरह यहाँ भाष्यकार ने विकरण को ही कर्म आदि अर्थों का अभिधान करने वाला मान लिया है।

यहाँ यह कहना की 'तिबादि' लादेशरूप यह उपर्युक्त लकार तो सार्वधातुकनिमित्तक होता है। अतः इस सूत्र की उपर्युक्त व्याख्या कैसे हो सकेगी तो प्रदीपकार के अनुसार इसका उत्तर है कि लकार को करने पर 'सार्वधातुक' इस सप्तम्यन्त शब्द में विषयसप्तमी का आश्रयण करते हुए फिर विकरण को करने पर 'लः कर्मणि.' इस सूत्र द्वारा भाव, कर्म तथा कर्ता अर्थों का अभिधान करने वाले विकरण से परे होने वाला 'तिबादि' लादेश रूप लकार साधु होता है – ऐसा व्याख्यान करने से कोई दोष नहीं रहता है।

प्रकृत प्रसङ्ग को लेकर ही भाष्यकार आगे कहते हैं कि अच्छा तो फिर जिस लकार या 'तिबादि' लादेश परे रहते उनसे पूर्व ये विकरण नहीं सुनाई देते हैं वहाँ भाव, कर्म और कर्ता अर्थों का अभिधान कौन करेगा और इस तरह विकरण के उत्पन्न न होने से फिर 'तिबादि' रूप लादेशों का कहीं पर भी प्रयोग न होने के कारण उनका असाधुत्वप्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। अथवा आशीर्लिङ् तथा लिट् लकारों को बिना विकरणों के ही विधान करने के सामर्थ्य से यदि इन लादेशों का साधुत्व मान भी लिया जाए तो भी इनसे भाव और कर्म आदि अर्थों की अवगति तो सर्वथा नहीं हो सकेगीय क्योंकि 'कर्तरि कृत्' इस सूत्र के वचन से ये लादेश केवल कर्ता अर्थ को ही अभिहित कर सकते हैं। इस पर पूछते हैं कि कौन से 'तिबादि' लादेशरूप लकार में ये विकरण नहीं सुनाई देते हैं तो इसका उत्तर देते हैं कि ये जो लुग्विकरण अर्थात् अदादिगण के लकार हैं और 'श्लु' विकरण अर्थात् जुहोत्यादिगण के 'तिबादि' लादेश रूप लकार हैं, उनमें उक्त भाव और कर्मादि अर्थों का अभिधान कैसे होगा? इसके उत्तर में कहते हैं कि यहाँ भी 'शबादि' विकरणों द्वारा कर्तृरूप पूर्वोक्त अर्थो का अभिधान करके फिर इन विकरणों का लुक् हो जाएगा अर्थात् फिर यह लुक् ही दिखाई न देने वाले उदात्तचिन्हों की तरह अथवा 'दधि' तथा 'मधु' शब्दों में **'स्वमोर्नपुंसकात्'**[14] सूत्र से लुप्त हुए 'सु' तथा 'अम्' के समान उस कर्ता अर्थ को अभिहित करेगा। अथवा दूसरे शब्दों में – विकरणलोप के द्वारा फिर प्रकृति या स्वयं धातु ही वहाँ कर्ता आदि अर्थों का अभिधान करेगा। उसमें कहीं कोई दोष नहीं आता है।

अब भाष्यकार भाव और कर्मादि अर्थो के पूर्वोक्त विकरणार्थत्वपक्ष पर पुनः आपत्ति करते हैं कि अच्छा तो फिर जिस लकार के परे रहते विकरण उत्पन्न ही नहीं होते हैं वहाँ भाव, कर्म और कर्ता इन पूर्वोक्त अर्थो का कौन अभिधान करेगा? इस पर पूछते हैं कि ये विकरण कहाँ नहीं उत्पन्न होते हैं? इसका उत्तर देते हैं कि ये विकरण आशीर्लिङ् और लिट् लकारों में नहीं उत्पन्न होते हैं; क्योंकि ये दो लकार ही ऐसे हैं जिनकी सार्वधातुकसंज्ञा नहीं होती हैं, अपितु, **'लिङाशिषि'**[15] तथा **'लिट् च'**[16] इन सूत्रों के नियम से इनकी आर्धधातुकसंज्ञा होती है और इस आर्धधातुकसंज्ञा में 'शबादि' विकरण होते नहीं हैं। इसलिए ऐसा नहीं कह सकते हैं कि 'लः कर्मणि च.' सूत्र के नियमानुसार 'तिबादि' लादेशों से अर्थात् सार्वधातुकों से भाव और कर्मादि अर्थो का अभिधान नहीं होता है। ऐसी स्थिति में जब यह मानना ही पड़ेगा कि 'लः कर्मणि च.' सूत्र के अनुसार 'तिबादि' लादेश जोकि सार्वधातुक हैं, उनसे भी भाव, कर्म और कर्ता इन पूर्वोक्त अर्थों का अभिधान होता है तो फिर इन्हीं अर्थों को पुनः अभिहित करने के लिए 'उक्तार्थानामप्रयोगः' न्यायानुसार 'धारयः' तथा 'पारयः' इत्यादि पूर्वोक्त प्रयोगों में अभीष्ट 'शप्'

विकरण नहीं प्राप्त होगा – यह दोष प्राप्त होता है अर्थात् भाव, कर्म और कर्ता इन पूर्वोक्त अर्थों के विकरणार्थत्वपक्ष में 'कर्तरि शप्' इत्यादि विकरणविधायक सूत्रों के व्यर्थ होने से यहाँ यह दोष प्राप्त होता है।

अब भाष्यकार भाव, कर्म तथा कर्ता इन पूर्वोक्त अर्थों के उपर्युक्त विकरणार्थत्वपक्ष को ही प्रकारान्तर से सुसंगत करते हुए युक्ति देते हैं कि अच्छा तो फिर ऐसा कर लेते हैं कि भाव तथा कर्म अर्थों में तो 'तिबादि' लादेशों को मान लिया जाए और कर्ता अर्थ में विकरण मान लिया जाएँ। इसी प्रकार जब कर्ता अर्थ में लादेश हों तो भाव तथा कर्म अर्थों में विकरण मान लिए जाएँ। तदनुसार जैसे 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' यहाँ 'गम्' धातु के 'देवदत्तरूप' कर्ता और 'ग्राम' रूप कर्म साधन या कारक हैं। यहाँ 'तिबादि' लादेश तो कर्ता अर्थ को कहते हैं तथा कर्म अर्थ को अभिहित करने में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार प्रकृत उपर्युक्त पक्ष में भी एक कर्ता अर्थ में तो सार्वधातुकसंज्ञक 'तिबादि' लादेश होते हैं तथा दूसरे कर्म अर्थ को कहने में विकरण मान लिए जाएंगे। इस तरह इन भाव और कर्म आदि अर्थों को विकरणों का भी अर्थ माना जा सकता है।

अब भाष्यकार भाव, कर्म तथा कर्ता इन पूर्वोक्त अर्थो को सार्वधातुकसंज्ञक प्रत्ययों का निर्दोष अर्थ प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि परन्तु उपर्युक्त बात को मानने पर तो बहुत अनिष्ट या गड़बड़झाला हो जाएगाय क्योंकि चाहे तो अर्थो का अभिधान स्वाभाविक या लोकव्युत्पत्तिसिद्ध मान लिया जाए या फिर चाहे व्याकरणान्तरों के समान वाचनिक अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय दोनों मिलकर ही मुख्य रूप से प्रत्यय के प्रतीयमान अर्थ को बताते हैं अथवा उसे एकोपस्थितिविषय करते हैं-ऐसा मान लिया जाएय क्योंकि लोक में वैसी ही व्युत्पत्ति देखी जाती हैं, यह सम्भव नहीं है कि एक ही प्रकृति या धातु परस्पर विरुद्ध या भिन्न-भिन्न अर्थो को एक-साथ मिलकर कथन या अभिहित कर दे। इस प्रकार इस गड़बड़ को रोकने के लिए फिर एक ही यह पक्ष निश्चित बनता है कि ये भाव, कर्म और कर्ता अर्थ केवल सार्वधातुकों के ही हैं, विकरणों के नहीं।

प्रदीपकार के अनुसार भाव यह है कि जहाँ तो कर्ता तथा कर्मरूप कारकों का अभिधान दो पदों द्वारा पृथक-पृथक् किया जाता है वहाँ तो इन अर्थों का परस्पर कोई विरोध न होने से तन्मूलक कार्य में भेद होना ठीक है। तदनुसार जैसे 'पचति' यहाँ तो पाकक्रियाविशिष्ट कर्ता अभिहित हो रहा है तथा 'पच्यते' यहाँ पाकक्रियाविशिष्ट कर्म; जबकि एक ही उपर्युक्त 'पच्' धातु के द्वारा एक-साथ पाकक्रियाविशिष्ट कर्तृकर्मरूप साधन या कारकद्वय को प्रतिपादित या अभिहित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत जहाँ पद तो एक है परन्तु उसमें प्रयुक्त विकरण तथा सार्वधातुक परस्पर विरुद्ध अर्थो का प्रतिपादन करने वाले हैं, उस अवस्था में इन दोनों के द्वारा अपने-अपने विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने पर वहाँ प्रत्यय के द्वारा प्रकृति या धातु की सहायता न कर पाने की स्थिति में फिर प्रकृति तथा प्रत्यय के द्वारा अर्थबोध के प्रसङ्ग में परस्पर उपकार न करने से पद का प्रयोग ही नहीं हो सकेगा।

अब भाष्यवार्तिककार भाव, कर्म तथा कर्ता अर्थों को सार्वधातुक का अर्थ मानने वाले पूर्वोक्त पक्ष में प्राप्त होने वाले उपर्युक्त दोष को निरस्त करते हुए वार्तिक पढ़ते हैं। तदनुसार भाव, कर्म और कर्ता इन अर्थों को सार्वधातुक का अर्थ मानने पर यह जो अभी पहले दोष दिया गया था कि तब एकत्व में ही एकवचन हो, अर्थान्तर में नहीं; द्वित्व में ही द्विवचन हो, अर्थान्तर में नहीं तथा बहुत्व में ही बहुवचन हो, अर्थान्तर में नहीं ये नियम नहीं-बन सकेंगे तो इसके उत्तर में कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं हैं; क्योंकि-'सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम्' इसका अर्थ है कि सुप् प्रत्ययों के कर्म आदि अर्थ भी होते हैं तथा वचन या संख्या भी। ऐसे ही ये दोनों उक्त अर्थ तिङ् प्रत्ययों के भी अर्थ होते हैं अर्थात् सुपों के और तिङों के कर्मादि कारक भी अर्थ होते हैं और संख्या भी अर्थ होता है। इसी प्रकार आगे कहा गया है – 'प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु वा' अर्थात् जब सुबन्तों के और तिङन्तों के कर्मादिकारक और उनकी एकत्व आदि संख्या ये दोनों ही अर्थ होते हैं तो फिर उन अर्थों में प्रत्ययनियम को छोड़कर प्रसिद्ध जो अर्थनियम है, वह यहाँ मान लिया जाएगा। अथवा प्रकृत या वर्तमान कर्मादिकारकों या अर्थो की अपेक्षा से यहाँ नियम करेंगे। पूछते हैं कि वे प्रकृत अर्थ क्या हैं? तो इसका उत्तर देते हैं कि यहाँ एकत्व आदि संख्या ही प्रकृत अर्थ हैं। तदनुसार कर्मादि के एकत्व में एकवचन ही हो, द्वित्व में द्विवचन ही हो और बहुत्व में बहुवचन ही हो- इस प्रकार यहाँ एकत्वादिसंख्यापरक अर्थनियम हो जाएगा। अब इन दोनों अर्थों में कर्मादिकारक मुख्य रहेंगे और उनकी संख्या गौण होगी तो इस तरह इनके कर्मादि अर्थ भी बने रहेंगे और उनके एकत्वादि अर्थ

भी बने रहेंगे। यहाँ कर्मादि अर्थान्तर के निर्देश के कारण प्रत्ययनियम तो सर्वथा नहीं होगा। इनमें प्रत्ययनियम का स्वरूप यह है कि एकवचन एकत्वार्थ में ही हो इत्यादि और अर्थनियम का स्वरूप यह है कि एकत्व अर्थ में एकवचन ही हो इत्यादि। इससे एकत्व अर्थ में कभी द्विवचन नहीं होगा। इस तरह इन तिङ् या सार्वधातुकसंज्ञक प्रत्ययों के कर्मादि कारक भी इनके अर्थ बने रहेंगे और संख्या तो इनका अपना अर्थ है ही। इनमें केवल गुणप्रधानभाव का ही भेद है। फलतः इस पक्ष में अर्थनियम उपपन्न न होने वाला पूर्वोक्त दोष परिहृत हो जाता है। इस प्रकार यहाँ भाव, कर्म तथा कर्ता अर्थों का सार्वधातुकार्थत्वपक्ष सर्वथा ही निर्दुष्ट सिद्ध हो जाता है।

पूर्व विभागाध्यक्ष एवं अधिष्ठाता,
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

सन्दर्भ सूची

1. पा. 3–1–67
2. वही, 3–4–113
3. वही, 3–1–68
4. वही, 6–4–105
5. वही, 6–4–104
6. वही, 3–4–100
7. वही, 6–1–68
8. वही, 7–3–85
9. वही, 1–4–21
10. वही, 1–4–22
11. वही, 3–1–138
12. वही, 3–4–67
13. वही, 3–4–69
14 वही, 7–1–33
15. वही, 3–4–116
16. वही, 3–4–115

शोध-पत्र

गृह्यसूत्रगत आर्ष-अनार्ष-विमर्श

प्रो. वीरेन्द्र कुमार अलंकार

वेदाङ्ग साहित्य में गृह्यसूत्रों का प्रमुख उपयोग याज्ञिक विधानों के अवबोध के लिए है। गृह्यसूत्रों में अनेक विषय ऐसे भी उपस्थित होते हैं, जिन्हें वेदानुकूल कहने में संकोच होता है। वैदिक साहित्य की उपयोगिता का मूल्यांकन तभी सम्भव है, जब समूचे वैदिक साहित्य में एकान्विति मानी जाए। वेद में जो कुछ प्रतिपादित है, उसकी संगति या अनुकूलता परवर्ती साहित्य कहाँ तक कर पाया है, यही विचार महत्त्वपूर्ण है। जहाँ वह विचार वेद के प्रतिकूल दिखाई दे, वह चिन्त्य हो जाता है। इसीलिए वैदिक आचार्यों ने वेद को अन्त:प्रमाण मानकर तथा अन्य सम्पूर्ण साहित्य को परत:प्रमाण मानकर विवेचन आरम्भ किया है। इसी दृष्टि को आर्ष पद्धति कहते हैं।

एकान्विति अथवा एकसूत्रता के अभाव में स्मृतियों में, आस्तिक दर्शनों में भी विरोध बढ़ता जाएगा। इस सम्पूर्ण साहित्य में 'तात्पर्य' प्रमुख तत्त्व है। यदि कोरा शब्दानुवाद किया तो दार्शनिक मतभेद बढ़ते जायेंगे। इसी का परिणाम है कि सेश्वरसांख्य और निरीश्वरसांख्य जैसी प्रकल्पनाएँ पीछा नहीं छोड़ रही हैं।

गृह्यसूत्रों की भी यही स्थिति है। अनेक स्थलों पर भ्रान्तियाँ दिखाई देती हैं। इसका समाधान इस पर निर्भर करता है कि इनके व्याख्यान में जहाँ जहाँ वेदानुकूलता स्पष्ट दिखाई पड़े, उन्हें सिद्धान्तपक्ष मान लिया जाए और सन्दिग्ध स्थलों पर शास्त्रवचन मानकर विश्वास न किया जाए, बल्कि उन्हें चिन्त्यकोटि में रख लिया जाए। अधिक शास्त्रस्तुति से प्रस्तुति प्रभावित होती है। इसलिए श्रद्धा रखते हुए भी तार्किक दृष्टि से विचार होना चाहिए। यदि निरुक्तकार के वचन 'तर्क: ऋषि:' को आदर्श मान लें तो यह भी स्वत: स्फुरित हो जाएगा कि तर्कशीलता भी आर्ष पद्धति है।

गृह्यसूत्रों के तत्त्वार्थ को समझने के लिए उनकी शैली को जानना आवश्यक है। इसलिए यहाँ कुछ बातें ध्यातव्य हैं:-

1. गृह्यसूत्रों की अर्थवादशैली है। इसलिए प्रत्येक पंक्ति विध्यात्मक नहीं है।

2. गृह्यसूत्रों में प्राय: सिद्धान्तपक्ष के साथ-साथ अवैदिक रीतियाँ भी वर्णित हैं।

3. गृह्यसूत्रों के वचनों का पृथक्त: अर्थ न करके प्रसंग की पृष्ठभूमि अवश्य देखनी चाहिए।

4. गृह्यसूत्र प्राय: सूत्रात्मक हैं। इसलिए अनुवाद में अपूर्णता की सम्भावना हो सकती है।

5. पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसलिए प्रत्येक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ सम्भव नहीं है।

6. निर्वचन सहायक हैं, किन्तु कुछ टीकाकारों के निर्वचनों ने विषय को अस्पष्ट भी कर दिया है।

7. प्रक्षेप की सम्भावनाओं पर विचार होना चाहिए।

8. भाषा में सर्वत्र अभिधार्थ सम्भव नहीं है।

9. गृह्यसूत्रों के सारे वचन 'सिद्धान्त' नहीं हैं। अनेक वचन तत्कालीन रीतिरिवाजपरक भी हैं, कुछ उनमें अवैदिक भी हैं।

निष्पक्षतापूर्ण विचार से कभी-कभी आस्था और विश्वास आहत होते ही हैं। पुनरपि संवाद और चिन्तन से अनेक मैली परतें उठानी ही चाहिए। संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन में यह तो सर्वस्वीकार्य है कि अनुवादमात्र से या अभिधार्थमात्र से अनेक विसंगतियाँ जन्म ले लेती हैं। उदाहरण के लिए

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

'एक: शब्द: सम्यग् ज्ञात: सुप्रयुक्त: स्वर्गे लोके कामधुग् भवति' यह पढ़कर यदि यह मान लिया जाए कि जिसे एक शब्द का भी सम्यग् ज्ञान हो गया और सही प्रयोग करने लगा तो वह स्वर्ग प्राप्त करेगा या 'स्वर्गकामो यजेत' का अर्थ यह कर दिया जाए कि जिसे स्वर्ग चाहिए वह आज यज्ञ कर ले, तो सम्पूर्ण शास्त्र अर्थहीन हो जाएगा। इसलिए मूल तात्पर्य को समझने के लिए भाष्य की परम्परा है। भाष्य में मूल प्रवक्ता का तात्पर्यार्थ समझाने का प्रयास होता है, यही आर्ष दृष्टि है। अब तात्पर्यार्थ जानने पर यदि यज्ञ अध्वरात्मक हैं तो गृह्यसूत्रों में ध्वर-हिंसा सिद्धान्तपक्ष कैसे हो सकता है। पाणिनि को पढ़े बिना सीधा महाभाष्य पढ़ने वाले और वेद की आत्मा को जाने बिना सीधा गृह्यसूत्र का व्याख्यान करने वाले विद्वान् पदे पदे भ्रान्त होंगे। इससे इतने अन्तर्विरोध बढ़ेंगे कि समाधान के मार्ग दीखने ही बन्द हो जाएंगे। यही स्थिति अनार्ष व्याख्यान की भूमि तैयार करती है।

प्रस्तुत शोधपत्र में कुछ ही प्रसंगों पर विचार किया गया है। ये हैं अन्नप्राशन, पुंसवन, मधुपर्क, सर्पबलि और शूलगव।

(अ) अन्नप्राशन-

यह संस्कार छठे मास में किया जाता है-षष्ठे मास्यन्नप्राशनम्,[1] षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्।[2] इस संस्कार में विचारणीय स्थल ये हैं -

1. आश्वलायन के अनुसार पुत्र का अन्नप्राशन मन्त्रसहित और पुत्री का मन्त्ररहित किया जाए - आव्रतैव कुमार्यै।[3] इसके वृत्तिकार नारायण लिखते हैं - **कुमार्यास्त्वमन्त्रकमन्न-प्राशनं कार्यमित्यर्थ:।**[4]

वृत्तिकार की यह व्याख्या अनार्ष प्रतीत होती है। वेद में जहाँ स्त्री को सम्राज्ञी तक कहा गया, वहाँ ऐसी प्रकल्पना संगत प्रतीत नहीं होती। टीकाकार ने 'आवृता' शब्द का अर्थ अमन्त्रक अन्नप्राशन कैसे कर दिया? यह चिन्त्य है। व्याकरण की दृष्टि से भी यह अर्थ कैसे सम्भव है? बल्कि यह अर्थसम्भावना अधिक ठीक है कि आवृता कुमार्यै अर्थात् कुमारी के लिए भी यही पद्धति आवृता = स्वीकृत है। दूसरी बात यह है कि आश्वलायन के अतिरिक्त अन्य किसी गृह्यसूत्रकार (आपस्तम्ब, शांखायन, पारस्कर, मानव, गोभिल आदि) ने इस प्रकार का पुत्र-पुत्री भेद नहीं किया है। इसलिए वृत्तिकार नारायण का यह मत सर्वथा अनार्ष अथवा अवैदिक प्रतीत होता है।

2. अन्नप्राशनसंस्कार में मांसाशन सम्बन्धी सर्वाधिक सन्दिग्ध स्थल दिखाई देते हैं। पारस्कर, शांखायन, आपस्तम्ब और कौषीतक ने लिखा है कि अन्नादि की प्राप्ति के लिए अज का मांस, तेजस् के लिए तित्तिर का मांस, वेगवान् हेतु मत्स्य का मांस खिलाया जाए।[5]

इन प्रसंगों को देखकर कुछ वैदिक इतिहासकारों, कुछ वेदभाष्यकारों और दूसरे वेदविदों ने यह सैद्धान्तिक रूप से कह दिया कि मांसाशन वेदसम्मत है। वस्तुत: इन स्थलों की मीमांसा आर्ष-अनार्ष का विभेद जाने बिना नहीं हो सकती। यहाँ आपका ध्यान निम्न बिन्दुओं पर अपेक्षित है-

(क) शांखायन में ही लिखा है- **अमांसाऽऽशी ब्रह्मचारी।**[6] एक ही ग्रन्थ में एक स्थल पर मांसनिषेध और दूसरी जगह मांसाशन - ये दो बातें क्या सम्भव हैं? फिर एक को इन तथाकथित वेदविदों (अनार्ष व्याख्याताओं) ने प्रमाण मान लिया, दूसरे को नहीं, यह कैसा न्याय?

(ख) क्या मांसाशन की अनुकूलता वेद और वैदिक ऋषियों से है? यदि नहीं तो ऐसे वचन प्रमाण नहीं हैं। अत: ऐसे प्रसंग प्रक्षेप भी हो सकते हैं।

(ग) क्या छह मास के बच्चे के लिए मांसाशनविधान में कोई युक्तता है?

(घ) गृह्यसूत्रों में पशु का अर्थ सर्वथा पशु नहीं है, बल्कि पशुगुणक कर्म[7] भी है, तो क्या अज का अर्थ अजगुणक कर्म नहीं हो सकता?

(ङ) वेद में मांस का अर्थ सर्वत्र मांस (Flesh) नहीं है। शतपथब्राह्मण में मांस का अर्थ है - **मांसं वै पुरीषम्** (8.6.2.14), **मांसं सादनम्** (8.1.4.5), **अन्नम् उपशोर्मासम्** (7.5.2)। इस स्थिति में मांस अर्थ ही कैसे ग्राह्य हैं? वैदिक भाष्यों में मांस का अर्थ है- मांस, उत्तम अन्न, उत्तम रस, पुरीष, सादन, रसीला पदार्थ।[8]

(च) सभी गृह्यकारों ने **अन्नपते** (यजुर्वेद-11.83) आदि अन्नसम्बन्धी मन्त्रों का ही विनियोग किया है। किसी भी सूत्रकार ने एक भी मन्त्र मांससम्बन्धी नहीं दिया है। इसलिए प्रचलित मांस अर्थ ग्राह्य नहीं है। वेद में **अश्व** का अर्थ राष्ट्र, विष्णु का अर्थ यज्ञ भी है और **आप:** का अर्थ स्त्री भी है। तभी तो अप्सरा का अर्थ ठीक बैठेगा।

(छ) यदि मांस का भक्षण वैदिक होता तो किसी भी गृह्यसूत्रकार ने इसे मांसप्राशन संस्कार क्यों नहीं कहा, सभी ने अन्नप्राशन संस्कार कहा है।

(ज) अन्नप्राशन में यज्ञीय विधि सम्पन्न होती है और

यज्ञ अध्वर है। अतः इसमें ध्वर अर्थात् हिंसा की कल्पना भी समीचीन नहीं है।

(झ) गृह्यसूत्रों की शैली यह है कि उनका प्रथम वचन सिद्धान्तपक्ष है और शेष वचन इस बात के ज्ञापक हैं कि कुछ लोग ऐसा समाज में मानते हैं अथवा पहले वे कहीं-कहीं प्रचलित अवैदिक बातें करते हैं और अन्त में सिद्धान्त पक्ष। देखिए आपस्तम्ब की शैली - **जन्मनोऽधि षष्ठे मासि ब्राह्मणान् भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा दधि, मधु घृतमोदनमिति संसृज्योत्तरैर्मन्त्रैः कुमारं प्राशयेत्॥1॥ तैत्तिरेण मांसेनेत्येके॥2॥** क्या इसका सीधा स्पष्ट अर्थ यह नहीं है कि दही, मधु, घृत, ओदन बच्चे को खिलाया जाए। फिर दूसरे वचन में कहा है कि कुछ लोग कहते हैं तित्तिर का मांस खिलाएं। यहाँ यह अर्थापत्ति स्वाभाविक है कि यह हमें मान्य नहीं है। अतः कुछ लोग वेद के नाम पर अवैदिक आचरण भी कर रहे थे, इससे केवल यही ज्ञापित है। जैसे आज वैदिक यज्ञों का व्याख्याता कहे कि कुछ लोग शतचण्डी या सहस्रचण्डी यज्ञ भी करते हैं - **शतचण्डी सहस्रचण्डी वा, इत्येके।** इसका तात्पर्य यही है कि यह लोक में प्रचलित है। इसे सिद्धान्त पक्ष कैसे माना जा सकता है। वेदाध्येता जानता है कि यह अवैदिक है।

इसी प्रकार कुछ आचार्य पहले पूर्वपक्ष देते हैं फिर सिद्धान्तपक्ष। यहाँ पारस्कर को देखिए- **भारद्वाज्यमांसेन वाक्प्रसारकामस्य** (1.19.7), **कपिञ्जलमांसेनाऽन्नाद्य-कामस्य** (1.19.8), **मत्स्यैर्जवनकामस्य** (1.19.9), **कृकषाया आयुष्कामस्य** (1.19.10), **आट्या ब्रह्मवर्चसकामस्य** (1. 19.11), **सर्वैः सर्वकामस्य** (1.19.12)। इस पूर्वपक्ष के बाद पारस्कर ने सिद्धान्त मत दिया - **अन्नपर्यायो वा ततो ब्राह्मणभोजनम्** (1.19.13) अर्थात् सात्त्विक लोगों का जो भोजन है, वही अन्न का पर्याय है, वही प्राशन कराना चाहिए।

मेरी यह धारणा बनी है कि यह गृह्यकारों की शैली है कि वे प्रथमतः सिद्धान्तपक्ष देकर पूर्वपक्ष की सूचनामात्र देते हैं या पहले पूर्वपक्ष की सूचना देकर सिद्धान्तपक्ष देते हैं। इन सारे वचनों को सिद्धान्त मानना अनार्ष है। ओल्डनबर्ग ने यहाँ केवल शब्दार्थ कर दिया कि - He feeds the child with flesh of the bird called bhāradvājī, if he wishes (to the child) fluency of speech आदि। इस प्रकार वेदार्थ की सम्यक् संगति आर्ष दृष्टि से ही संभव है। शब्दार्थमात्र की विद्वत्ता से वेदरहस्य का उद्घाटन सम्भव नहीं है। वेद के तात्पर्य के साथ इन प्रसंगों की संगति लगाते तो इतना अनर्थ नहीं होता। सुश्रुत करते हैं कि हल्का और हितकारी अन्न दिया जाए- **षण्मासं चौनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च।**[9]

(आ) पुंसवनः - इस संस्कार पर मुख्य आक्षेप यह है कि यह संस्कार पुत्रप्राप्ति के लिए है, पुत्री के लिए नहीं। इस आक्षेप का कारण अवैदिक अथवा अनार्ष चिन्तन ही है। यदि सचमुच यह संस्कार पुत्र के लिए ही है तो इस संस्कार का कोई औचित्य नहीं, क्योंकि संस्कार से गर्भस्थ लिंग का परिवर्तन मानना सर्वथा अव्यावहारिक है। यहाँ निम्न बिन्दु ध्यातव्य हैं-

1. आपस्तम्ब, पारस्कर, आश्वलायन, गोभिल और शांखायन ने कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया है कि यह संस्कार पुत्रप्राप्ति के लिए है।

2. यह संस्कार द्वितीय, तृतीय या आठवें मास में किया जाता है- **पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा**[10], **तृतीये मासि पुंसवनम्**[11], **अष्टमे गर्भमासे जयप्रभृति-भिर्हुत्वा.....।**[12] यदि यह पुत्रप्राप्ति के लिए होता तो आठवें मास में इस संस्कार का क्या औचित्य था, क्योंकि आठवें मास तक गर्भस्थ शिशु का लिङ्गनिर्धारण हो चुका होता है। इसलिए यह संस्कार पुत्रार्थ नहीं है।

3. पुत्र की कामना गृह्यसूत्रों की नहीं, बल्कि टीकाकारों की देन है। आश्वलायन का पाठ है- **उपनिषदि गर्भलम्भनं पुंसवनमनवलोभनं च।**[13] इसके प्रसिद्ध टीकाकार नारायण ने अपनी वृत्ति में 'पुंसवन' का यह निर्वचन कर दिया कि **पुमान् लब्धो जायते येन तत्पुंसवनम्।** यहाँ पुत्रलब्धि कैसे अर्थ हो गया, यह विचारणीय है, क्योंकि 'अवन' का प्रसिद्धार्थ रक्षण है, उपलब्धि नहीं है। इस समस्या को आपस्तम्ब के टीकाकार हरदत्त मिश्र और सुदर्शनाचार्य ने और बढ़ा दिया। आपस्तम्ब की उक्ति है- **पुंसुवनं व्यक्ते गर्भे तिष्येण।**[14] हरदत्त मिश्र ने यह निर्वचन कर दिया कि- **पुमान् येन सूयते तत्पुंसुवनं नाम कर्म।** सुदर्शनाचार्य ने भी समर्थन कर दिया कि- **येन कर्मणा निमित्तेन गर्भिणी पुमांसमेव सूते तत्पुंसुवनम्।** आपस्तम्ब ने 'पुंसुवनम्' शब्द का प्रयोग किया है। अतः समस्या यह थी कि 'सुवन' शब्द को व्याकरण से कैसे साधा जाए। अब इसका समाधान भी हरदत्त मिश्र और सुदर्शन ने कल्पित कर लिया कि **उवङादेशश्छान्दसः** इसी के आधार पर हिन्दी

व्याख्याकार उमेशचन्द्र पाण्डेय ने मूल सूत्र का अर्थ कर दिया कि- (पुत्र-प्राप्ति के लिए) पुंसवन संस्कार उस समय किया जाता है, जब गर्भ स्पष्ट हो गया हो। जबकि सूत्र में पुत्रप्राप्ति पठित ही नहीं है। पारस्कर में कहीं भी नहीं लिखा कि यह संस्कार पुत्र की प्राप्ति के लिए है, पर ओल्डनबर्ग ने अथ पुंसवनम् (1.14.1) सूत्र का स्वयं ही यह अर्थ न जाने कहाँ से कल्पित कर लिया कि- Now the Pumsavana i.e. the ceremony to secure the birth of a mail child.[15]

4. पुंसवन का अर्थ 'पुत्र' ग्राह्य नहीं' इसमें वाग्व्यवहार भी प्रमाण हैं। पुंल्लिगी शब्द सामान्यार्थ (स्त्री-पुरुष) के वाचक हैं, जबकि स्त्रीलिङ्गी शब्द केवल स्त्री-अर्थ के। जैसे 'सब अध्यापक यहाँ एकत्र होवें' इस पुंल्लिगी अध्यापक शब्द से स्त्री-पुरुष उभयविध अध्यापक ग्राह्य है, जबकि 'यहाँ अध्यापिकाएँ एकत्र हों' वाक्य द्वारा स्त्री अध्यापक ही अभिप्रेत हैं। 'पितृतर्पण' का अर्थ माता-पिता दोनों हैं, जबकि मातृतर्पण में पिता अर्थ गृहीत नहीं है। इसी प्रकार पुंसवन में केवल सन्तान अर्थ ही ग्राह्य है।

5. आपस्तम्ब में पुंसुवन पाठ है जिसकी निरुक्ति हरदत्त मिश्र और सुदर्शनाचार्य ने 'पुमान् येन सूयते तत्पुंसवनम्' और 'येन कर्मणा निमित्तेन गर्भिणी पुंमासमेव सूते तत्पुंसवनम्' की है, किन्तु स्वयं ग्रन्थकार ने पुंसुवन की यह निरुक्ति आगे सूत्र में की है-**क्षिप्रं सुवनम्** (6.13)। इसका अर्थ है जिससे गर्भिणी सन्तान को बिना अधिक पीड़ा के शीघ्र जनती है- उसे कहते हैं- क्षिप्रंसुवनम् और यही परिवर्तित होकर हो गया- पुंसुवनम्। इससे पूर्ववर्ती सूत्र **पुमांसं जनयति** (6.12) की टीका में हरदत्त मिश्र और सुदर्शनचार्य ने यह कहा है कि यह केवल अर्थवाद है।

6. दयाननद सरस्वती ने पुंसवन का यह अर्थ किया है - पुंसवन संस्कार का समय गर्भस्थिति ज्ञान हुए समय से दूसरे या तीसरे महीने में है, उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिए जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जाएँ तब तक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे, भोजन, छादन, शयन जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे जिससे वीर्य स्थिर रहे और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे।[16] स्वामी जी ने ब्राह्मणवचन और अथर्ववेद (6. 2.21) के प्रमाण अपनी पुष्टि में देकर लिखा है कि- इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिए।

स्वामी जी के कथन का तात्पर्य यह है कि जब दूसरे तीसरे मास गर्भ का पता चल जावे तो पति अपने पौरुष (वीर्य) की रक्षा का व्रत लेवे और वह ब्रह्मचारीवत् आचरण करे स्त्रीसंसर्ग सर्वथा त्यागे, जिससे गर्भस्थ शिशु पर कामुकता और विषयविलास के संस्कार न पड़े।

(इ) मधुपर्क - विवाह संस्कार में मधुपर्क दिया जाता है। इस प्रसंग में आश्वलायन और शांखायन के कथन चिन्त्य हैं। आश्वलायन ने कहा है कि- **नामांसो मधुपर्को भवति**[17] और शांखायन कहते हैं कि- **नामांसोऽर्घः स्यात्।**[18]

यदि आर्षपद्धति से सहमत हैं, तो सीधा सा समाधान यह है कि यह मत सर्वथा अवैदिक है। किन्तु आश्वलायन के उक्त कथन पर नारायणवृत्ति ने अपनी मुहर लगा दी, नारायण लिखते हैं - **मधुपर्काङ्गं भोजनममांसं न भवतीत्यर्थः। कुतः। मांसस्य भोजनाङ्गत्वेन लोके प्रसिद्धत्वात्। अनेनाभ्युपायेन भोजनमप्यत्र विहितं भवति। पशुकरणपक्षे तन्मांसेन भोजनम्। उत्सर्जनपक्षे मांसान्तरेण।**

वस्तुतः यह सिद्धान्तपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि जिस शास्त्र का अध्ययन किया जाए, उसी दृष्टि से अर्थ समझा जाए। एक ही पुरुष शब्द का अर्थ सांख्य में अन्य है और वेद में अन्य। इसलिए यहाँ टीकाकार निश्चयेन भ्रान्त हुए हैं। अन्नप्राशन के सन्दर्भ में यह बताया जा चुका है कि वेद में मांस का अर्थ रसीला अथवा उत्तम अन्न भी है। अब अर्थ कीजिए कि मधुपर्क अमांस (रसहीन) नहीं होना चाहिए। हाँ, यदि मांस का अर्थ किसी पशु-पक्षी का मांस ही है, तो वेदाननुकूल होने से यह आर्षसिद्धान्त नहीं है, चाहे वह किसी का भी वचन हो।

शांखायन ने एक समस्या और पैदा कर दी। वहाँ एक विषय पशुकर्म[19] दिया गया है, जिसमें मनु का नाम लेकर पशुमांस की ही बात की गई है। इस बिन्दु में छः श्लोक हैं और पहला ही श्लोक हैं –

मधुपर्के च सोमे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यव्रवीन्मनुः॥

यहाँ 'पशवो हिस्याः' कहने से मांस अर्थ पर कोई सन्देह नहीं है। इस सन्दर्भ में हमारा मानना है कि यह पूरा 'पशुकर्म' विषय प्रक्षिप्त है। इसका हेतु यह है कि पूरा शांखायन गृह्यसूत्र सूत्रशैली में लिखित है। इसमें केवल दो ही विषय पशुकर्म और अतिथिकर्म श्लोकों में हैं। शांखायन की श्लोकशैली है ही नहीं, इसलिए यह प्रमत्तगीतमेव

केवलम्। यह किसी मांसभक्षी द्वारा मिलावट की गई हैं। यह ध्यातव्य है कि मनु ने तो पशुहिंसा का साक्षात् निषेध किया है –

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।।[20]

मांसभक्षण का गृह्यसूत्रों में विरोध या निषेध भी दिखाई देता है। गोभिल में ब्रह्मचारी को क्या-क्या नहीं करना चाहिए; इसकी सूत्रात्मक सूची दी गई है – **क्रोधानृते वर्जय। मैथुनम्। उपरिशय्याम्। कौशीलवगन्धाञ्जनानि। स्नानम्। अवलेखनदन्तप्रक्षालनपादप्रक्षालनानि। क्षुरकृत्यम्। मधुमांसे।**[21]

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर 'मधुपर्क' क्या है? इसका समाधान आपस्तम्ब ने किया है- दही और मधु काँसे के बर्तन में मिलाकर मधुपर्क तैयार होता है। कुछ इसमें घी का सम्मिश्रण भी मानते हैं। कुछ मधुपर्क में पाँच पदार्थ मानते हैं- दही, मधु, घी, धान और सक्तू। **दधि मध्विति संसृज्य कांस्येन वर्षीयसा पिधाय कूर्चाभ्यां परिगह्य मधुपर्क इति प्राह। त्रिवृतमेके घृतं च। पाङ्क्तमेके धानास्सक्तूंश्च।**[22] मधुपर्क में मांस सम्भव ही नहीं है क्योंकि आश्वलायन ने जो यह कहा था-**नामांसो मधुपर्को भवति** (1.24-26)। वही आश्वलायन इससे पूर्व मधुपर्क का स्वरूप बता चुके हैं कि दहि और मधु या दहि और घृत ही मधुपर्क है – **दधनि मध्वानीय। सर्पिर्वा मध्वलाभे।**[23] अतः स्पष्ट है कि इन विरोधी वचनों में सिद्धान्त पक्ष एक ही हो सकता है।

(ई) सर्पबलि/सर्पयागः –

यह विधि श्रावण में की जाती है। इसलिए इसे श्रवणाकर्म भी कहा गया है। **अथातः श्रवणाकर्म। श्रावण्यां पौर्णमास्याम्।**[24] मानवगृह्यसूत्र में कहा गया है कि **सर्पेभ्यो बिभ्यत् श्रावण्याम्।**[25] अर्थात् सर्पो से डरता हुआ मनुष्य यह कर्म करे, ताकि सर्प उसे डस न ले। यह बड़ा हास्यास्पद सा प्रतीत होता है, क्योंकि क्या किसी कर्मकाण्ड से सर्प डँसना छोड़ देगा? वस्तुतः यहाँ भी अभिप्रायार्थ ग्राह्य है। श्रावण मास में सर्प पर्याप्त हो जाते हैं। सर्प से तात्पर्य सर्प आदि प्राणी हैं। उनकी रक्षा करना भी गृहस्थ का कर्तव्य है। अकारण उन्हें नहीं मारना चाहिए। यहाँ सर्पबलि या सर्पयाग का अर्थ यज्ञ में सर्प की बलि देना नहीं है। पशुयाग का अर्थ भी पशुओं की बलि देना नहीं है। यदि पशुयाग का अर्थ पशुओं की बलि मान लिया तो पितृयाग और अतिथियाग का क्या अर्थ होगा?

यह सच है कि याग रूप कर्मकाण्डीय विधि से न भय खत्म होगा और न ही शान्ति की प्राप्ति। ये कृत्य संकल्पात्मक हैं। सर्पयाग में सभी दिशाओं में आहुति दी जाती है। इसका तात्पर्य कीट, वृश्चिक, सर्प आदि समस्त प्राणियों में स्नेह या संवेदनशील होना है। हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (2.26.5) ने सर्पो को बलि देने का विधान किया है। उन्हें बुलाकर बलि (भोग्य) देना क्या सम्भव है? इन विधानों का अभिप्राय प्राणिमात्र को सुरक्षा प्रदान करना है।

नृयज्ञ में मनुष्यमात्र के कल्याण की, भूतयज्ञ में विशेषतः पक्षियों के लिए, पशुयाग में पशुओं की वृद्धि के लिए और सर्पयाग में कीट, सर्प आदि प्राणियों की सुरक्षा की भावना निहित है। शांखायन में श्रवणाकर्म (4.15) और सर्पबलिकर्म (4.18) पृथक्-पृथक् उल्लिखित हैं। सर्पयाग में जिन मन्त्रों का विनियोग है, वहाँ सर्प का अर्थ लोक-लोकान्तर के प्राणी हैं।[26] सर्पो से भयभीत होने का अर्थ सावधान होना है। ऐसे स्थलों में सर्प का अर्थ केवल साँप ही नहीं बल्कि चंचल दुष्ट प्राणी भी हैं।[27]

(उ) शूलगव

गृह्यसूत्रों में शूलगव याग भी बड़ा सन्दिग्ध विषय है। कुछ विद्वान् गाय के मांसादि अवयवों को लोहशलाका पर पकाना ही शूलगव मानते हैं। यदि वेद की आर्ष पृष्ठभूमि को समझा हो, तो ऐसा अनर्थ सम्भव नहीं है। क्योंकि वेद में पशुओं के रक्षासम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं, वे **पशून् पाहि**[28] जैसे मन्त्र अनर्थक हो जाएंगे। अथर्ववेद में गोगवी सूक्त की संगति कैसे लगेगी। लोकपरम्परा में भी 'गाय' अघ्न्य पशु है। किन्तु मानवगृह्यसूत्रकार कहता है कि – **रौद्रः शरदि शूलगवः**[29] अर्थात् शरद् ऋतु में रुद्र देवता के लिए 'गौ' द्वारा यज्ञ करना चाहिए। पारस्कर ने भी कहा कि – **औपासनमरण्यं हृत्वा वितानं साधयित्वा रौद्रं पशुमालभेत** और इसका शब्दतः अनुवाद ओल्डनबर्ग ने यह कर दिया कि – Having taken the sacred domestic fire to the forest and having performed the 'outspreading' he should sacrifice the animal to Rudra.[30] काठकगृह्यसूत्र के व्याख्याकार देवपाल ने 'शूलगव' संज्ञा का यह कारण बता दिया कि इसमें शूल पर 'गौ' के अंग पकाए जाते हैं, इसलिए शूलगव यह अन्वर्थ संज्ञा है। नारायण ने आश्वलायन की वृत्ति में शूल का अर्थ रुद्र कर दिया अर्थात् शूल (रुद्र) के लिए 'गौ' की बलि आदि। **शूलगव इति कर्मनाम। स**

वक्ष्यते। शूलोऽस्यास्तीति शूलः। अर्श आदिभ्योऽच्। शूलीत्यर्थः। शूलिने रुद्राय गोपशुना यागः स शूलगवः।[31] यह अनार्षत्व की पराकाष्ठा देखिए कि कैसे वैदिक गौ को लौकिक गाय पशु बना दिया और शूली का अर्थ महादेव (रुद्र) कर दिया। यदि लोकपरम्परा में ही देखें तो महादेव तो परम गोभक्त थे। नन्दिनी गाय और कामधेनु की किंवदन्तियाँ इन व्याख्याकारों अथवा गृह्यसूत्रकारों ने अर्थहीन क्यों बना दीं? क्या महादेव का पूजन गाय के पके मांस से होगा? अब इसमें सन्देह न रहे इसलिए पारस्कर का यह वचन भी देखिए – **वपां श्रपयित्वा स्थालीपाकमवदानानि च रुद्राय, वपामन्तरिक्षाय वसां स्थालीपाकमिश्राण्य-वदानानि जुहोत्यग्नये रुद्राय शर्वाय पशुपतये उग्रायाशनये भवाय महादेवायेशानायेति च।**[32] ओल्डनबर्ग ने इसका अनुवाद यह किया कि – Having cooked the omentum, a mess of sacrificial food and the portions cut off (of the victim), he sacrifices the omentum do Rudra, the fat to the Air and the cut-off portions together with the mess of cooked food to Agni, Rudra, Sarva, Pasupati, Ugra, Asani, Bhava, Mahādeva, Īśāna. जगदीश चन्द्र ने भी यहाँ वपा का अर्थ चर्बी कर दिया।

यहाँ शाब्दिक अनुवाद में कोई कमी नहीं है, कमी है तो सिर्फ आर्ष और अनार्ष के अन्तर को समझने की। यदि यही 'शूलगव' है, तो फिर यह याग कैसे हुआ? यहाँ फिर तर्क से बचने के लिए कहा जाएगा कि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।' तर्क की कसौटी पर ऐसे कर्म भला किस काम के। हाँ, यदि आर्ष-अनार्ष की दृष्टि स्पष्ट है, तो गृह्यसूत्रों का अध्येता कहेगा कि गोहिंसा किसी भी रूप में ऋषिसम्मत और वेदानुकूल नहीं है। तथाकथित आधुनिक विचारकों में आर्ष-अनार्ष की अवधारणा न होने से तदनुगामी विद्वान् तो शब्दतः अनुवाद कर देंगे, किन्तु भारतीय मनीषा के सामने यह एक गम्भीर चुनौती है। इसीलिए पारस्कर के व्याख्याकार हरिहर यहाँ वपा के अर्थ में मौन हो गए। डॉ. वेदपाल ने वपा को बीज अर्थक मानकर समाधान का प्रयास किया है।

गृह्यसूत्रकारों ने शूलगव को स्वर्गप्रदान करने वाला, पशुसम्पत्तिप्रापक, सन्तति-सुख देने वाला, धनदायक व यश एवं आयु की वृद्धि करने वाला कहा है- शूलगवः। स्वर्ग्यः पशव्यः पुत्र्यो धन्यो यशस्य आयुष्यः। स एष शूलगवो धन्यो लोक्यः पुण्यः, पुर्त्यः पशव्यः आयुष्यो यशस्यः।[33]

हमारा विचार है कि यहाँ न तो शूल का अर्थ शूलधारी रुद्र है और न ही गौ का अर्थ गाय। वैदिक अध्ययन में यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक भाषा में उस शब्द का क्या अर्थ हैं। शूलगव का अर्थ यहाँ कृषिकार्य होना चाहिए। क्योंकि 'गौ' का अर्थ पृथिवी भी है। अतः शूल = हल से गौ की वपा = पृथ्वी अर्थात् खेत की जमीन को चीरना (जोतना) ही शूलगव है। यह स्वोन्नति और राष्ट्रोन्नति के लिए किया जाने वाला कृत्य है। तभी तो यह धन, यश, आयु, सन्तान, पशुओं के लिए श्रेयस्कर है। स्मरणीय है कि इस शूलगव में यजुर्वेद के आठ मन्त्रों[34] का विनियोग किया गया है और किसी एक मन्त्र में भी हिंसा वर्णित नहीं है, बल्कि अन्नप्राप्ति, सुशासन और समृद्धि की प्रार्थना है।

अच्छा होता यदि शब्दतः अनुवाद करने वाले लोग शूली की गाय का पूजन अर्थ कर देते। याग का अर्थ समर्पण और पूजा है। इस स्थिति में शूली = रुद्र की गाय का पूजन इस अनुवाद में क्या विसंगति है। अतः गौ आदि पशुओं की समृद्धि के लिए अथवा कृषि की समृद्धि के लिए यह संकल्पात्मक विधि हैं। कौषीतक (3.5.4) और शांखायन (3.9.6) में गोष्ठकर्म का विधान है। इसमें गौओं के कल्याण एवं सुरक्षा की अभिलाषा की गई है और कौषीतक (3.5.8) ने सद्यःप्रसूता गाय के दूध से यज्ञ करने का सुझाव दिया है। इन सब प्रसंगों की अवहेलना करके गोमांस को शूल से पकाना यह अर्थ कितना तकहीन है, विचार कीजिए।

उपसंहारः-

1. संस्कृत शास्त्रों को समझने के लिए सर्वप्रथम उनकी शैली का ज्ञान आवश्यक है।

2. वेदार्थविचार करते समय कुछ सिद्धान्त वा निष्कर्ष जान लेने चाहिएँ। उससे शब्दार्थ की ठीक दिशा निर्धारित हो जाती है। जैसे वेद का सिद्धान्तपक्ष क्या है, वेदार्थ की निरुक्तशैली का महत्त्व क्या है, वेद में मांसाहार है या जीव-संरक्षण के सन्दर्भ। इनमें सिद्धान्त पक्ष क्या है, आदि।

3. लेखक किन शब्दों का प्रायः प्रयोग करता है? जैसे कौटिल्य अर्थशास्त्र में व्यंजनपद अनेक बार प्रयुक्त हैं। जबकि उसका अर्थ न तो वहाँ हल्-वर्ण है और न ही भक्ष्य व्यंजन।

4. गृह्यसूत्रों के कर्मकाण्ड को देखकर कभी कभी यह

वितृष्णा भी होने लगती है कि यदि इन्हें सर्वांशतः स्वीकार कर लिया जाए, जो जीवन केवल कर्मकाण्डों के आडम्बर का बोझ ही बन जाएगा। वस्तुतः ये सभी कर्मकाण्ड नहीं हैं, बल्कि तत्काल में व्यवहृत रीति-रिवाज भी प्रतीत होते हैं। उनमें कर्मकाण्ड विधि गौण है। इसलिए सभी कर्मकाण्डों को वैदिक कहना संगत प्रतीत नहीं होता, उनमें लोकव्यवहार अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वे आज अव्यावहारिक भी हो सकते हैं।

5. कर्मकाण्डीय विधियों में कुछ ऐसी विधियाँ भी निर्दिष्ट हैं, जिनका वेद से साक्षात् सम्बन्ध मानना तर्कपूर्ण नहीं है। जैसे पति को वश में करने का कर्म (आपस्तम्ब-3. 9), प्लवकर्म (शाखायन-4.14), वृषोत्सर्ग कर्म (शांखायन-3. 11), सूतिकास्नान-(आपस्तम्ब-6.14), यात्रा, अश्वारोहण, हस्ति पर चढ़ने की विधि (आपस्तम्ब-8.12) आदि। वस्तुतः ऐसे विषयों का सम्बन्ध वेद की अनुकूलता या प्रतिकूलता से न होकर लोक से है।

6. वर और कन्या की विवाहयोग्यता में अर्थवाद प्रधान है। जैसे नदी नक्षत्र नाम वाली, रेफोपध नाम वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए (आपस्तम्ब-1.3.11-14)। इसी प्रकार रोमवती, रोगवती कन्या से विवाह न करने का तात्पर्य यही है कि माता-पिता को चाहिए कि अपनी कन्या का सुन्दर नाम रखें तथा उसके स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखते हुए उसे नीरोग रखें।

7. गृह्यसूत्रों की अनेक विधियाँ केवल सुझावपरक ही हैं, जैसे कि किस काल में विवाह करें? जबकि आगे आश्वलायन ने कह दिया है कि - **सार्वकालमेके विवाहम्** (1.4.2) यही स्थिति उपनयन संस्कार के सम्बन्ध में भी है। यह सुझाव ही है कि अमुक उम्र में बालक का संस्कार होना चाहिए, किन्तु फिर यह भी कह दिया कि **यथामंगलं वा सर्वेषाम्** (पारस्कर 2.2.4)। इसी प्रकार कन्या का नाम तीन या पाँच वर्ण वाला और पुत्र का नाम दो, चार आदि समवर्ण वाला रखा जाए (पारस्कर-1.17.2, कौषीतक-1. 16.12-13, आपस्तम्ब-6.15.9-11)। नामकरण में यह केवल सुझाव ही है, क्योंकि स्वयं वैदिक ऋषियों के नामों में यहाँ विकल्प दिखाई देता है, जैसे घोषा, निवावरी, गार्गी आदि स्त्री नाम समाक्षर ही हैं और पाणिनि, वरदराज, भरत, लक्ष्मण, कणाद, वसिष्ठ, आङ्गिरा आदि नाम विषमाक्षर हैं।

8. गृह्यसूत्रों में जितने मांसाशन के सन्दर्भ दिखाई देते हैं, उससे अधिक मांस न खाने के सन्दर्भ भी विद्यमान हैं। इसलिए मांसाशन सिद्धान्त पक्ष नहीं हो सकता।

9. गृह्यसूत्रों का अध्ययन करते समय तात्पर्यार्थ पर दृष्टि केन्द्रित रहनी चाहिए। इसी का नाम आर्ष दृष्टि है। अनार्ष दृष्टि ने गृह्यसूत्रों का बड़ा अहित किया है। अकेली विद्वत्ता से गृह्यसूत्रों का अनुवाद तो हो सकता है, पर वह अनुवाद दिग्भ्रमित कर देता है। क्योंकि अनुवाद में तो शब्दों का अर्थमात्र ही निर्दिष्ट होता है। जैसे- ष्णा (स्ना), धातु से निष्पन्न स्नातक का अर्थ स्नान किया हुआ नहीं, बल्कि वेदादि का अध्ययन सम्पूर्ण करने वाला विद्यार्थी है- **त्रयः स्नातका भवन्ति- विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति** (पारस्कर-2.5.32) किन्तु **वेदं समाप्य स्नायात्** (पारस्कर-2.6.2) का अनुवाद ओल्डनबर्ग ने यह कर दिया- When he has finished the veda, he should take the bath. जब कि तात्पर्य यह था कि वेद का सम्पूर्ण अध्ययन करने पर ही स्नातक बनेगा और स्नातक होने पर ही उसे यम (अनुशासन के नियम) बताएंगे- **स्नातस्य यमान् वक्ष्यामः** (पारस्कर-2.7.1)। अब यहाँ यम का अर्थ योगदर्शनोक्त यम नहीं है, बल्कि Rules of conduct है। जो स्नातक नहीं है, वह इन नियमों के पालन में स्वतन्त्र है - **कामादितरः** (पारस्कर-2.7.2)। विद्यास्नातक बनने के लिए छः अंगों सहित वेद पढ़ना चाहिए, अकेला कल्पमात्र नहीं। हाँ, जिसे खाली याज्ञिक (पुरोहित) ही बनना है, वह भले ही वेद न पढ़े - **षडङ्गमेके। न कल्पमात्रे। कामं तु याज्ञिकस्य** (पारस्कर-2.6.5-8)। यहाँ भी ओल्डनबर्ग ने यह अनुवाद कर दिया कि जो याज्ञिक है, उसके लिए स्नान आवश्यक नहीं है - But optionally by one who knows the sacrifices (the bath may be taken).

आचार्य
संस्कृत विभाग एवं दयानन्द वैदिक अध्ययन पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

सन्दर्भ सूची

1. शांखायनगृह्यसूत्र-1.27.1
2. पारस्करगृह्यसूत्र-1.19.1
3. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.16.6
4. वही, 1.16.6
5. पारस्करगृह्यसूत्र-1.19.7-11, शांखायनगृह्यसूत्र-1.27,

आपस्तम्बगृह्यसूत्र-6.16.2, कौषीतकगृह्यसूत्र-1.19.2-9
6. शांखायनगृह्यसूत्र-2.11.6
7. आश्वलायनगृह्यसूत्र-4.9.39
8. द्र. वैदिक कोश (चन्द्रशेखर, अनिलकुमार उपाध्याय), पृ.1066, वैदिक कोश (भगवद्दत्त), पृ. 403
9. सुश्रुतसंहिता, शारीर स्थान-10.49
10. पारस्करगृह्यसूत्र-1.14.2
11. शांखायनगृह्यसूत्र-1.20.1
12. मानवगृह्यसूत्र-1.16.1, काठकगृह्यसूत्र-32.1-8
13. आश्वलायनगृह्यसूत्र-1.13.1
14. आपस्तम्बगृह्यसूत्र-5.14.9
15. English Translation (पारस्करगृह्यसूत्र-1.14.1)
16. संस्कारविधि (पुंसवन)- दयानन्द सरस्वती
17. आश्वलायनगृह्यसूत्र-1.24.26
18. शांखायनगृह्यसूत्र-2.15.2
19. वही, 2.16
20. मनुस्मृति-2.17
21. गोभिलगृह्यसूत्र-3.1.14-21
22. आपस्तम्बगृह्यसूत्र-5.13.10-12
23. आश्वलायनगृह्यसूत्र-1.14.6
24. पारस्करगृह्यसूत्र-2.14.1-2
25. मानवगृह्यसूत्र-2.16.1
26. दयानन्दयजुर्वेदभाष्य-13.6
27. वही, 13.7
28. यजुर्वेद-1.1
29. मानवगृह्यसूत्र-2.5.1
30. पारस्करगृह्यसूत्र-3.8.3 (Translation by H. Oldenberg)
31. आश्वलायनगृह्यसूत्र-4.9.1 (नारायणवृत्ति)
32. पारस्करगृह्यसूत्र-3.8.6
33. पारस्करगृह्यसूत्र-3.8.2, आश्वलायनगृह्यसूत्र-4.9.36
34. यजुर्वेद-16.1-8

शोध-पत्र

'रसानथर्वणादपि' - एक दृष्टि

प्रो. मीरा द्विवेदी

भारत की जिज्ञासापूर्ण आस्थावादी परम्परा प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान का मूल उत्स वेदों में अन्वेषित करती आई है। लौकिक संस्कृत की गद्य, पद्य, नाट्य आदि काव्यविधायें हों अथवा अलंकार, रस आदि तत्त्व, इनका उद्गम गवेषित करने वाले गवेषकों की गहन दृष्टि सर्वप्रथम अजर, अमर देवकाव्य वेदों पर केन्द्रित होती है।

काव्य के लिये आवश्यक तत्त्वों का मूल रूप स्पष्टतः वेदों में देखा जा सकता है। नाट्यशास्त्र में नाट्यवेद की उत्पत्ति से सम्बन्धित आत्रेय प्रमुख ऋषियों की जिज्ञासाओं का समाधान करते हुये भरत मुनि कहते हैं-

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि॥
- **नाट्यशास्त्र**-1/17

इस कारिका से भरत ने प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि नाट्यनिर्माण की उपयोगी सामग्री का आविर्भाव संहिता काल में हो चुका था। जिसके अनुसार तत्त्ववेत्ता ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना में ऋग्वेद से पाठ्य, साम से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों का ग्रहण किया।

पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस नाट्य के परमावश्यक तत्त्व हैं। इनमें से संवादात्मक नाटकीय कथ्य पाठ्य कहलाता है। आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य सम्बन्धी चेष्टायें अभिनय हैं। गान षड्ज, ऋषभ, गन्धार आदि सप्त स्वराश्रित गीतों को कहते हैं। शृंगार, हास्य आदि रस काव्य की साध्यभूत वस्तु है और ये तीनों तत्त्व रस की पुष्टि के साधन हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में भरत की उक्त कारिका के चतुर्थ पाद **रसानथर्वणादपि** की विवेचना प्रस्तुत है। इसका अर्थ है कि रसतत्त्व को अथर्ववेद से भी लिया गया।

रस आनन्द का अपर पर्याय है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी इसे आनन्दस्वरूप परमात्मा के रूप में परिभाषित किया गया है। (तै.उप., आनन्दवल्ली-7)। इसी के लिये सहृदय की काव्य-नाट्य में प्रवृत्ति होती है। अथर्ववेद में ऋषि कुत्स परमात्मा को रस से तृप्त[2] कवि और संसार को उसके द्वारा सृजित अजर-अमर काव्य कहते हैं।[3]

अथर्ववेद के साथ रस के सम्बन्ध का अनुसन्धान करने से पूर्व रस के स्वरूप पर संक्षिप्त दृष्टि डालना आवश्यक है। भरत के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।[4] रति, शोक आदि को स्थायी भाव कहते हैं। इन भावों के अनुरूप कारण सामग्री को विभाव, तदनुरूप भाव की प्रतीति कराने वाली चेष्टाओं को अनुभाव और स्थायिभाव को पुष्ट करने वाले क्षणिक अवान्तर सहकारी भावों को व्यभिचारी भाव कहते हैं। जब किसी काव्य में कवि के द्वारा इनकी सम्यक् वर्णना से सहृदय में रति, शोक आदि भाव दीप्त होते हैं, इस प्रक्रिया का नाम रस है।[5] भरत ने रति, हास आदि आठ स्थायी भाव[6] और निर्वेद, हर्ष, विषाद आदि तैंतीस व्यभिचारी भाव[7] गिनाये हैं। वेपथु, विवर्णता, रोमांच आदि आठ भाव सात्त्विक हैं।[8] ये सभी उन्नचास भाव मन की ही विविध वृत्तियाँ हैं। अभिनवगुप्त इसमें शमभाव को भी जोड़ देते हैं।[9] अन्य अनेक आचार्यो ने वत्सल, भक्ति, प्रेयस् आदि भावों की भी स्थायी के रूप में कल्पना की है। वस्तुतः व्यक्ति के अनन्त भाव हो सकते हैं जिनमें से अधोलिखित स्थायिभाव और उनके परिपाक से होने वाले आठ रसों के सम्बन्ध में साहित्यशास्त्रीय आचार्यों में कोई

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

विवाद नहीं है।

रति का शृंगाररस, हास का हास्यरस, शोक का करुणरस, क्रोध का रौद्ररस, उत्साह का वीररस, भय का भयानकरस, जुगुप्सा का बीभत्सरस और विस्मय का अद्‌भुतरस के रूप में परिपाक होता है।[10] वस्तुतः स्थायिभाव और रसों में कारण आदि की एकरूपता के कारण कोई भेद नहीं है। भेद इतना ही है कि रति आदि लौकिक भाव हैं और वे ही कवि की लेखनी के स्पर्श से काव्य-नाट्य का विषय बनकर सहृदयों को अलौकिक शृंगार आदि के रूप से आस्वादित होते हैं।[11]

वेदों का रस से सम्बन्ध

विचारणीय है कि वेदों का रस के साथ क्या सम्बन्ध है और नाट्यनिर्माण में उसका उपादानत्व कैसे सहायक है?

वैदिक विचारधारा के अनुसार सृष्टि के आविर्भाव में सबसे पहले काम भाव उत्पन्न हुआ।[12] काम केवल रति का ही दीपक नहीं है अपितु जीवनव्यापि समस्त भावों का मूल है। यह शुभ-अशुभ, मंगल-अमंगल, सुखात्मक-दुःखात्मक सभी भावों का आधार है। इस व्यापकता का प्रभाव अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के द्वितीय सूक्त में ऋषि अथर्वा की वाणी में देखा जा सकता है जिसमें काम देवता से शत्रुनाश, तेजस्विता, वाणी, प्राण, पशु, आयु, धैर्य आदि विविध भावों के संचार की प्राथना गई है। संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा-अश्रद्धा, धृति-अधृति लज्जा, मति, भय आदि भाव मन में काम की प्रेरणा से ही संचरित होते हैं। शिव, सत्य और भद्र से संयुक्त भाव सुखात्मक होने से ग्राह्य और अशुभ, अमंगल, पापजनक भाव दुःखात्मक होने से त्याज्य माने जाते हैं। ऋषि का अधोलिखित मन्त्र इसी तथ्य की पुष्टि करता है–

यास्ते शिवास्तन्वः कामं भद्रा याभिः
सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप
वेशया धियः॥ अथर्व. 1/2/25

कामनाओं से प्रेरित होकर व्यक्ति विविध क्रियाओं में संलग्न होता है।[13] क्रियायें कामनाओं का प्रतीक हैं। क्रिया को देखकर उसके मूल में रहने वाली कामना को पहचाना जा सकता है। वैदिक कर्म कामनावश ही सम्पादित किये जाते थे। कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति से विविध सुख-दुःख भाव जन्म लेते हैं। कामनाओं से प्रेरित विविध भावों का प्रकाशन सभी वेदों में हुआ है। इसीलिये रसों का सम्बन्ध अन्य वेदों के साथ भी है। इसे **रसानथर्वणादपि** वाक्यांश में ***अपि*** शब्द के विधान से संकेतित किया गया है।

अथर्ववेद का रस से सम्बन्ध

अथर्ववेद का सर्वोपरि वैशिष्ट्य है उसका विषय वैविध्य। इस वेद में सृष्टि के गूढ़ रहस्यों, दिव्य प्रार्थनाओं, अध्यात्म-बोध, यज्ञीय प्रयोगों, रोगोपचारों आदि से सम्बद्ध विषयों के साथ ही मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, शान्तिक आदि आभिचारिक विषयों का भी प्राचुर्य है। इनमें सम्पाद्य क्रियायें विभिन्न रसों के अभिनय में प्रदर्शित की गई चेष्टाओं के समान विविध भावों की अभिव्यंजक होने से अनुभावरूप होती हैं।

पौष्टिककर्म- पौष्टिक कर्मों का शृंगार और हास्य रसों के अभिनय से पर्याप्त साम्य है। ये कर्म विशेषतः पुत्रजनन आदि मंगल-कार्यों का सम्पादन करने के लिये किये जाते हैं। एतदर्थ सौमनस्यपूर्ण दाम्पत्यजीवन की कामना, प्रिय के मन को स्वाभिमुख्य करने के लिये अभिचार कर्म, सपत्नी के प्रति विद्वेष के कारण किये गये उच्चाटनपरक अभिचार कर्मों की शान्ति आदि में शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों ही भेदों के बीजरूपता देखी जा सकती है।

मंगलकार्यों में ही शृंगार-हास्य मांगलिक प्रतीत होते हैं। भरत के अनुसार हास्य शृंगार की अनुकृति है।[14] अनुचित स्थान पर प्रकाशित की गई प्रीति अथवा किसी दूसरे व्यक्ति की शृंगारिक चेष्टाओं का अनुकरण हासोत्पादक है। उभयनिष्ठ प्रीति होने पर ही परस्पर हास-परिहास सम्भव है। अन्यथा द्रौपदी के द्वारा दुर्योधन पर किये गये उपहास के समान परिहास विनाशकारी क्रोध को निमन्त्रण देता है। अतः पौष्टिक कर्मों की क्रियाओं का शृंगार और हास्य के जनक विभावादि से पर्याप्त सादृश्य प्रतीत होता है।

शृंगारस के परिपाक की दृष्टि से अधोलिखित मन्त्र द्रष्टव्य हैं। इसका ऋषि जमदग्नि और देव कामात्मा है। मन्त्र में परस्परानुरक्त पति के द्वारा पत्नी से सतत सानिध्य और आलिंगन की कामना व्यक्त की गई है। प्रेम की अभिव्यक्ति लिये बेल के वृक्ष में लिपटी लता के उपमान से सम्भोग शृंगार की झलक स्पष्टतः अनुभव की जा सकती है।

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे।
एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा
मन्नापगा असः॥ अथर्व., 6/8/1

रतिमूलक भावों और उनके द्वारा निष्पन्न रसों की किंचित् झलक ऋग्वेद के उषस् सूक्त में देखी जा सकती जहाँ द्यौ की दुहिता उषा एक सुन्दरी कन्या के रूप में निर्मल वसन धारण किये हुये, अपने वक्ष को प्रकाशित करते हुये मुस्कराती हुई प्रिय सूर्य के समीप गमन करती अंकित की गई है।[15]

अथर्ववेद के तृतीय काण्ड का पच्चीसवाँ सूक्त कामबाण के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका ऋषि भृगु और देवता कामबाण है। ऋषि कहता है-

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि।।
अथर्व., 3.25.1

यहाँ किसी कामी का स्त्री लिये सम्बोधन है कि उत्कट होकर पीड़ा पहुँचाने वाले उत्तुद देव आपको व्यथित करें। तीक्ष्ण कामबाण से तुम्हारा हृदय बींधते हैं, उससे व्यथित होकर तुम अपनी शय्या पर सुख की नींद न प्राप्त कर सको।

रस की दृष्टि से इस मन्त्र की विवेचना से स्पष्ट होता है कि किसी स्त्री की उपेक्षा से खिन्न व्यक्ति अमर्ष भाव से युक्त होकर उस स्त्री के कामदेव से विद्ध होने और निद्रानाश की कामना करता है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाये तो इस प्रकार के प्रयोग लौकिक संस्कृत काव्यों में रसाभास के रूप में विकसित हुये हैं। यह व्यक्ति विप्रलम्भरति का आश्रय है। अननुरक्ता स्त्री आलम्बन विभाव, उसके द्वारा की गई उपेक्षा उद्दीपन विभाव तथा स्वयं के अनुरागहीन-स्त्री के प्रति अनुराग प्रकाशन एकतरफा प्रीति अनौचित्यमूलक होने से रसाभास की अनुभूति का कारक है। निद्रानाश, चिन्ता आदि इस भाव का पोषण करने वाले व्यभिचारी भाव हैं।

अगले मन्त्र में वक्ता कहता है कि जिस बाण में मानसिक पीड़ारूपी पंख लगे हैं, रमण करने की इच्छा ही जिसका शल्यभाग है, जिसमें भोग-विषयक संकल्प रूपी दण्ड लगे हैं उसको धनुष पर चढ़ा कर कामदेव आपके हृदय का वेधन करे।

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम्।
तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि।।
अथर्व., 3.25.2

उपर्युक्त मन्त्र में सकार, मकार, लकार आदि वर्णों की आवृत्ति से आविर्भूत माधुर्यगुण और मानसिक पीड़ा पर कामबाणों के पंखों का आरोप, रमण की इच्छा पर शल्य (बाण का नुकीला भाग) का, भोग के संकल्प पर बाण के दण्ड का आरोप करने से निर्मित सांग रूपक अलंकार विप्रलम्भ-रति का स्पष्टता के साथ प्रकाशन करने में सहायक बने हैं। ऐसे कामबाण से कामदेव द्वारा प्रेमविमुख स्त्री के हृदय को वेधने की कामना की गई है। अथर्ववेद में षष्ठ काण्ड के स्मर-सूक्तों[16] के अतिरिक्त नवम काण्ड का द्वितीयसूक्त, 19वें काण्ड का 52वाँ सूक्त भी काम-विषयक हैं। वस्तुत अथर्ववेद के ऐसे मन्त्र ही लौकिक संस्कृत साहित्य में कामदेव, कामबाण और उसके द्वारा वियोगी जन के हृदयभेदन की कल्पना का आधार बने हैं। शृंगाररस के दीपन में कवियों ने इन बिम्बों का प्रचुर प्रयोग किया है।

मारणकर्म - मारण सम्बन्धी आभिचारिक कर्म रौद्र और करुण रसों के के अभिनय से पर्याप्त साम्य रखते हैं। प्राणों का संकट उपस्थित होने पर दु:खात्मक परिस्थिति से मुक्ति का मार्ग दिखाई न देने पर मारण प्रयोग किया जाता है। इन मारणात्मक अभिचार कर्मों में प्रतिपक्षी पर क्रोध, अमर्ष आदि भावों से रौद्र और उसके अनिष्टजनक परिणाम से शोक प्रकट शोक करुणरस के पोषण का निमित्त है। उग्रता, अमर्ष, ग्लानि, जड़ता दैन्य आदि इसकी पुष्टि में आनुषंगिक भाव बनते हैं। भरत भी करुण को रौद्र का कर्म मानते हैं।[17]

रौद्ररस की व्यंजना कराने वाली ओजोगुणमयी क्रोधभाव की तीव्र संवेदना अधोलिखित मन्त्रों में देखी जा सकती है।

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व
सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेद
ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व।।[18]

अर्थात् हे क्रोधाभिमानिन् मन्यु देव! तुम अग्नि के समान प्रज्वलित होकर हमारे शत्रुओं को नष्ट कर दो। हे सहनशील! संग्राम में आहत होने पर तुम हमारे सेनानी बनो। शत्रुओं को मारकर तुम उनका धन हमें दो तथा हमें शक्ति प्रदान करो, जिससे हमारे शत्रु अभिभूत हो जायें। यहाँ रसनिष्पत्ति की सामग्री के रूप में शत्रु आलम्बन विभाव, युद्ध उद्दीपन विभाव और मन्यु, अमर्ष आदि व्यभिचारि भावों मुख्यतः अभिव्यक्त हैं।

दर्भमणि सूक्त (अथर्व. 19/28) में दर्भ से शत्रुओं के छेदन, भेदन, कृन्तन, पिंशन, बेधन, दहन की भावना अमर्ष

भाव के चरमोत्कर्ष के कारण क्रोध की प्रकाशक है।

अथर्ववेद के प्राणसूक्त (2/15 और 14/4) एवं मृत्युसूक्त (8/1; 8/2) मृत्यु और रोग से जूझते हुये मरणासन्न व्यक्ति को अभय प्रदान करने की दृष्टि से लिखे गये प्रतीत होते हैं। इनमें करुणरस की अभिव्यक्ति हुई है। प्राणों से वियोगमात्र की कल्पना व्यक्ति को व्यथित कर देती है। चित्त में उथल-पुथल मचने लगती है। मरणासन्न दैन्य भाव से आक्रान्त होकर मृत्यु की अनुनय-विनय करने और गिड़गिड़ाने को विवश हो जाता है। (8/1/1-3) इन प्रार्थनाओं में कहा गया है कि स्त्रियां प्रकीर्ण केशों वाली होकर विलाप न करें और दुख में बान्धव लोग तुम्हारे निमित्त रोदन न करे।

मा त्वा व्यस्तकश्यो सा त्वाघरुदो रुदन्।

अथर्व. 8/1/19

प्रस्तुत मन्त्र को पढ़कर कल्पना की जा सकती है कि मरणासन्न व्यक्ति यहाँ शोक का आलम्बन हैं। स्त्रियाँ और स्वजन आश्रय हैं। रुदन, केशों का खोलना, अश्रुपात, वक्षस्थल ताड़न (गम्य) आदि शोक के प्रकाशक अनुभाव हैं। मरण, व्याधि, शंका, चिन्ता, दैन्य आदि व्यभिचारिभाव के रूप में विद्यमान हैं। ऐसे प्रयोगों में मरणासन्न व्यक्ति प्रायः मृत्युजन्य भय का और उसके परिजन शोक का आश्रय बनते हैं। ऐसी भावना ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 58, 59 और 60वें सूक्तों में भी अनुभव की जा सकती है।

मोहनकर्म - मोहनकर्म **वीर** और **अद्भुत** रसों के अभिनय से पर्याप्त साम्य रखते हैं। शत्रु या उदासीन के आकर्षण के लिये या उन्हें अपने वशीभूत करने के लिये मोहनकर्मों का विधान किया जाता है। उत्साह के विभाव-अनुभाव के रूप में ग्राम, नगर, दुर्ग, राज्य की प्राप्ति और उसके संवर्धन की कामना वाले प्रचुर मन्त्र अथर्ववेद में दृष्टिगत होते हैं। एतदर्थ युद्ध, दान, कारुणिक की रक्षा आदि के लिये किये गये कर्मों से उत्साह की व्यंजना होती है। उत्साही व्यक्ति में अपने कर्म के प्रति धृति, श्रम, हर्ष, मद, गर्व, विबोध आदि भाव संचरित होते रहते हैं। राजकर्म, शत्रु को कष्ट पहुँचाने के उपाय, संग्रामविजय, सेना में उत्साह एवं निर्भयता का संचार, स्वराज्य की पुनः प्राप्ति की भावनायें जो इस वेद में दिखाई देती हैं, उसी प्रकार की सामग्री लौकिक संस्कृत में वीररस के परिपाक का अंग बनी हैं।

वीर का कर्म अद्भुत कहा गया है।[19] प्रतिद्वन्द्वी को जीतना विस्मयकारी लगता है। उत्साह से असम्भव को भी सम्भव बनाने की क्रिया विस्मय उत्पन्न करती है।

अथर्ववेद के इन्द्र, विष्णु, सूर्य, दुन्दुभि सूक्तों में वीररस का तीव्र परिपाक देखा जा सकता है। सत्रहवें काण्ड का विष्णुसूक्त अनुप्रास से संवलित, ओजोगुण युक्त शब्दों में सूर्य के तेजस्वी स्वरूप का प्रकाशक होने के साथ-साथ स्तुतिकर्ता में साहस, तेज, वय, विद्या, प्रजा, पशु की प्रियता और शत्रु के प्रति दुर्दम्यता की कामना से उत्साह का व्यंजक है। अधोलिखित मन्त्र अवलोकनीय है-

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयासम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम्।।

अथर्व, 17/1/1

यहाँ सूर्य और इन्द्र की एकरूपता का प्रतिपादन करते हुये उन्हें **विषासहिम्**- विशेष रूप से शत्रु को दबाने वाले, **सहमानम्, सासहानम्**- दबा रहे, पहले दबा चुकने वाले, **सहीयांसम्**-अन्य की अपेक्षा अधिक दबाने वाले, सहमानं **सहोजितम्**-दमनशील और दबाब से जीतने वाला, स्वर्ग, गो और धनों को जीतने वाला बताया है। इन्द्र से स्वयं भी आयुष्मान् होने की कामना की गई है।

दुन्दभि एक वाद्य है जो समरक्षेत्र में आमने-सामने खड़ी युद्धोन्मुख सेनाओं में साहस का संचार करने के लिये उद्दीपन का काम करता है। इसे सुनकर जहाँ भीरु भयापन्न होकर पलायन के लिये विवश होते हैं, वहीं पराक्रमी सत्त्वसम्पन्न भटों में यह उत्साह का संचार करता है। दुन्दुभिवाद्य कल्याणकारी, धन जीतने वाला, बलवान् और संग्राम में विजय दिलाने वाला माना गया है।

ऋषि ब्रह्मा के कुछ सूक्तों (अथर्व. 5/20, 21) के अनुसार दुन्दुभि का उच्च शब्द बल बढ़ाता है। ऋषि कहते हैं कि बलवान् प्राणी के गर्जन के समान दुन्दुभि अपने शत्रुओं को अभिभूत करती हुई इस प्रकार घोष कर रही है मानों कोई सिंह गरज रहा हो।

वाचं क्षुणुवानो दमयन्तसपत्नान्त्सिंह इव
ज्येष्यन्नभि तंस्तनीहि। अथर्व., 5/20/1

यहाँ बलवान योद्धा या युद्ध के लिये तत्पर सेना उत्साह भाव की आश्रय है। शत्रु तथा प्रतिपक्षी सैनिक उत्साह के आलम्बन विभाव हैं। दुन्दुभि का नाद, शत्रुओं का पलायन (**शत्रवः ग्रामान् हित्वा प्रच्युताः यान्तु- अथर्व., 5/20/3**) उत्साह का उद्दीपक होने से उद्दीपन

विभाव हैं। सैनिकों की गर्जना, शत्रु उत्थापन आदि उत्साह के प्रकाशक होने से अनुभाव हैं और हर्ष, धृति, शत्रुगत त्रास, भय आदि उत्साह का पोषण करने से व्यभिचारि हैं। इस प्रकार विभावादि के द्वारा उत्साह का पोषण वीररस का व्यंजक है। उत्साह की अभिव्यंजना में ऋषि ब्रह्मा ने सिंह इव, (20.2) वृषेव (20.3) आदि विविध उपमानों को माध्यम बनाया है।

ऋग्वेद (6/47/29-30) में भी दुन्दुभिविषयक ऋचायें मिलती हैं। जिनमें दुन्दुभि से शत्रुओं को रुलाने, दूर भगाने के साथ ही स्वपक्ष की सेना में बल और ओज प्रदान किये जाने की कामना की गई है।

अद्‌भुत रस का स्थायिभाव है-**विस्मय**। विस्मय भाव भी वेदवाणी में पदे पदे परिलक्षित होता है। ऋषियों के लिये देवों के कर्म विस्मयोत्पादक हैं। कभी ऋषि को विष्णु के तीन पग विस्मित करते हैं[20], कभी द्यु में बालक के समान रेंगने वाले चन्द्र-सूर्य उसके विस्मय का केन्द्र होते हैं। कभी हिरण्य का अण्ड विस्मय से भर देता है।[21] कभी इस जगत् को परिचालित करने वाली अदृश्य शक्ति उसे विस्मय से भर देती है। उसे उत्तर नहीं सूझता है तो बरबस कह उठता है - कस्मै देवाय हविषा विधेम। (अथर्व., 4/2/1-7), पृथिवीसूक्त में वात्सल्य, भक्ति, श्रद्धा आदि के साथ ही पृथिवी की अपार क्षमतायें ऋषि को विस्मय से भर देती हैं। विष्णुसूक्त अद्‌भुत रस का सुन्दर निदर्शन है।[22] इन्द्र का वृत्रहनन (अथर्व., 20/94/6), मेघों को तोड़कर जलवर्षण, पर्वतों का भेदन (अथर्व. 20/90/1) आदि कृत्य वैदिक ऋषि को इतना अधिक अचम्भित करते हैं कि उसे लगता है कि ऐसा कौन सा वीरता का काम है जो इन्द्र ने नहीं किया, ऐसा कौन सा यश है जो जन्म से ही वृत्र के विनाशक उसके नाम के साथ नहीं जुड़ा (अथर्व. 20/97/3) है। इस प्रकार के प्रचुर सूक्त सभी वेदों में विद्यमान हैं, जिनमें विस्मय हर्ष, उत्साह के साथ अद्‌भुत रस की व्यंजना विद्यमान है।

ऋग्वेद का नासदीय सूक्त सृष्टि के अनसुलझे रहस्यों के प्रति ऋषि के विस्मय भाव की सुन्दर अभिव्यंजना है-

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत कुत
आ जाता इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को
वेद यत आबभूव॥ ऋक्.,10/129/6

विविध रूपवाली सृष्टि के सहसा अवलोकन से हतप्रभ ऋषि का विस्मय भाव उक्त मन्त्र में प्रकट हुआ है। उसे सृष्टि अनसुलझी पहेली के समान रहस्यात्मक प्रतीत होती है। उसकी जिज्ञासा प्रश्न में ही विश्रान्त हो जाती है।

उच्चाटनकर्म- उच्चाटनकर्म बीभत्स और भयानक रसों के अभिनय से पर्याप्त साम्य रखते हैं। अवांछनीय और पापात्मक कार्यों के प्रति मन में घृणा और जुगुप्सा उच्चाटनीय कर्मों के प्रति उन्मुख बनाते हैं। ऐसे दृश्य और भाव व्यक्ति में घृणा और क्षोभ उत्पन्न करते हैं। युद्ध आदि में होने वाली मार-काट, रक्त, मांस, मेद आदि दर्शक के मन को उद्विग्न करते हैं और जुगुप्सा उत्पन्न करते हैं। जुगुप्सा से बीभत्स और भय से भयानक की पुष्टि होती है। घृणा और भय से ग्रस्त व्यक्ति में त्रास, शंका, ईर्ष्या आदि भाव अधिक दीप्त होते हैं। दुर्बल पराजय से भयग्रस्त रहता है। भरत ने भयानक को बीभत्स का कर्म माना है।[23] अथर्ववेद में कहीं यातुधानों का, कहीं जल, वायु ग्रह आदि के उपद्रवों का, मृत्यु, भूचाल, विद्युत्पात आदि प्राकृतिक विपदाओं का कहीं मृत्यु, जरा रोगादि का भय बहुत ही प्रगाढ़ता से प्रकाशित हुआ है और उनसे मुक्ति की कामनायें की गई हैं।

दुन्दुभि सूक्तों के कतिपय मन्त्र भयभाव और **भयानक रस** की व्यंजना की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अधोलिखित मन्त्र भयाक्रान्त स्त्री का बहुत ही स्वाभाविक बिम्ब उपस्थित करता है-

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्॥
अथर्व. 5/20/5

इस मन्त्र में ऋषि ब्रह्मा कहते हैं कि दुन्दुभिघोष को सुनकर शत्रु की स्त्रियाँ निद्रा से जग कर युद्धजन्य भय से अपने पुत्रों का हाथ पकड़ कर भागने लगें।

शत्रु के मन, नेत्र और हृदय के प्रकम्पन और युद्ध क्षेत्र से पलायन करने की प्रार्थना से दीप्त भयभाव की व्यंजना अधोलिखित मन्त्र में भी द्रष्टव्य है-

उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च।
धावन्तु विभ्यतोऽमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते॥
अथर्व., 5/21/2

उक्त सूक्तों और तद्गत मन्त्रों में भयानक रस के परिपाक की सामग्री के रूप में स्त्री और शत्रु भय का स्फुरण स्थान होने से भयभाव का आश्रय, सम्मुख उपस्थित शत्रुसेना आलम्बन विभाव, दुन्दुभिनाद उद्दीपन विभाव,

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

स्त्रियों का जागना, पुत्रों का हाथ पकड़कर बचने की इच्छा से भागना आदि अनुभाव, कम्पन, विवर्णतादि सात्त्विकभाव, प्रबोध (निद्राच्छेद), पुत्रों के जीवन को बचाने की चिन्ता, त्रास, आशंका आदि व्यभिचारी भावों की गम्यता से भयानक रस को दीप्त करने वाली रससामग्री का अस्तित्त्व देखा जा सकता है। इन मन्त्रों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी युद्ध की भीषणता और भयानक दुष्परिणाम देखकर ऋषि के हृदय से सहसा ही ये उद्‌गार फूटे हैं।

शान्तिक कर्म- शान्तिक कर्म शान्तरस के अभिनय से साम्य रखते हैं। समस्त विपत्तियों के शमनार्थ शान्तिक कर्म किये जाते हैं। यद्यपि अथर्ववेद में प्रतिपादित माहेन्द्री (राज्यविस्तार), अपराजिता (विजयप्रदान कराने वाली), याम्या (मृत्यु का भय निवारण करने वाली), वारुणी (जल सम्बन्धी भय का निवारण करने वाली), वायव्या (वायु सम्बन्धी भय दूर करने वाली) आदि शान्ति क्रियाओं में सकाम प्रार्थनायें मिलती हैं तथापि जीव-जगत् के गूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटन करने वाले सूक्तों और आत्मतत्त्व का विवेचन करने वाले सूक्तों में शमभाव की पुष्टि करने वाले मन्त्रों की भी न्यूनता नहीं है। इसीलिये अथर्ववेद का एक नाम ब्रह्मवेद भी है।

शान्तरस की दृष्टि से उच्छिष्ट ब्रह्म सूक्त (अथर्व. 11/7) सूक्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें ब्रह्म के वास्तविकस्वरूप के बोध से विश्रान्ति को प्राप्त ऋषि ब्रह्मा के तत्त्वज्ञान जन्य शमभाव का प्रकाशन हुआ है। वह जगत् और ब्रह्म की एकता का अनुभव करता है।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥

अथर्व., 11/7/17

तत्त्वज्ञान सम्पन्न ऋषि ऋत, सत्य, तप, आदि सभी भावों को उसी उच्छिष्ट ब्रह्म के ही रूप मानता हैं।

उक्त शान्तिक, पौष्टिक, मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि आभिचारिक कर्मो के सम्पादन के समय ऋत्विक् नट के समान ही प्रशम, कम्प, उद्वेग, स्तम्भन आदि अनुभावों का प्रदर्शन करते थे। प्रजा की शान्ति के लिये नट के समान हित सम्पादक कर्मों में एकाग्रता और प्रसन्नता व्यक्त करते थे। शत्रु के संहार के लिये किये जाने वाले मारणकर्म द्वारा शत्रुओं को पकड़ने और उनके निमित्त पराजय की भावना की जाती थी, जिससे शत्रु विषण्ण होते थे।

जिसप्रकार कविगण काव्य में रसों या भावों का वर्णन नहीं करते हैं अपितु उसको व्यक्त करने वाली रस सामग्री के रूप में विभावों और अनुभावों का वर्णन करते हैं। उसीप्रकार वेदों में भी रसों का वर्णन न होकर विभाव-अनुभाव रूप कारण सामग्री का निरूपण मिलता है। जिसप्रकार रति आदि का जो प्रकाशन नट अपनी चेष्टा द्वारा प्रदर्शित करता है, वह उसका नहीं होता है इसीप्रकार नट के समान ऋत्विक् भी अन्यों के भावों का प्रकाशन करता है, जो देखने वालों में तदनुरूप भाव की अनुभूति कराता है।

इसप्रकार कह सकते हैं कि वैदिककाल में काव्य के सर्वस्वभूत तत्त्व रस की प्राणप्रतिष्ठा वैदिक ऋषियों की वाणी में हो चुकी थी। इसकी अभिव्यक्ति ऋक्, यजु, साम में तो हैं ही परन्तु अथर्ववेद में पूर्ण भव्यता के साथ प्रकाशित हुई है। ये ही भाव लौकिक संस्कृत में स्थायी और व्यभिचारी भावों का रूप ग्रहण करते हैं और सहृदय की चेतना का विषय बनकर अलौकिक रस शब्दवाच्य होते हैं। यही तत्त्व कालान्तर में लौकिक संस्कृत साहित्य में काव्य की आत्मा के रूप में भी प्रतिष्ठित हुआ। **नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते**-(भरत. ना.शा. 6/33 का गद्यभाग), **काव्यस्यात्मा स एवार्थः**-(आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, 1/5), **ये रसस्यांगिनो धर्माः**- (मम्मट, काव्यप्रकाश, 8/1), **काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपेऽर्थे न कश्चिद्विमतिः**-(महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक)। **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**- (विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 1/3) आदि वाक्य इसी तथ्य को पुष्ट करते कि काव्य का प्रधान तत्त्व रस है। ऐसे प्रधान तत्त्व की आविर्भाव भूमि है - अथर्ववेद। मनीषी, परिभू, स्वयम्भू कवि[24] का निःश्वास रूपी वेद-काव्य लौकिककाव्य की रसधारा का उत्स स्वीकार किया जाये तो उसमें लेशमात्र भी विचिकित्सा नहीं हो सकती।

आचार्या, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन् उत्पन्नः कस्य वा कृते। कत्यंगः किं प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः।। - नाट्यशास्त्र-1/4, 5
2. अकामि धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्च नोनः। - अथर्व. 10/8/44

3. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।।
- अथर्व. 10/8/32
4. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।
-ना.शा., 6/33 के बाद गद्यभाग।
5. काव्यप्रकाश, 4/27, 28
6. ना.शा., 6/17
7. ना.शा., 6/18-21
8. ना.शा., 6/22
9. ना.शा., (अभिनवभारती) भाग-1, पृष्ठ-328-336.
10. शृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसामृताः।।
- ना.शा., 6/15
11. पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः।
काव्याद् विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः।।
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः।
लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद् रसभावयोः।।
- दशरूपक, 4/43-44
12. कामस्तद्ग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
- ऋक्. 10/129/4
कामो जज्ञे प्रथमो .....ते काम नम इत् कृणोमि।
- अथर्व. 1/2/19
कामोऽकार्षीन्नाहं करोमि, कामः करोति, कामः कर्ता, कामः कारयिता। - महानारायणोपनिषद्, 18/2
13. नाकामतः क्रिया काचित् दृश्यते कस्यचित् क्वचित्।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुः तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।।
- मनुस्मृति, 2/4
14. शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
- ना.शा., 6/40
15. ऋक्. 1/123/10; 1/113/7
16. अथर्व., 6/8, 9, 130, 131, 132
17. रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः।
- ना.शा., 6/40
18. ऋक्. 10/84/2; अथर्व. 4/31/2
19. वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
- ना.शा., 6/41
20. यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्र यज्ञपतिं तिर। - अथर्व. 7/26/1
21. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेमः।।
- अथर्व., 4/2/7
22. विष्णोर्नु कं प्रावोचं वीर्याणि यः..। - अथर्व., 7/26/1
23. बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः।।
- ना.शा., 6/41
24. ईशावास्योपनिषद्, 8

प्रो. सत्यपालसिंहः

तिङन्तप्रकरणस्थानाम् अवान्तरप्रकरणानां द्विधानामकरणस्याधारः औचित्यञ्च

(प्रस्तुतशोधनिबन्धे वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याः तिङन्तप्रकरणस्थानाम् अवान्तरप्रकरणानां द्विधानामकरणस्याधारः औचित्यञ्च किमिति विचारयिष्यते। तत्र हि तिङन्तघटकभूतानां भ्वादितः आरभ्य चुरादिपर्यन्तानां तिङन्ते भ्वादिप्रकरणम्, तिङन्तेऽदादिप्रकरणम्, तिऽन्ते चुरादिप्रकरणम् इत्यादिरूपेण एकप्रकारेण 'प्रकरणशब्दान्तम्' नामकरणं विहितम्य परन्तु तत्रैव चुरादिप्रकरणानन्तरम् अन्येषां तिङन्तघटकभूतानां हेतुमण्णिजादीनां कृते 'तिङन्ते ण्यन्तप्रक्रिया', सन्नान्तानां कृते 'तिङन्ते सन्नन्तप्रक्रिया', यङ्न्तानां कृते 'तिङन्ते यङन्तप्रक्रिया' इत्यादिरूपेण प्रक्रियाशब्दान्तं च नामकरणं प्रकरणशब्दान्तेभ्यो भिन्नप्रकारेण विहितम्। किमत्र द्विधानामकरणस्य आधारः किं च औचित्यमिति विचारयिष्यते।)

पाणिनीयव्याकरणाध्ययनस्य द्वे परम्परे सूत्रानुक्रमपरम्परा प्रक्रियापरम्परा चेति स्वं स्वं वैशिष्ट्यमादधानेऽद्यापि प्रचलन्त्यौ द्रष्टुं शक्यते। तत्र प्रक्रियापरम्परायां भट्टोजिदीक्षितप्रणीतायाः वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याः सर्वोत्कृटत्वं विद्वद्भिरैकमत्येन मुक्तकण्ठेन च ऊरीक्रियते इति सुविदितमेव। वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदीयं प्रकरणेषु विभक्ता। तत्र प्रकरणेषु तिङन्तानां कृते तिङन्तनामधेयमेकं बृहत्तरं प्रकरणं विहितम्। तच्च प्रकरणं क्वचिद्धातुपाठस्थान् गणाननुरुद्ध्य गणनामोल्लेखपूर्वकम् प्रकरणशब्दान्तम् अवान्तरनामकरणैः तिङन्तेभ्वादिप्रकरणम्, तिङन्तेऽदादिप्रकरणम्, तिङन्ते चुरादिप्रकरणम् इत्यादिरूपेण प्रविभक्तम्। अयं विभागः भ्वादितः आरभ्य चुरादिपर्यन्तानां समेषामपि गणानां पृथकतया विहितः। तत्र-तत्र प्रकरणेषु विहितानि शबादिविकरणानि अन्यानि च गणाश्रितानि कार्याणि नाम्नैव परिलक्ष्यन्ते इति कृत्वा तिङन्तप्रकरणस्थानामवान्तर-विभागानां नामकरणं समीचीनमेव प्रतिभाति। परन्तु तिङन्तेषु अवान्तरप्रकरणानां नामकरणस्यायं प्रकारः चुराद्यनन्तरं न दृश्यते। तत्र **'हेतुमति च'**[1] इत्यनेन प्रयोजककर्तुः व्यापारे प्रेषणादौ विहिते 'णिच्' प्रत्यये सति **'सनाद्यन्ता धातवः'**[2] सूत्रेण ण्यन्तस्य धातुसंज्ञायां सत्यां तिबादीनामासञ्जनं चुरादिप्रकरणवद् भ्वादिप्रकरणवद्वा अत्रापि जायते, परन्तु अत्र नामकरणं तु तथा न दृश्यते। इह तु नामकरणं 'तिङन्ते ण्यन्तप्रक्रिया' इति प्रक्रियाशब्दान्तं कृतं, न प्रकरणशब्दान्तम्। एवमेव यत्र **'धातो कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'**[3] इत्यनेन इषिकर्मणः धातोः इषिणैककर्तृकादिच्छायामर्थे 'सन्' प्रत्यये सति सन्नन्तस्य उक्तप्रकारेण **'सनाद्यन्ता धातवः'** सूत्रेणैव धातुसंज्ञायां सत्यां लडादिलकारानामुत्पत्तिः तेषां स्थाने च तिबाद्यादेशाः यथापूर्वमेव भवन्ति। परन्तु अत्रापि नामकरणं न प्रकरणशब्दान्तम् अपितु प्रक्रियान्तमेव 'तिङन्ते सन्नन्तप्रक्रिया' इति। तथैव यङन्ते, यङ्लुगन्ते, नामधातुषु अपि प्रक्रियाशब्दान्तमेव नामकरणं 'तिङन्ते यङन्तप्रक्रिया', 'तिङन्ते यङ्लुगन्तप्रक्रिया', 'तिङन्ते नामधातुप्रक्रिया' इति विहितं न तु प्रकरणान्तमिति।

अत्र हि इदं विचारणीयं यत् चुरादिगणस्थैः धातुभिः सह **'सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वच्वर्मवर्णचूर्ण-चुरादिभ्यो णिच्'**[4] इत्यनेन सूत्रेण स्वार्थे 'णिच्' प्रत्ययो विहितः, तेषां चुरादिधातूनां संग्रहणं तु 'तिङन्ते चुरादिप्रकरणम्' इत्यनेन नाम्ना विहिते प्रकरणे क्रियते। परन्तु **'हेतुमति च'**[5] इत्यनेन यत्र हेतोः नाम प्रेरकस्य प्रेषणादिव्यापारेऽर्थे 'णिच्' प्रत्ययो विहितः तेषां णिजन्तानां धातूनां संकलनं 'तिङन्ते ण्यन्तप्रक्रिया' इति नाम्ना संकीर्तिते प्रक्रियाशब्दान्ते प्रकरणे दृश्यते।

'प्रक्रिया'शब्दार्थविचारः – सम्प्रति अत्र 'तिङन्ते

ण्यन्तप्रक्रिया', 'तिङन्ते सन्नन्तप्रक्रिया' इत्यादिषु प्रक्रियाशब्दान्तनामकरणेषु प्रक्रियाशब्दस्य समावेशे को हेतुरिति विवेचनात् पूर्वं 'प्रक्रिया' नाम का? इति चिन्तनं मन्ये नाऽसमीचीनमिति कृत्वा तदेवात्र प्रथमं विचार्यते।

प्रकृष्टाक्रिया=प्रक्रिया, क्रियत इति क्रिया, सा च व्यापाररूपा। व्यापारो नाम धात्वर्थः। एवं च प्रकृष्टत्वसंवलिता धात्वर्थव्यापाररूपा या क्रिया सा प्रक्रिया इत्युच्यते। अत्र 'प्र' शब्देन विहितं क्रियायाः प्रकृष्टत्वं नाम किम् इति जिज्ञासायामुच्यते – क्रियायाः प्रकृष्टत्वं नाम प्रकृतिभूतधातुना शब्देन वा सह प्रत्ययाद्यासञ्जनेन प्रकृतेः विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा स्वार्थादधिकतरं योऽर्थो प्रतिपाद्यते तदेव नाम व्यापाररूपायाः क्रियायाः प्रकृष्टत्वम्। एवञ्च णिच्सनादिप्रत्ययान्तैः धातुत्वेनस्वीकृतैः शब्दैः प्रकृत्यर्थतः अधिकतरमर्थमभिव्यज्यमाना या क्रिया सा 'प्रक्रिया' इति। स च स्वप्रकृत्यर्थतः अधिकतरोऽभिव्यज्यमानोऽर्थो हेतुमत्याद्यर्थेषु विहितैः णिजादिभिः प्रत्ययैः धातुत्वेनस्वीकृतैः णिजन्तादिभिः शब्दैर्वा अभिव्यज्यते। अतः अत्र प्रकरणानां नामकरणे 'तिङन्ते ण्यन्तप्रक्रिया' इत्यादिषु प्रक्रियाशब्दस्य समावेशः सर्वथा औचित्यमावहति इति साधुरेव।

तिङन्ते चुरादिप्रकरणमिति प्रकरणशब्दान्तस्य नामकरणस्यौचित्यविचारः-

ण्यन्तप्रक्रियायाः नामकरणस्य विश्लेषणात् पूर्वं तिङन्ते चुरादिप्रकरणस्य नामकरणविषये विचार्यते। इदं हि अत्र चिन्तनीयं यत् ण्यन्तप्रक्रिया इव चुरादिप्रकरणेऽपि 'णिच्' प्रत्ययस्य आसञ्जनं प्रकृतिभूतधातुभिः सह भवत्येव परं तत्र ण्यन्तप्रक्रिया इव चुरादिप्रकरणस्य नाम्नि प्रक्रियाशब्दस्य समावेशो न दृश्यते। अस्य चुरादिप्रकरणस्य नामकरणे प्रक्रियाशब्दस्य अभावविषये हेतुरुच्यते – इह चुरादिप्रकरणे यो 'णिच्'प्रत्ययो दृश्यते तस्य आसञ्जनं **'सत्यापपाशरूप-वीणातूलश्लोकसेनालोमत्वच्वर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्'** इत्यनेन सूत्रेण सत्यापादिशब्दैः चुरादिधातुभिश्चास्वार्थे णिच् प्रत्ययो भवति, तस्य स्वार्थिकत्वात् प्रकृत्यर्थस्यैवाभि-व्यञ्जकत्वाद्धात्वर्थादधिकं किमपि नाभिव्यज्यते। एवञ्च तत्र स्वार्थिकणिजन्तेन 'चौरि'-आदिधातुभिः प्रकृत्यर्थभूतक्रिया-मात्रस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् तत्र किन्चिदप्यतिरिक्तार्थाभावात् क्रियायाः प्रकृष्टत्वं न लभ्यते। सत्यपि णिजन्तरूपे प्रकृष्टार्थस्य अनभिधानादत्र नामकरणे प्रक्रियाशब्दरहितं नामकरणं 'तिङन्ते चुरादिप्रकरणम्' इति युक्तियुक्तमेव।

'तिङन्ते ण्यन्तप्रक्रिया' इति प्रक्रियाशब्दान्तस्य नामकरणस्यौचित्यविचारः-

'हेतुमति च' सूत्रेण विहितस्तु 'णिच्' प्रत्ययो न स्वार्थिकः, अपितु प्रेषयितुः प्रयोजकस्य वा प्रेषणादिरूपं प्रेरणाख्यं व्यापारमभिव्यञ्जयति। स च व्यापारः प्रेरयितृनिष्ठः प्रेषणादिरूपः णिजन्तप्रकृतिभूतधातोः अर्थभूतायाः पठनक्रियायाः भिन्न इति कृत्वा 'पाठयति' (पठन्तं प्रेरयति) इत्यादिषु 'पाठि' इत्यादिकं हेतुमण्णिजन्तं रूपं णिजन्तस्य प्रकृतिभूतपठादिधातोः अर्थादधिकतरं प्रेषयितुः प्रेषणादिरूपं प्रेरणाख्यं व्यापारमप्यभिव्यञ्जयति। एतदेव क्रियायाः प्रकृष्टत्वमिति कृत्वा प्रकरणस्य अस्य नामकरणे 'तिङन्ते ण्यन्तप्रक्रिया' इत्यत्र प्रक्रियाशब्दस्य प्रयोगः सर्वथा युक्तियुक्त इति नात्र कश्चन दोषः।

'तिङन्ते सन्नन्तप्रक्रिया' इति प्रक्रियाशब्दान्तस्य नामकरणस्यौचित्यविचारः-एवमेव सन्नन्तेष्वपि 'सन्' प्रत्ययेन प्रकृतिभूतधात्वर्थातः किञ्चिदधिकमभिव्यज्यते। तत्र 'सन्' प्रत्ययस्य विधायकं सूत्रं **'धातोः कर्मणः समान-कर्तृकादिच्छायां वा'**[6] आह- 'इष्'धातोः कर्मीभूतो यो धातुः, तस्य कर्ता एव इच्छायामपि कर्ता चेत् तदा तस्माद्धातोः इच्छायां 'सन्' प्रत्ययो भवति। यथा- 'पठितुमिच्छति= पिपठिषति' इह कर्ता 'इच्छति' क्रियया पठनमेव अभिप्रैति, अतः क्रियया आप्तुमिष्टतमत्वात् पठ्धात्वर्थः 'पठनम्' अत्र 'इच्छति' क्रियायाः कर्म भवति, स च विग्रहवाक्ये 'पठितुम्' इत्यनेन तुमुन्नन्तेनाभिव्यज्यते। एवञ्च सन्नन्तेन 'पिपठिष' धातुना प्रकृतिभूतात् पठ्धात्वर्थात् किञ्चिदधिकतरं पठनविषयिणी इच्छारुपः अर्थः अभिव्यज्यते। तदेवात्र क्रियायाः प्रकृष्टत्वमिति कृत्वा 'तिङन्ते सन्नन्त्प्रक्रिया' इति नामकरणं साधुरेव।

प्रसंगेऽस्मिनेतदपि ध्यातव्यं यत् 'सन्' प्रत्ययोऽत्र इच्छाया वाचकः, अतः **'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमन्यस्याप्रमाणत्वात्'**[7] **(अष्टा.1.2.56)** इति आचार्यवचनात्स इच्छारुपः प्रत्यार्थ एव विशेष्यः, धात्वर्थस्तु गौणीभूत। स च धात्वर्थः इच्छायां कर्मत्वेन अन्वेति, अतः विशेषणमेव। एवञ्च सन्प्रत्ययार्थभूता इच्छा सनः प्रकृतिभूतपठ्धातोः अर्थे पठनक्रियारूपेऽर्थे किमपि प्रकर्षमादधाति। अतः सन्नन्तानां संग्रहो यत्र क्रियते तस्य नाम 'तिङन्ते सन्नन्तप्रक्रिया' इति युक्तमेव।

'तिङन्ते यङन्तप्रक्रिया' इति प्रक्रियाशब्दान्तस्य नामकरणस्यौचित्यविचारः-

सामान्येन यङ्प्रत्ययस्य विधानं **'धातोरेकाचोहलादेः क्रियासमभिहारे यङ्'**[7] इति सूत्रेण समाहारेऽर्थे क्रियते। समाहारो नाम पुनः पुनः करणम्, भृशार्थो वेति। अतः

क्रियायाः आवृत्तिं भृशार्थत्वं वा द्योतनाय 'यङ्' प्रत्ययस्य विधानं उपर्युक्तसूत्रेण एकाचः हलादेः धातोः क्रियते। अस्य सूत्रस्य अपवादत्वात् **'नित्यं कौटिल्ये गतौ'**[8] सूत्रेण गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यः क्रियायाः कौटिल्ये द्यौत्ये एव 'यङ्' विहितः, न तु भृशार्थे क्रियासमभिहारे वा। एवमेव गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यो विहितेन 'यङ्' प्रत्ययेनापि क्रियायाः कौटिल्यरूपं प्रकृष्टत्वं अभिव्यज्यते। एवञ्च यङन्तेन धातुना सर्वत्र प्रकृष्टक्रियाया अभिव्यज्यमानत्वात् अस्य प्रकरणस्याभिधानम् **'तिङन्ते यङन्तप्रक्रिया'** इति समीचीनमेव।

'तिङन्ते यङ्लुगन्तप्रक्रिया' इति प्रक्रियाशब्दान्तस्य नामकरणौचित्यविचारः-

'यङोऽचि च'[9] सूत्रेण 'यङ्' प्रत्ययस्य लुकि सति प्रत्ययाभावेऽपि तत्र प्रत्ययार्थस्य **'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'**[10] इत्यनया परिभाषया विद्यमानत्वात् यङन्तवद् यङ्लुगन्तादपि भृशार्थरूपायाः, आवृत्तिसंवलितायाः कौटिल्यरूपायाः[11] वा क्रियायाः अभिव्यज्यमानत्वात् अत्रापि प्रकृष्टा क्रिया एवाभिव्यज्यते। अतः अस्य नामकरणमपि 'तिङन्ते यङ्लुगन्तप्रक्रिया' इति साधुरेवेतिस्थितिः।

एवमत्र वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां तिङन्तेषु द्विधानामकरणं सर्वथा युक्तियुक्तं सार्थकञ्चेति मे मतिः।

नामधातुप्रक्रिया- नामशब्देनेह प्रातिपदिकमुच्यते। यत्र प्रातिपदिकैः सह क्यङ्-क्यजादिप्रत्ययानामासञ्जनेन सनाद्यन्ताधातवः सूत्रस्य व्यवस्थया सनाद्यन्तशब्दानां धातुत्वं सम्पद्यते तत्रापि सनाद्यन्तधातूनां प्रकृतिभूताः ये शब्दाः तेषां येऽर्थाः तत्र तेषु-तेषु प्रकृत्यर्थेषु किञ्चिदाधिक्यं नाम प्रकृष्टत्वं प्रत्ययार्थैः सम्पाद्यते। यथा-आत्मनः पुत्रमिच्छति= **पुत्रीयति**[12] इत्यत्र आत्मसम्बन्धी यः पुत्रः तन्निष्ठकर्मत्वनिरूपकम् इष्टत्वम्, इच्छाया विषयत्वं क्यच्प्रत्ययान्तेन पुत्रप्रातिपदिका-न्निष्पन्नेन 'पुत्रीय' धातुना अभिव्यज्यते। एवं च 'पुत्रीय' इत्यत्र पुत्रशब्दार्थभूतं पितृत्वनिरूपितं यत् पुत्रत्वम्, तन्निष्ठं यद् इच्छायाविशयभूतं कर्मत्वं, तदेवात्र प्रकृष्टत्वमितित् कृत्वा नामधातुप्रक्रिया इति नामकरणं तर्कसंगतमिति। एवं च तिङन्तेषु सनाद्यन्तप्रकरणानां सनाद्यन्तप्रक्रिया इति नामकरणं धात्वर्थरूपक्रियायाः प्रकृष्टत्वात् तर्कयुक्तिसंवलितमिति कृत्वा प्रक्रियाशब्दान्तं नामकरणं सर्वथा समिचीनमिति।

आचार्यः
संस्कृतविभागः,
दिल्लीविश्वविद्यालयः

सन्दर्भ सूची

1. अष्टाध्यायी (अष्टा.) 3.3.3
2. तत्रैव 3.1.32.
3. तत्रैव 3.1.25.
4. तत्रैव 3.1.32.
5. तत्रैव 3.1.26.
6. तत्रैव 3.1.26.
7. प्रत्यार्थः प्रधानमित्येवं रूपं वचनमशिष्यम् । कुतः, लोकत एव सिद्धे। सिद्धान्ताकौमुदी (सि. कौ.) 1299.
8. अष्टा. 3.1.22.
9. तत्रैव 3.1.22.
10. तत्रैव 2.4.74.
11. नित्यं कौटिल्ये गतौ, गत्यर्थात्कौटिल्ये एव 'यङ्' स्यान्न तु समाभिहारे। लघुसिद्धान्ताकौमुदी (ल. सि. कौ.) 716.
12. सुप आत्मनः क्यच्, इषिकर्मण एषितुः संबन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच्प्रत्ययो वा स्यात्। (ल. सि. कौ. 723.)

प्रो. साधना कंसल

आचार्य विज्ञानभिक्षु सम्मत प्रकृति-विवेचन

वेदान्तनगरीमार्गो विज्ञानार्केण दर्शितः।[1]

ज्ञान का यह सूर्य विज्ञानभिक्षु, जिसने अपनी ऋजु व्याख्या द्वारा वेदान्तनगरी का मार्ग प्रशस्त किया, 16वीं शताब्दी में अपनी ज्ञानमयी आभा के साथ प्रकाशित हो रहा था। यह संक्रमणकाल था, जिसमें अनेक संस्कृतियाँ परस्पर सामञ्जस्य के प्रयास में रत थीं। ऐसे समय में विज्ञानभिक्षु ने उपनिषदों की दृढ़ आधारशिला पर टिके भारतीय दर्शनों के मिथ्या विरोध को भ्रामक सिद्ध करते हुए उनके समन्वय का स्तुत्य प्रयास किया। भिक्षु ने एक नहीं, अपितु तीन-तीन दर्शनों (सांख्य, योग व वेदान्त) पर लेखनी उठाई तथा अपनी असाधारण विद्वत्ता का परिचय देते हुए तीनों में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया। यद्यपि सांख्यशास्त्री के रूप में भिक्षु की अधिक ख्याति है, किन्तु इससे वेदान्त दर्शन को जो उनकी देन है, उसका मूल्य कम नहीं हो जाता। भिक्षु का यश शंकर व रामानुज की भाँति सब ओर प्रसारित नहीं हो सका, यह भिक्षु का दोष नहीं है, अपितु उन विद्वानों का भिक्षु के प्रति अन्याय है, जिन्होंने उनके कर्तृत्व का उचित मूल्यांकन नहीं किया तथा उन्हें उस उच्च स्थान से वञ्चित रखा, जिसके वे अधिकारी हैं।

भिक्षु ने किसी भी वेदान्ती के समान वेदान्त की सम्पूर्ण प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे हैं। ब्रह्मसूत्र पर उनका ऋजुभाष्य 'विज्ञानामृतम्' है, जो कि सूत्रों की सीधी-सरल व्याख्या प्रस्तुत कर जिज्ञासुओं की शंकाओं का निवारण करता है, उपनिषदों पर उन्होंने 'वेदान्तालोक' नाम से स्वमत का पोषक भाष्य आठ खण्डों में प्रस्तुत किया है। भगवद्गीता के समान ही सिद्धान्तों की स्थापना करने वाली श्रीमदीश्वरगीता पर भी उन्होंने अपना विद्वत्तापूर्ण भाष्य प्रस्तुत किया व वेदान्तियों की प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की परम्परा का पूर्णतः निर्वाह किया है। इन भाष्यों के अतिरिक्त अपने वेदान्तसिद्धान्तों का सरल व संक्षिप्त प्रतिपादन करने के लिये उन्होंने 'उपदेशरत्नमाला' व 'ब्रह्मादर्श' नामक दो प्रकरणग्रन्थों की भी रचना की। उनके द्वारा प्रतिपादित भेदाभेद व परिणामवाद के सिद्धान्त विद्वानों की दृष्टि में ब्रह्मसूत्र के सच्चे प्रतिपाद्य हैं। विवर्तवाद अथवा अद्वैतवाद तो सूत्रों से अधिक कल्पनाजन्य तर्क पर आधारित हैं।

भिक्षु ने वेदान्त का शुद्ध मार्ग प्रदर्शित किया है। भिक्षु के द्वारा प्रतिपादित भेदाभेद व तद्द्वारा सिद्ध किया गया अद्वैत उनके पूर्ववर्ती वेदान्तियों के मतों द्वारा उत्पन्न अनेक समस्याओं का हल करके दर्शन की तर्कसंगतता व बुद्धिग्राह्यता को बढ़ाता है। अतः यह भेदाभेदमूलक अद्वैत का सिद्धान्त वेदान्त-दर्शन को उनका अमूल्य योगदान है। अपने मत के प्रतिपादन के क्रम में भिक्षु जीव, ब्रह्म, प्रकृति आदि के स्वरूप का अपनी दृष्टि से विवेचन करते हैं। इसी शृङ्खला में भिक्षुकृत प्रकृति के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से है–

प्रकृति का स्वरूप -

'प्रकृष्टा कृति परिणामरूपा अस्या इति प्रकृतिः'[2] इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह जगत् का उपादान कारण है। प्रकृति को प्रधान, माया, अव्यक्त, अनात्मतत्व आदि नामों से भी पुकारा गया है। 'प्रधीयतेऽस्मिन् हि कार्यजातमिति प्रधानमुच्यते' प्रधान शब्द के इस अर्थ के अनुसार भी प्रकृति का स्वरूप जगत्-कारण के रूप में ही सामने आता है। अपने व्यक्त रूप जड़-जगत् की तुलना में प्रकृति सूक्ष्म और अव्यक्त है, इसलिये उसे 'अव्यक्त' कहा गया है।

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

ब्रह्म ही आत्मतत्त्व है, प्रकृति उससे भिन्नस्वरूप वाली है, इसलिये वह अनात्मतत्त्व है। सभी पदार्थों का वह मूल है तथा उसका कोई मूल नहीं है, इसलिए वह मूलप्रकृति कही जाती है।

इस प्रकार जगत्कारण के रूप में प्रसिद्ध प्रकृति भिक्षु के अनुसार स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अपितु वह ब्रह्म की शक्ति है। वही ब्रह्म में जगदुपादानत्व को उपपन्न करती है।[3] प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति के रूप में जगत्कारण माना गया है, नहीं तो ब्रह्म में विकारित्व की आपत्ति होती है।[4] तन्तुनाभ का दृष्टान्त देते हुए भिक्षु सिद्ध करना चाहते हैं कि प्रकृति तन्तुनाभ के शरीर के समान ब्रह्म के शरीर रूप में जगत् की रचना करती है, जैसे मकड़ी का शरीर तार को उत्पन्न करता है, किन्तु उसका यह कार्य शरीर में विद्यमान जीवशक्ति के अभाव में सम्भव नहीं है, मृत शरीर से तार उत्पन्न नहीं हो सकता। उसी प्रकार प्रकृति ब्रह्माधिष्ठित होकर ही जगत् की उत्पत्ति में समर्थ हो सकती है।[5] इसलिए प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि ब्रह्म के अधीन उसकी शक्ति है। ब्रह्म की इस शक्ति के विषय में विचार करते हुए भिक्षु प्रश्न उठाते हैं कि जिस प्रधान को ईश्वर की शक्ति के रूप में जगत् का कारण कहा गया है, राजा के मन्त्री और जीव के अन्तःकरण के समान परमात्मा के संकल्पादि की आधारभूता वह क्या ईश्वर की स्वभाव नामक अन्तरङ्ग शक्ति है अथवा शरीरस्थानीय बाह्य शक्ति ही है, जिसके अधिष्ठान के लिये कोई अन्य शक्ति अपेक्षित है अथवा क्या शक्ति की अपेक्षा किए बिना ही ईश्वर स्वतः ही प्रधान पुरुषादि का अधिष्ठाता है? भिक्षु के अनुसार इनमें से प्रथम विकल्प ही ब्रह्ममीमांसा के सिद्धान्त के रूप में स्वीकरणीय है।[6] प्रकृति ब्रह्म की स्वाभाविक अन्तरङ्ग शक्ति है। ''स्वभावस्तु प्रवर्तते, कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'' इस प्रयोग के आधार पर प्रकृति शब्द स्वभाव तथा कारण दोनों का ही वाचक है। फिर भी इस प्रकरण में प्रकृति का अर्थ स्वभाव ही ग्रहण किया जाना चाहिए।[7] स्वीयभाव-पदार्थ को उपाधि कहा जाता है। उपाधि तथा उपाधिमान् में स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध होता है। प्रकृति नित्यशुद्ध सत्त्वांश से ब्रह्म की उपाधि है। अतः वह ब्रह्म की स्वभावरूपा अन्तरङ्ग शक्ति है। वही जगत् का उपादान अथवा विकारिकारण है। शक्ति-शक्तिमदभेद के कारण ब्रह्म को भी प्रकृतिशक्तिविधया जगत् का उपादान कारण कहा जाता है।

ब्रह्म की शक्ति के रूप में ब्रह्माधीन प्रकृति स्वतः ही पुरुष के साथ संयुक्त होकर जगत् के रूप में परिणत नहीं हो जाती। सांख्य के अनुसार तो प्रकृति स्वतः ही आद्यजीव से उसी प्रकार संयुक्त होती है, जैसे अयस्कान्त मणि से लोहा, किन्तु वेदान्त का मत इसके विपरीत है। उसके अनुसार प्रकृति-पुरुष का संयोग ईश्वर के द्वारा किया जाता है। भिक्षु को ईश्वर द्वारा संयोग का मत ही प्रिय है। वे सांख्य के निरीश्वरवाद से क्षुब्ध दिखायी देते हैं तथा उसके ईश्वर-प्रतिषेधांश को दुर्बल मानते हैं।[8] संयोग का कारण ईश्वर को मानना श्रुतिसम्मत है। ईश्वर अपने संकल्प द्वारा इस संयोग का कारण बनता है और यह संयोग उसकी उपाधि विशुद्धसत्त्वा मायारूप प्रकृति के द्वारा ही होता है।

प्रधान को स्वतन्त्र रूप से जगत्कारण मानने का भिक्षु विरोध करते हैं। प्रकृति स्वयं जड़ है। चेतन ब्रह्म से अधिष्ठित हुए बिना उसका कारणत्व सम्भव नहीं है। ऊर्णनाभ के मृत शरीर से तन्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसके लिए चेतनाधिष्ठान की आवश्यकता है।[9] प्रकृति भी अचेतनता के कारण स्वतन्त्र रूप से जगत्कारण नहीं हो सकती। प्रधानस्वातन्त्र्यवादी यदि यह तर्क दें कि गाय द्वारा खाये गए तिनके अचेतन होने पर भी स्वतन्त्र रूप से ही दूध के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसी प्रकार अचेतन प्रधान भी बिना ईश्वर की अपेक्षा के स्वतन्त्र रूप से जगत् का कारण बन सकती है। भिक्षु इस तर्क का भली प्रकार उत्तर देते हैं। उनका कहना है कि तिनके आदि स्वतन्त्र रूप से ही दूध के रूप में परिणत हो सकते हैं तो बैल के उदर में भी उनका ऐसा परिणाम दिखाई देना चाहिये था, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए यह मानना चाहिए कि गाय के उदर में भी गाय के चैतन्य से अधिष्ठित होकर ही वे दुग्ध रूप में बदलते हैं। प्रकृति भी ब्रह्म के संकल्प से ही पुरुष से संयुक्त होकर जगत् के रूप में परिणत होती है।

भिक्षु प्रकृति-स्वातन्त्र्य के विरोध में एक अन्य दृष्टान्त भी देते हैं। जिस प्रकार अन्तःकरण चक्षु आदि के साथ आत्माधिष्ठित शरीर से संयुक्त होकर ही ज्ञानादि स्वकार्यों में समर्थ होता है, उसी प्रकार प्रधान भी स्वतन्त्र रूप से स्वकार्यजनन में असमर्थ है। इस प्रकार विविध युक्तियों से सिद्ध किया जा सकता है कि प्रधान स्वतन्त्र नहीं है, अपितु ब्रह्म के अधीन उसकी शक्ति ही है।[10]

प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। प्रलयकाल में वह गर्तस्थमृतसर्पवत् चेतन ब्रह्म में लीन होकर सुषुप्तवत् स्थित

रहती है,[11] किन्तु ब्रह्म के संकल्प से पुरुष से संयुक्त होकर त्रिगुणात्मिका प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है तथा वह महदादि क्रम से सम्पूर्ण जड़-जगत् के रूप में परिणत होती है। इस प्रकार इस जगत् का विकारी-उपादान-कारण बनती है।

प्रकृति के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा होने पर हमें ज्ञात होता है कि भिक्षु को प्रकृति का सांख्याभिमत स्वरूप ही अभीष्ट है। सांख्य के अनुसार प्रकृति सत्त्व, रजस् व तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही है।[12] सत्त्व, रजस् व तमस् ये तीनों प्रकृति का स्वरूप हैं, गुण अथवा धर्म नहीं। रज्जु के समान ये पुरुष को बांध लेते हैं, इस कारण इनके लिये गुण शब्द का व्यवहार होता है। वस्तुतः ये तीनों द्रव्य ही हैं। लघुत्व, चलत्व, गुरुत्व आदि धर्मों का आधार होने से भी इन गुणों का द्रव्यत्व ही सिद्ध होता है।[13] इस विषय में भिक्षु सांख्यकारिका को भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ये तीनों गुण क्रमशः सुख-दुःख-मोहात्मक माने गए हैं।[14] इन्हीं गुणों का परिणाम होने के कारण जगत् के सभी पदार्थ सुख-दुःख-मोहात्मक दिखाई देते हैं। भिक्षु ने सत्त्वादि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए सांख्यभाष्य में पंचशिखाचार्य को उद्धृत किया है। प्रकृति भी इन तीन गुणों का ही नामान्तर होने के कारण सुख-दुःख-मोहात्मिका ही है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रकृति के स्वरूप के विषय में श्रुति है – 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।'[15] इस वाक्य की व्याख्या करते हुए भिक्षु शंका उठाते हैं कि जब सत्त्वादि में रूपादि सम्भव ही नहीं है तो प्रकृति को 'लोहितशुक्लकृष्णा' कैसे कहा जा सकता है। भिक्षु इस शंका का समाधान दृष्टान्तपूर्वक करते हैं। वे कहते हैं कि अन्यत्र भी भोग्यपदत्वादि गुणों की प्राप्ति की आकांक्षा से निरूप वस्तु का सरूप के समान वर्णन किया गया है। यथा- वाणी को धेनु के रूप में वर्णित किया गया है। प्रकृति नाम से कहे जाने वाले सत्त्वादि गुणत्रय भी निरूप ही हैं। उन्हें लोहितशुक्लकृष्ण राग-प्रकाश-आवरण रूप बताने के लिए ही कहा गया है। सत्त्व गुण शुक्ल अर्थात् प्रकाशात्मक है, रजस् लोहित अथवा रागात्मक व तमस् कृष्ण अर्थात् आवरणात्मक है। इस प्रकार त्रिगुणरूपिणी प्रकृति रूपरहित ही है।

प्रकृति एक ही है। त्रिगुणात्मिका होने के कारण उसके बहुत्व की शंका नहीं करनी चाहिए। प्रलयकाल में ब्रह्मलीन कारण-प्रकृति में तीनों गुण एकत्व को ही प्राप्त होते हैं। अतः कारणरूपा प्रकृति एक ही है। कार्यावस्था में प्रत्येक गुण प्रतिपुरुष अनेक व्यक्तियों के रूप में परिणत होता है, किन्तु इस प्रकार असंख्य हो जाने से उनके त्रित्व के विषय में आशंका उपस्थित हो जाती है। यह आशंका निराधार है। सभी सत्त्व-व्यक्ति परस्पर समरूप होते हैं। अतः अनेक होने पर भी स्वरूपतः सत्त्व एक ही होता है। इसी प्रकार सभी रजो-व्यक्ति व तमोव्यक्ति भी पृथक्-पृथक् असंख्य होने पर भी स्वरूपतः एक होते हैं। इससे गुणों के त्रित्व में कोई बाधा नहीं आती है। तीनों गुण अपने-अपने गुण-परिणाम के सजातीय व दूसरे गुणों के परिणाम के विजातीय होते हैं। इस प्रकार प्रकृति मूलतः एक अद्वितीया व त्रिगुणात्मिका है।

सत्त्वस्वरूपा होने के कारण प्रकृति नित्यज्ञानेच्छा से भी युक्त है। इसी कारण अपने विशुद्ध सत्त्वांश से ब्रह्म की उपाधि बनती हुई वह ब्रह्म के संकल्प, इच्छा, कर्तृत्वादि को उपपन्न करती है।[16] कर्तृत्व, इच्छा आदि सभी प्रकृति के धर्म हैं। ब्रह्म में तो उपाधिमान् होने के कारण, उपाधि के धर्म उसी प्रकार व्यवहृत होते हैं जैसे योद्धाओं की जय-पराजय राजा की जय-पराजय कही जाती है।

सत्त्वस्वरूपा होने के कारण प्रकृति सुखात्मिका है। इसलिए आनन्द को प्रकृति का धर्म कहा गया है। प्रकृति ब्रह्म की उपाधि है। अतः उसके सुखात्मिका होने के कारण ही ब्रह्म को भी आनन्दमय कहा जाता है, क्योंकि उपाधि व उपाधिमान् का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध होता है तथा उपाधि के गुणों का स्वामी के गुणों के रूप में व्यवहार किया जाता है।

प्रकृति नित्य है। उसका नित्यत्व ब्रह्म के समान कूटस्थ-नित्यत्व नहीं, अपितु परिणामिनित्यत्व है। इसीलिए पारमार्थिक सत् ब्रह्म की तुलना में उसे व्यावहारिक सत्ता वाली माना गया है। प्रलयकाल में भी ब्रह्म से अविभक्त रूप से विद्यमान रहने वाली प्रकृति सर्ग के आदि में उससे विभक्त होकर व्यक्त होती है। उसकी उत्पत्ति का कथन करने वाली श्रुतियों को गौणी ही समझना चाहिए। यह उत्पत्ति वस्तुतः पुरुष के संयोग से उसकी अभिव्यक्ति ही है।[17] वस्तुतः अनादि प्रकृति के लिये उपनिषद् में भी मुख्यतः अजा शब्द का ही प्रयोग किया गया है। प्रधान को अनादि न मानने पर ब्रह्म में विकारित्व की आपत्ति होती है, प्रधान के भी कारण की कल्पना करने पर अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। अतः प्रधान को अनादि मानना ही

उचित है। वस्तुतः हम जिसको भी आदिकारण स्वीकार करते हैं, वही प्रधान या प्रकृति नाम से अभिधेय है।

प्रधान अनादि होने के साथ ही अनन्त भी है। प्रकृति का ब्रह्म में लय होता है, नाश नहीं। 'नाशः कारणलयः'[18] इस सांख्यसूत्र से भी यही सिद्ध होता है। पुरुष से वियुक्त होकर अव्यक्त रूप से ब्रह्म में स्थित होना ही प्रकृति का लय है।[19] इस प्रकार प्रकृति अनादि अनन्त होने के कारण नित्य है।

प्रकृति जड़ व परिणामिनी है। परिणामिनी होने के कारण वह विविध रूपों में आभासित होती है। अपने विशुद्ध सत्त्वांश से वह ब्रह्म की उपाधि या माया है तो सत्त्व, रजस्, तमस् से मिश्रित होकर पुरुष के संयोग से महत्तत्त्व के रूप में परिणत होकर यह प्रकृति ही जीव की उपाधि बनती है। यही समस्त जडजगत् के रूप में परिणत होती है। प्रकृति अविद्या नहीं है, वह अविद्या से नितान्त भिन्न है। अन्ततः प्रकृतिविषयक भिक्षु के विचारों को इस प्रकार समझा जा सकता है कि प्रकृति ब्रह्म की जड़ व अन्तरङ्ग शक्ति है, जो प्रलयकाल में उससे एक होकर रहती है। वही सम्पूर्ण जड़-जगत् का उपादान-कारण है, किन्तु वह स्वतन्त्र नहीं है। पुरुष के साथ उसका संयोग ब्रह्म के संकल्प से ही होता है। प्रकृति ही ब्रह्म की उपाधि व जीवोपाधि बनती है। वह नित्य तथा अद्वितीय है। सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था ही प्रकृति का स्वरूप है। वह सुख-दुःख-मोहात्मिका है। ब्रह्म के कर्तृत्वादि व उपादानत्व की उपपत्ति प्रकृति द्वारा ही होती है।

प्रकृति व अविद्या

विज्ञानभिक्षु ने अविद्या तथा उसके स्वरूप पर पर्याप्त विचार किया है। वे अविद्या को विद्या का अभाव नहीं मानते। उनके अनुसार अविद्या विद्या की विरोधी भावसत्ता है।[20] भिक्षु के विचार से अविद्या पुरुषनिष्ठ नहीं है, न ही उसकी निवृत्तिरूप फल पुरुषनिष्ठ है। अविद्या जगत् का कारण भी नहीं है। वह जगत्कारण प्रकृति से नितान्त भिन्न है। अविद्या कोई द्रव्य नहीं है। अविद्या क्या है? क्या वह पुरुषनिष्ठ है तथा क्या विद्या द्वारा उसकी निवृत्ति पुरुषनिष्ठ फल है। इस विषय पर विचार करते हुए भिक्षु पाँच विकल्प प्रस्तुत करते हैं –

1. अविद्या भ्रमरूपा बुद्धिवृत्ति है, अथवा
2. भ्रम का कारण वासना है, अथवा
3. नेत्रादि को आवृत्त करने वाले तिमिरादि के समान बुद्धि का आवरक तिमिर-द्रव्य है, अथवा
4. बुद्धि के तम का पुरुषगत प्रतिबिम्ब है, अथवा
5. शांकर मतावलम्बियों के द्वारा परिभाषित जगत्कारण तथा प्रकृति से अभिन्न है।

भिक्षु इन पाँचों विकल्पों में से एक को भी स्वीकार्य नहीं मानते। यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाए और अविद्या को भ्रमरूपा वृत्ति माना जाए तो वह बुद्धि का धर्म होने के कारण उसका निवृत्ति रूप फल भी बुद्धि का धर्म होगा तथा तब प्रतिवादियों के कहे अनुसार उस भ्रमरूपावृत्तिस्वरूप अविद्या की पुरुषनिष्ठता उपपन्न नहीं हो सकेगी। अतः अविद्या भ्रमरूपावृत्ति नहीं है। भ्रम के समान ही भ्रमरूपवासना भी असङ्ग, कूटस्थ, निर्गुण पुरुष में सम्भव नहीं है। अतः अविद्या को भ्रमरूपवासना मानने से भी उसकी पुरुषनिष्ठता सम्भव नहीं हो पाती। अविद्या ज्ञान की आवरक तमोद्रव्यस्वरूपा भी नहीं हो सकती, क्योंकि इससे उसकी पुरुषनिष्ठता असम्भव है। सत्त्व, रजस्, तमस् को प्रकृतिनिष्ठ बताया गया है, वे आत्मनिष्ठ नहीं हैं। फिर अविद्या को आवरक तमोद्रव्य मानकर उसकी निवृत्ति को विद्या का फल नहीं माना जा सकता, क्योंकि आवरण रूप दोष के दूर होने पर ही विद्या का उदय होता है जो पहले ही दूर हो चुका है, उसकी निवृत्ति को बाद में होने वाली विद्या का फल कैसे माना जा सकता है? और फिर तिमिरादि दोष नयनादि करणनिष्ठ ही होते हैं। तमोद्रव्यरूपी आवरणदोष भी अविद्यानिवृत्तिरूप फल की करणभूता बुद्धि में ही स्थित माना जा सकता है। इससे अविद्या की पुरुषनिष्ठता सम्भव नहीं होगी। अतः अविद्या आवरक तमोद्रव्य भी नहीं है।

अविद्या को बुद्धिनिष्ठ तम का आत्मनिष्ठ प्रतिबिम्ब भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि बुद्धिवृत्ति ही चैतन्य में प्रतिबिम्बित होती है और बुद्धिवृत्ति का उदय प्रतिबन्धक तम के निरास के उपरान्त ही होता है। ऐसी स्थिति में जब बिम्बरूप तम का ही निरास हो गया, तब चैतन्य में उसका प्रतिबिम्ब भी नहीं पड़ सकता, क्योंकि बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब की कल्पना भी नहीं की जा सकती और फिर अविद्या को बौद्ध तम का प्रतिबिम्ब मानने पर उसकी निवृत्ति को विद्या का फल नहीं माना जा सकता, क्योंकि विद्या की उत्पत्ति ही तम के दूर हो जाने पर होती है। अतः तमोनिवृत्ति पहले ही हो चुकने के कारण उसे विद्या का फल मानना कैसे उचित है। स्पष्ट ही है कि अविद्या

बुद्धिनिष्ठ तम का चैतन्यगत प्रतिबिम्ब भी नहीं है।

अविद्या को जगत्कारण व प्रकृति से अभिन्न मानने का तो भिक्षु तीव्र विरोध करते हैं। उनके अनुसार अविद्या को जगत्कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका न तो कोई लौकिक उदाहरण है और न कोई श्रुति ही अविद्या को जगत्कारण मानने की पुष्टि करती है। यदि अविद्या को जगत्कारण माना जाएगा, तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि ज्ञान से अविद्या का नाश होने पर जगत् का भी नाश हो जाता है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। एक पुरुष के ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी जगत् का नाश नहीं होता, क्योंकि अन्य पुरुष उस जगत् का दर्शन करते हैं। अन्य की बात क्यों की जाए, जिस पुरुष को ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह स्वयं भी जीवन्मुक्तावस्था में जगत् का दर्शन करता ही है। यदि अविद्या को जगत्कारण मानें तो जीवन्मुक्त के जगत्दर्शन की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कारण का नाश होने पर कार्य का नाश होता ही है, इससे विपरीत मान्यता अनुचित है। यदि अविद्या को जगत्कारण मानने वाला प्रतिवादी यह तर्क दे कि जीवन्मुक्त में भी अविद्या का लेश विद्यमान रहता है और इसी से उसे जगत् का दर्शन हो पाता है, तो यह नितान्त मूर्खतापूर्ण कल्पना ही होगी। इससे ज्ञान व अज्ञान के नाश्य-नाशक भाव की कल्पना ही दूषित हो जाती है। क्योंकि नाशक ज्ञान की उपस्थिति में भी नाश्य अज्ञान (अविद्या) का लेश स्थित रह जाता है। विद्या व अविद्या को एक ही अधिकरण में स्थित मानना अनुचित है। अतः भिक्षु इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अविद्या को जगत्कारण मानना भी अविद्या के कारण ही है।

यदि अविद्या को जगत्कारण मानने वाले दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि अविद्या प्रकृति के समान एक ही नहीं है, प्रतिपुरुष असंख्य अविद्याएँ हैं तथा ज्ञान द्वारा एक पुरुष की अविद्या का नाश होने पर उस पुरुष के लिए ही जगत् का नाश होता है। इस प्रकार अन्य पुरुषों का जगत्दर्शन उपपन्न हो जाता है। भिक्षु के अनुसार यह तर्क मात्र कल्पना है। जगत्कारण के रूप में असंख्य अविद्याएँ होने पर असंख्य जगत् होंगे व व्यर्थ का गौरव-दोष उपस्थित हो जाएगा। वस्तुतः अविद्या को जगत्कारण मानना प्रच्छन्न रूप में बौद्धों के दर्शन को स्वीकार करना ही है।

भिक्षु कहते हैं कि यदि अविद्याकारणतावादी यह कहें कि हम तो अद्वैत-श्रुतियों के अनुरोध से ही अविद्या को जगत्कारण तथा ज्ञाननाश्या मान रहे हैं, जिससे मोक्ष व प्रलय की दशा में अविद्या का नाश हो जाने पर ब्रह्माद्वैतता अक्षुण्ण रह सके। भिक्षु का विचार है कि प्रकृति को जगत्कारण तथा नित्याविनाशिनी मानने पर भी ब्रह्माद्वैत की कोई हानि नहीं होती। इस विचार को उन्होंने तर्कों व श्रुति से भी पुष्ट किया है। फिर अनित्य अविद्या को जगत्कारण मानने पर ब्रह्म की कूटस्थता भी सिद्ध नहीं हो पाती, क्योंकि सर्ग के आरम्भ में अविद्या के न रहने पर निर्विकार ब्रह्म कैसे जगत् के रूप में परिणत हो सकता है? जगत्कारण को नित्य ही होना चाहिए। इस बात को सांख्यप्रवचनभाष्य में स्पष्ट रूप से समझाते हुए भिक्षु कहते हैं कि ज्ञाननाश्या अविद्या निश्चय ही जगत्कारण नहीं है। जगत्कारण प्रकृति या माया ही है। वह प्रकृति अविद्या से नितान्त भिन्न है। अविद्या अनित्य होने के कारण जगत् का कारण हो ही नहीं सकती। जगत् का मूल कारण नित्य होना चाहिए, अतः परिणामिनित्य प्रकृति ही जगत् का कारण हो सकती है, क्योंकि वह ब्रह्म की अन्तर्लीन शक्ति के रूप में सर्गादि में भी विद्यमान रहती है। फिर यदि अविद्या को जगत्कारण माना जाए, तब उसका स्वरूप क्या होगा? वह द्रव्य मानी जाती है, तब तो नाममात्र के भेद से वह प्रकृति ही हुई। तब उसे ज्ञाननाश्या नहीं माना जा सकता। यदि उसे गुण माना जाए, तब उसके आधार रूप में द्रव्यरूपा प्रकृति को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि गुण द्रव्य के बिना नहीं रह सकते और पुरुष निर्गुण है। अतः पुरुष से भिन्न प्रकृति ही अविद्या का आधार होगी। यदि अविद्या को द्रव्य, गुण, कर्मादि से विलक्षण माना जाए तो वह स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि ऐसे किसी पदार्थ की सत्ता प्रामाणिक नहीं है। इस प्रकार समस्त तर्क-वितर्क से सिद्ध होता है कि अविद्या प्रकृति नहीं है और न जगत्कारण है।

भिक्षु का विचार है कि जिस अद्वैत के अनुरोध से अविद्या को जगत्कारण व बन्धन का हेतु माना जाता है, वह भी तो सिद्ध नहीं हो पाता, क्योंकि यदि अविद्या स्वप्न-रज्जु के समान तुच्छ है, तब तो वह जगत्कारण व बन्धन हेतु नहीं हो सकती और यदि उसे सत् माना जाता है तो उस अविद्या से ही द्वैत की उत्पत्ति उठ खड़ी होती है। प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति के रूप में जगत्कारण मानने पर इस प्रकार की कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। अतः प्रकृति ही जगत्कारण है तथा वह अविद्या से भिन्न है।

यह सिद्ध हो जाने पर कि अविद्या प्रकृति या माया नहीं है, न ही वह जगत्कारण है, यह प्रश्न स्वाभाविक रूप

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

से उत्पन्न होता है कि फिर यह अविद्या है क्या? भिक्षु बताते हैं कि वस्तुतः अविद्या का यथार्थ वर्णन योगसूत्र में किया गया है 'अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-ख्यातिरविद्या।'[21] अर्थात् अनित्य, अशुचि, दु:ख व अनात्मा को नित्य, शुचि, सुख व आत्मा समझना ही अविद्या है। इस प्रकार अविद्या का अर्थ विपरीत ज्ञान सिद्ध होता है, विद्या का अभाव नहीं। अमित्र शब्द का अर्थ मित्र का अभाव नहीं, अपितु मित्र-विरोधी शत्रु है। इस प्रकार अविद्या भी विद्या का अभाव मात्र नहीं है, अपितु वह विद्या की विरोधी भावात्मक वस्तु है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात' - इस श्रुति से माया को अविद्या का पर्यायवाची मानकर उसे प्रकृति समझना और जगत्कारण मानना तो मात्र भ्रम है। वस्तुतः माया ब्रह्म की अपरिणामिनी उपाधि है तथा जड़त्वसाधर्म्य के कारण प्रकृति का उसमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। इसलिए माया का तात्पर्य प्रकृति है, जो ब्रह्म की शक्ति है और जगत् का उपादान कारण है। प्रकृति नित्य व द्रव्य है तथा अविद्या से नितान्त भिन्न है। अविद्या तो योगोक्त वृत्तिविशेषमात्र है, उसे जगत्कारण नहीं माना जा सकता।

प्रकृति की सत्ता -

अद्वैत वेदान्ती प्रकृति को रज्जु-सर्पवत् तुच्छ व मिथ्या मानना चाहते हैं, किन्तु भिक्षु इसे स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार प्रकृति को असत् नहीं माना जा सकता। उसकी सत्ता को स्वीकार करने के लिए अनेक तर्कसङ्गत कारण हैं। रज्जु-सर्प का दृष्टान्त प्रकृति की असत्ता सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि इस दृष्टान्त के अनुसार पुरुष रज्जु है व प्रकृति सर्प है। प्रकृति व पुरुष दोनों की ही सत्ता है। पुरुष को प्रकृति समझ लेना रज्जु को सर्प समझ लेने के समान ही असत् एवं मिथ्या है।

वस्तुतः प्रकृति ब्रह्म की अन्तर्लीन शक्ति के रूप में सृष्टि के आरम्भ में भी विद्यमान रहती है। वही ब्रह्म की साक्षितामात्र से जगत् के रूप में परिणत होती है। प्रकृति की इस सुषुप्तावस्था अथवा ब्रह्मलीनावस्था (इस अवस्था की तुलना भिक्षु ने गर्तस्थ मृत सर्प से की है) को अविभागावस्था कहा जा सकता है,[22] किन्तु इससे प्रकृति की असत्ता सिद्ध नहीं होती। सर्गकाल में प्रकृति विविधरूपों वाले जड़जगत् के रूप में परिणत होती हुई स्थित रहती है। प्रलय के समय अपने समस्त कार्यजात को स्वयं में विलीन करती हुई वह कारणब्रह्म में ही लीन हो जाती है। वस्तुतः सृष्टि के आदि में तथा प्रलयकाल में भी स्थित रहने के कारण प्रकृति की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।[23]

यदि यह शंका की जाती है कि प्रलयकाल में भी प्रकृति की सत्ता स्वीकार करने से ब्रह्माद्वैत की सिद्धि नहीं हो पाती है, अतः प्रकृति को सत् नहीं मानना चाहिए, तो यह तर्क अनुचित है। इस शंका का परिहार बड़ा सरल है। प्रकृति प्रलयकाल में ब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाती है, जैसे समुद्र के जल में नमक घुलकर लीन होता हुआ जलरूप हो जाता है। जल में घुले हुए नमक से समुद्र में किसी प्रकार के द्वैत की आपत्ति नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार ब्रह्म में लीन उसकी शक्तियों के कारण ब्रह्म में भी द्वैत की शंका करना अनुचित है। शक्ति व शक्तिमान् में द्वित्व नहीं मानना चाहिए। इसलिये प्रकृति व ब्रह्म का प्रलयकालीन ऐक्य ही स्वीकार्य है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। प्रकृति व पुरुष उसकी अचेतन व चेतन शक्तियाँ हैं। सर्गावस्था में दोनों अपने सृष्ट्यादि कार्य करते हैं। प्रलय की अवस्था में कार्योपराम के कारण दोनों सुषुप्तावस्था में ब्रह्म में लीन रहते हैं। प्रकृति अपने समस्त कार्यों सहित सूक्ष्म व अव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहती है। उस समय वह अपने रूप में आभासित नहीं होती, अपितु ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में अविभाग-सम्बन्ध से स्थित रहने के कारण ज्ञानरूप से ही व्यञ्जित होती है। वह किसी विजातीय पदार्थ के रूप में नहीं होती, किन्तु इससे प्रकृति को अत्यन्त असत् नहीं कहा जा सकता और इस अविभागावस्था के कारण ब्रह्माद्वैत की हानि भी नहीं होती।

प्रकृति की सत्ता अर्थक्रियाकारित्वरूप व्यावहारिक सत्ता है। वह ब्रह्म के समान सत् नहीं है। यदि यह कहा जाए कि प्रकृति तो नित्य है, फिर उसकी सत्ता अपारमार्थिक कैसे है, तो सरल सा उत्तर यह है कि प्रकृति नित्य ही है। व्यावहारिक सत्ता का तात्पर्य अत्यन्त विनाशित्व नहीं है। परिणामिनित्यत्व को ही व्यावहारिक सत्त्व मानना चाहिए। प्रकृति व्यक्तावस्था में भी अपने परिणामित्व के कारण वर्तमानावस्था में सत् होती हुई अतीत व अनागतावस्था से सर्वदा असत् रहती है। कारण रूप में, ब्रह्म की परिणामिनित्य शक्ति के रूप में वह सत् भी है। अतः उसे सदसद्रूपा कहा जा सकता है। प्रकृति के इस परिणामिनित्यत्वरूप व्यावहारिक सत्त्व को स्वीकार करने से ब्रह्माद्वैत की किसी प्रकार की हानि नहीं होती।

प्रकृति की सत्ता सांख्योक्त अनुमान से भी सिद्ध हो सकती है।[24] प्रकृति को इसीलिए आनुमानिक भी कहा गया है। सांख्य में महत्पर्यन्त कार्यों की अनुमान से सत्ता सिद्ध की गयी है। कार्य-कारण रूप से यह सत्ता सिद्ध होती है, जैसे अहंकार के कारण के रूप में बुद्धि का अनुमान किया गया है, उसी प्रकार बुद्धि के कारण के रूप में प्रकृति का अनुमान किया जाता है। सुख-दुःख मोहरूपिणी बुद्धि के कारण के रूप में सुख-दुःख मोहात्मक कोई कारण द्रव्य होना चाहिए और वही कारण द्रव्य प्रकृति है। इस प्रकार बुद्धि के कारण के रूप में प्रकृति की सत्ता अनुमान से सिद्ध होती है। यदि यह कहा जाये कि बुद्धि के कारण के रूप में प्रकृति का अनुमान हो सकता है तो प्रकृति का भी कारण होना चाहिए, किन्तु यह तर्क स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि प्रकृति का कोई मूलकारण नहीं है। प्रकृति अनादि व नित्य है। उसके भी कारण की कल्पना करने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होगा, क्योंकि प्रकृति का कारण, उसका कारण, फिर उस कारण का भी कारण मानना पड़ेगा। इस प्रकार की अनवस्था होने पर कहीं तो रुकना होगा तथा यह मानना पड़ेगा कि यही मूल कारण है। भिक्षु के मत में जहाँ रुका जाए, वही प्रकृति है, क्योंकि प्रकृति का तात्पर्य मूलकारण ही है।[25] इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि बुद्धि के कारण के रूप में मूल प्रकृति का अनुमान होता है और वह प्रकृति नित्य है। उसका कोई मूल कारण नहीं है।

प्रकृति को आनुमानिक कहने से यह न समझ लेना चाहिए कि श्रुति-स्मृतियों में उसकी सत्ता का श्रवण नहीं होता। वस्तुतः प्रकृति को सिद्ध करने वाली अनेक श्रुति व स्मृति विद्यमान हैं। प्रकृति को आनुमानिक उसी रूप में कहा गया है। जिस रूप में ब्रह्म को औपनिषद कहा गया है। जिस प्रकार ब्रह्म की सत्ता अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होती है, किन्तु उसकी सिद्धि में श्रुतिप्रमाण की प्रधानता होने के कारण उसे शास्त्रयोनि कहा जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के श्रुतिसिद्ध होने पर भी उसकी सत्तासिद्धि में अनुमान की प्रधानता होने के कारण वह आनुमानिक कही जाती है।

जगदुपादान के रूप में भी प्रकृति की सत्ता मानना आवश्यक है। प्रकृति के अभाव में ब्रह्म का अविकारित्व सिद्ध नहीं हो पाता।[26] ब्रह्म को जगत् का सर्वकारण माना गया है।[27] ब्रह्म की इस कारणता की निर्वाहिका प्रकृति ही है।[28] ब्रह्म स्वयं कूटस्थ चिन्मात्र है। उसका जगद्रूप में परिणमन असम्भव है। प्रकृति ही ब्रह्म की साक्षितामात्र से उत्तेजित होकर जगत् के रूप में परिणत होती है। प्रकृति की सत्ता को स्वीकार न किया जाए तो निर्विकार ब्रह्म का उपादानत्व उपपन्न नहीं हो सकता। अतः जगत् के उपादानकरण के रूप में ब्रह्म की शक्ति प्रकृति की सत्ता है।[29]

सांख्य तो प्रकृति-पुरुष के संयोग के कारण के रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, किन्तु ब्रह्ममीमांसा में ब्रह्म को इस संयोग का कारण माना गया है। श्रुति-प्रमाण से सिद्ध है कि ब्रह्म अपने संकल्प मात्र से प्रकृति व पुरुष के संयोग का विधायक है। चिन्मात्र ब्रह्म में संकल्पादि की उपपत्ति नहीं होती।[30] यह संकल्प विशुद्धसत्त्वा, नित्यज्ञानेच्छादि से युक्त ब्रह्म की उपाधि माया अथवा प्रकृति द्वारा ही सम्भव है। अतः स्पष्ट है कि ब्रह्म की उपाधि के रूप में प्रकृति सत् है।

वस्तुतः प्रकृति नित्य है। उसकी उत्पत्ति व नाश का श्रवण होने से उसे अनित्य अथवा असत् नहीं मान लेना चाहिये। प्रधान की उत्पत्ति-नाश का वास्तविक अर्थ व्यक्त होना व लय होना ही है।[31] सत् प्रकृति की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। उसके अभाव में जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसके भी कारण की कल्पना करने में अनवस्था है, यह पहले ही कहा जा चुका है। इसीलिए प्रधान की उत्पत्ति विषयक श्रुतियों को गौणी मानना चाहिये। प्रधान की उत्पत्ति नहीं होती वह मात्र ब्रह्म से विभक्त होकर जड़जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है।

प्रकृति का नाश भी गौण रूप से ही प्रयुक्त है। वस्तुतः प्रकृति का नाश नहीं होता, अपितु वह मात्र ब्रह्म में लीन होकर अव्यक्तावस्था में विरतव्यापार होने के कारण सुषुप्त सी स्थित रहती है। यह लय है, नाश नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मूल प्रकृति नित्य है।

अतः पर्याप्त विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रकृति सत् है तथा उसका निराकरण करना अनुचित है।[32] वह विकार के रूप में असत् हो सकती है, किन्तु कारण रूप में तो सत् ही है।[33] इस प्रकार की सदसद्रूपा प्रकृति की सत्ता व्यावहारिक सत्ता है, किन्तु व्यावहारिक सत्ता को अत्यन्त असत्ता नहीं माना जा सकता। श्रुतिसिद्ध प्रकृति का अपलाप करना अज्ञान का ही सूचक है।

प्रकृति के रूप -

सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था प्रकृति ब्रह्म

की शक्ति है। वह अपने विशुद्ध सत्वांश से ब्रह्म की उपाधि बनती है। वही सम्पूर्ण जड़जगत् के रूप में परिणत होती है। प्रकृति के इन तीनों रूपों को पृथक्-पृथक् इस प्रकार समझा जा सकता है-

1. माया -

माया को ब्रह्म की उपाधि कहा गया है।[34] ब्रह्म के संकल्पादि उसकी उपाधि माया द्वारा ही ब्रह्म में उपपन्न होते हैं, क्योंकि स्वयं चिन्मात्र ब्रह्म में इच्छा, संकल्पादि का अभाव होता है। इस ईश्वर की उपाधिस्वरूपा माया को नित्यविशुद्धसत्त्वस्वरूपा व अपरिणामिनी माना गया है। फिर प्रश्न उठता है कि परिणामिनी त्रिगुणमयी प्रकृति का रूप माया को कैसे माना जा सकता है। प्रकृति में माया का अन्तर्भाव कैसे सम्भव है? भिक्षु का विचार है कि प्रकृति तथा माया दोनों ही जड़ हैं, अतः प्रकृति में माया का अन्तर्भाव किया जा सकता है।[35] परिणामित्व व अपरिणामित्व की समस्या का भी हल किया जा सकता है। प्रकृति रजस्-तमस् से सम्मिश्रित अवस्था में ईश्वर की उपाधि नहीं बनती है, अपितु वह केवल नित्य शुद्ध सत्त्वांश से नित्यज्ञानेच्छादि से युक्त होकर ईश्वरोपाधि कहलाती है। शुद्ध सत्वांश से वह अरिणामिनी ही होती है। रजस्, तमस् आदि गुणों से मिश्रित होती हुई ही उस प्रकृति में परिणाम होता है, क्योंकि परिणाम के लिए तीनों गुणों का विषय रूप से मिलना आवश्यक है। अतः शुद्ध सत्त्वांश से प्रकृति ईश्वर की उपाधि बन सकती है तथा माया का उसमें ही अन्तर्भाव सम्भव है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रकृति ही विशुद्धसत्त्वांश से मायारूप में ईश्वर की उपाधि बनती है। माया प्रकृति का ही एक रूपभेद है। इस विशुद्धसत्त्वस्वरूप से ही प्रकृति नित्यज्ञानेच्छा आदि से युक्त होती है। सत्त्वगुण सुखस्वरूप है। अतः मायारूप में प्रकृति नित्यानन्दमयी भी है। इसीलिए कहा गया है, 'आनन्दादयः प्रधानस्य।'[36] ईश्वर में नित्य ज्ञानेच्छा, आनन्दादि की उपपत्ति उसकी उपाधि मायारूपा प्रकृति के द्वारा ही होती है।[37] विशुद्धसत्त्वस्वरूपा तथा अपरिणामिनी होने के कारण माया के रूप में प्रकृति को कारणोपाधि कहा जाता है।[38]

इस प्रकार भिक्षु ने माया व प्रकृति को एक ही माना है।[39] माया प्रकृति का रूप भेद मात्र है। वह प्रकृति का विशुद्ध सत्त्वांश है।

2. जीवोपाधि-

बुद्धि को जीव की उपाधि माना गया है। बुद्धि के बिना उसका जीवरूप में व्यवहार भी सम्भव नहीं है। जीव का संसारित्व, कर्तृत्वादि समस्त व्यवहार बुद्ध्यौपाधिक ही होता है।[40] यह बुद्धि प्रकृति का ही एक अन्य रूपभेद है। बुद्धि महत् की पर्यायवाची है। मूल प्रकृति ही मलिनसत्त्वविशेषरूपी रजस्-तमस् से सम्मिश्रित अंशान्तरों से पुरुष के संयोग से महत्तत्व के रूप में परिणत होती है और इस रूप में वह जीव की उपाधि कहलाती है। जीवोपाधि के रूप में प्रकृति को क्लेशादि वासनाओं से मलिनसत्त्व वाली कहा गया है।[41] इस रूप में भी वह नित्य ही होती है। प्रकृति का यह रूप-परिणाम होने के कारण कार्यरूप होता है। अतः जीवोपाधि के रूप में उसे कार्योपाधि कहा गया है।[42] जीवोपाधि प्रकृति परिणामिनी होती है तथा बुद्धि नाम से व्यवहृत होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवोपाधि बुद्धि कोई अलग तत्त्व नहीं है, अपितु वह भी प्रकृति का ही एक रूपभेद है। प्रकृति ही जीवोपाधि के रूप में परिणत होती है।

3. जड़-जगत्-

प्रकृति का एक और रूपभेद हमें दिखाई देता है वह है-सम्पूर्ण सूक्ष्म-स्थूलरूप जड़-जगत्। विशुद्ध सत्त्वांश से जो प्रकृति ईश्वर की उपाधि है, मलिनसत्त्वविशेष रजस्-तमस्-मिश्रित अन्य अंशों से महत्तत्व के रूप में परिणत होती है। इस रूप में, जीवोपाधि नाम से अभिहित, वह मलिनसत्त्वा होती है। जीवोपाधि की तुलना में भी निकृष्ट अंशान्तरों में प्रकृति अन्य समस्त विकारों के रूप में परिणत होती हुई जड़-जगत् का रूप धारण करती है।[43] महत् से स्थूलभूतपर्यन्त समस्त जड़जगत् प्रकृति का ही रूपभेद है। यह प्रकृति की कार्यावस्था तथा व्यक्तावस्था है। जड़-जगत् प्रकृति से उत्पन्न कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। अव्यक्त प्रकृति जगत् के रूप में परिणत होती हुई मात्र व्यक्त होती है। इस रूप में प्रकृति परिणामिनी ही है। जगत् के रूप में परिणमन के कारण ही प्रकृति को जगत् का उपादान-कारण कहा गया है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि माया, जीवोपाधि, बुद्धि, जड़जगत् प्रकृति के ही विविध रूप हैं। इन विभिन्न रूपों में व्यक्त होती हुई वह अज्ञानियों को मोहित करती है तथा सर्ग के अन्त में अपने रूपभेदों को अपने में ही समेटती हुई परब्रह्म में लीन हो जाती है।

आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्षा
संस्कृत-विभाग
कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

सन्दर्भ सूची

1. विज्ञानामृतभाष्यम्, पृ.सं. 75
2. वही, पृ.सं. 76
3. जगज्जन्मादिकारणत्वनिर्वाहिकां ब्रह्मण: शक्तिं प्रधानादिमवधारयति। वही, पृ.सं. 128
4. वही
5. प्रधानकारणत्वं शरीरवच्छक्तिविद्ययैवोच्यते न स्वातन्त्र्ये-णेत्यवधार्यत इत्यर्थ:। वही, पृ.सं. 131 व पृ.सं. 129
6. 'तत्राद्यं पक्षं सिद्धान्तयति।' वही, पृ.सं. 138
7. प्रकृतिशब्दस्य स्वभाकारणोभयवाचित्वं, तथाप्यत्र प्रकृति: स्वभाव एव बोध्य:। वही, पृ.सं 139
8. अथवा कापिलैकदेशस्याप्रामाण्यमस्तु। वही, पृ.सं. 144, सांख्यप्रवचनभाष्यम्, पृ.सं. 4
9. स्थूलप्रपंचस्य देहादेश्चेतनाधिष्ठानेनैव कार्यकारित्वदर्शनात्। विज्ञानामृतभाष्यम्, पृ.सं. 129
10. अतो स्वतन्त्रप्रधानवादो न सम्भवतीत्यर्थ:। वही, पृ.सं. 163 से 165 तक
11. 'निर्व्यापारतया गर्तस्थमृतसर्पवत्।' वही, पृ.सं. 51
12. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थाप्रकृति:। सांख्यसूत्र 1.61
13. गुरुत्वादिगुणै: सत्त्वादीनां द्रव्यत्वसिद्धेरिति। विज्ञानामृतभाष्यम्, पृ.सं. 53
14. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका:। सांख्यकारिका-12
15. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4.5
16. प्रकृतिर्नित्यशुद्धकेवलसत्त्वांशेन नित्यज्ञानेच्छादिमतीरी-श्वरोपाधि:। विज्ञानामृतभाष्यम्, पृ.सं. 140
17. प्रधानस्योत्पत्तिश्च प्रकृतिपुरुषसंयोगेनाभिव्यक्तिर्गौणीति बोध्यम्। वही, पृ.सं. 130
18. सांख्यसूत्र 1.121
19. तथाऽनयोर्लयोऽपि वियोगरूप एव। विज्ञानामृतभाष्यम्, पृ.सं. 19
20. अतएव चाविद्या नाभावोऽपितु विद्याविरोधिज्ञानान्तरमिति। सांख्यप्रवचनभाष्यम्, पृ.सं. 32
21. योगसूत्र 1.5
22. विरतव्यापारतया कारणरूपेण गर्तस्थमृतसर्पवद् विलीनमासीदित्यर्थ:। विज्ञानामृतभाष्यम्, पृ.सं. 19
23. पुंप्रकृत्योरुभयोरपि परमात्मनि स्थितिस्मरणेन। वही, पृ. सं. 111
24. साङ्ख्योक्तानुमानत:। वही, पृ.सं. 67
25. प्रकृतिरिह मूलकारणस्य संज्ञामात्रमित्यर्थ:। साख्यप्रवचनभाष्यम्, पृ.सं 46
26. ईश्वराविकारित्वान्यथानुपपत्यादिभिश्च प्रधानहेतुत्वसिद्धे:। विज्ञानामृतभाष्यम्, पृ.सं. 67
27. ब्रह्मणस्तु सर्वशक्तिकत्वात् तत्तदुपाधिभि: सर्वकारणत्वम्। वही, पृ.सं. 18
28. जगज्जन्मादिकारणत्वनिर्वाहिकां ब्रह्मण: शक्तिं प्रधानादिमवधारयति। वही, पृ.सं. 128
29. ईश्वरस्य उपाधिरूपा प्रकृतिरस्तीति। वही, पृ.सं. 140
30. न हि चिन्मात्रस्योपाधिद्वारतां विना इच्छादिकम्। वही, पृ.सं. 52
31. प्रधानस्योत्पत्तिश्च..अभिव्यक्तिगौंणीतिबोध्यम्। तथाऽनयोर्लयोऽपि वियोगरूप एव। वही, पृ.सं. 19
32. प्रधानादिनिराकरणमपसिद्धान्तत्वादुपेक्षणीयम्। वही, पृ.सं 144
33. अवरं कार्य विकाररूपेणैवासत्। वही, पृ.सं. 154
34. ईश्वरोपाधिर्मायाख्य उक्त:। वही, पृ.सं. 53 व 17
35. जडत्वसाधर्म्येण प्रकृतिमध्येप्रवेशसम्भावाच्चेति। वही, पृ. सं. 68 व पृ.सं. 139
36. ब्रह्मसूत्र 3.3.11
37. तस्मादिच्छादिवदेव नित्य आनन्दोऽपीश्वरे मायोपाधिक एव। विज्ञानामृतभाष्यम्, पृ.सं. 34
38. कारणोपाधिरीश्वर:। वही, पृ.सं. 52
39. माया शब्दश्च प्रकृतिवाची। वही, पृ.सं. 53
40. बुद्धिं विना जीवव्यवहाराभावात्। वही, पृ.सं. 82
41. तत्र क्लेशादिवासनामलिनसत्त्वं जीवोपाधि:। वही, पृ.सं. 53
42. कार्योपाधिरियं जीव:। वही, पृ.सं. 52
43. ततोऽपि निकृष्टैरंशान्तरै: सर्वमन्यद् विकारजातमुत्पादयतीति विभाग इति। वही, पृ.सं 141

शोध-पत्र

प्रो. रणजित बेहेरा

अलफ्रेडहिलेब्राण्टवर्यस्य वैदिकी दृष्टिः

विश्वसाहित्ये भारतीयमनीषायाः स्थानं विशिष्टमेव। तस्याः मनीषाया मूर्तरूपं विद्यतेऽखिलं वैदिक-वाङ्मयम्। भारतीय-धर्म-संस्कृति-तत्त्वज्ञानादीनां समुचितावगमनाय वेदानामनुशीलनमपरिहार्यमेव। प्रायः सर्वैरेव स्वीक्रियते यदृग्वेदो वर्तते विश्वसभ्यताया मूलग्रन्थः। दुर्बोध्यभाषाशैलीकारणाद् वैदिकमन्त्राणामर्थबोधः सारल्येन नैव सञ्जायते। एतदर्थमृचामव- बोधनाय यास्क-स्कन्दस्वामी-सायण-महीधर-महर्षिदयानन्द-अरविन्दप्रभृतयः प्राच्यवेद-भाष्यकारास्तथा विल्सन-राथ-मैक्समूलर-हिलेब्राण्ट-एबीकिथप्रभृतयः पाश्चात्यवैदिक-विद्वांसः विविधभाष्यमनुवादं वा कृतवन्तः।

सर्विलियवजोन्समहोदयस्य प्रयासेन कोलकात्तायां 'रायल-एशियाटिक-सोसाइटि-ऑफ-बेंगल' इति संस्था संस्थापिता तथा च स्थानीयसंस्कृतपण्डितानां साहाय्येन संस्कृतग्रन्थानाम् आंग्लभाषायामनुवादकार्यं सञ्जातम्। तदनु पाश्चात्यविदुषामभिरुचिः संस्कृताध्ययनेऽवर्धत। शनैः शनैः त एव वेदाध्ययने निरता आसन्। योरोपमहादेशस्य प्रथमसंस्कृतज्ञेन हनरीथॉमस-कोलब्रुकवर्येण वैदिकपाण्डुलिपयः संगृहीताः स्वदेशञ्च प्रेषिताः। पाश्चात्यविद्वांसः वैदिकवाङ्मये संस्कृतसाहित्ये चाध्ययनं कृतवन्तः। न केवलं जर्मनदेशस्थ-विद्वांसः शोधकार्यं विहितवन्तः अपि तु इंग्लैण्ड-फ्रांस-अमेरिका-हालैण्ड-रूस-जापानस्थविद्वांसोऽपि प्रशंसनीयं कार्यं कृतवन्तः। केचन विद्वांसो ग्रन्थानामनुवाद-व्याख्यान-समालोचन-प्रकाशनादिषु कार्येषु संलग्ना आसन् तथा पुस्तकानि सम्पादितवन्तः। सम्पादनकार्यमतिरीच्य केचन पाश्चात्यविद्वांसः वैदिकदेवतास्वरूपमाधृत्य कार्यं कृतवन्तः।

नवदशशतकस्योत्तरार्द्धे पाश्चात्यवैदिकविद्वत्सु जर्मनदेशीयो हिलेब्राण्टवर्यः वैदिकदेवतावादमुररिकृत्य प्रथमतया Vedische Mythologie इत्याख्यं ग्रन्थं जर्मनभाषायां रचितवान्। ग्रन्थोऽयं भृशं सर्वैरभिनन्दितः। ग्रन्थेऽस्मिन् उषस्-अश्विनौ-अग्नि-सोम-आदित्य-सवितृ-ऋभु-इन्द्र-विष्णुप्रभृतयो वैदिकदेवता विविक्ताः। ग्रन्थस्यास्याग्रेंज्यनुवादो विहितः श्रीरामुलराजेश्वर-शर्मवर्येण। अनूदितग्रन्थममूमाधृत्य वैदिकदेवताव्याख्यानक्रमे हिलेब्राण्टवर्यस्य वैदिकी दृष्टिः सम्यक् प्रतिपाद्यते शोधप्रवन्धेऽस्मिन्।

(ख) वेदव्याख्यानपरम्परा

वेदव्याख्यानपरम्परायां कृष्णयजुर्वेदः प्रथमरूपेण स्वीकर्तुं शक्यते। तदनु सैषा परम्परा ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव सम्यक् प्रतीयते। निघण्टोः उपरि प्रथमव्याख्याग्रन्थो वर्तते निरुक्तम्। यास्काचार्येण वेदभाष्यं नैव रचितवान् अपि तु वेदार्थप्रक्रियायां निरुक्तस्य महती भूमिका परिलक्ष्यते। आचार्येण यास्केन स्वकीयनिरुक्तग्रन्थे पूर्ववर्तीनामाचार्याणां नामान्युल्लिखितानि, तद्यथा - आग्रायण-औपमन्यव-औदुम्बरायण-और्णभाव-कात्थक्य-क्रौष्टुकि-गार्ग्य-शाकपुणि-गालवादयः प्रमुखाः।

वेदभाष्येषु स्कन्दस्वामिनः ऋग्वेदभाष्यं प्रथमरूपेण स्वीक्रियते। प्राच्यवेदभाष्यकारेषु स्कन्दस्वामी-उद्गीथ-नारायण-माधवभट्ट-वेंकटमाधव-उवट-आनन्दतीर्थ-सायण-अनन्तभट्ट-महीधर-महर्षिदयानन्द-अरविन्द-मधुसूदनओझा-दामोदरसातवलेकर-कपालीशास्त्री-हरिशरण-सिद्धान्तालङ्कारादयः प्रमुखा एव। वेदव्याख्यानपरम्परायां फ्रीड्रिशरोजेन-यूजेनबर्नूफ-मैक्समूलर-रुडाल्फरॉथ-होरेसहेमनविल्सन-अल्ब्रेख्टवेबर-ए.बी.कीथ-प्रभृतीनां पाश्चात्यवैदिक-विदुषां महती भूमिका संदृश्यते।

जर्मनदेशीयः फ्रीड्रिशरोजेनः फ्रान्तसबॉपविदुषः शिष्योऽवर्तत। रोजेनवर्यः पाश्चात्यदेशस्य प्रथमो विद्वान् वर्तते येन 1830 ईशवीये ऋग्वेदीय-प्रथममण्डलस्य 121 सूक्तानां लैटिनभाषायामनुवादः प्रारब्धस्तथा च 1837 ईशवीये प्रकाशितम्। रोजेनमहोदयोऽसौ सायणभाष्यमनुकृतवान्।

फ्रांसदेशीयो वैदिकविद्वान् यूजेनबर्नूफः पेरिसनगरे 1801 ख्रीष्टाब्दतः 1850 ख्रीष्टाब्दं यावत् फ्रांसमहाविद्यालये वेदप्राध्यापक आसीत्। महोदयेनानेन प्रथमतया फ्रैंचभाषायामनुवादाय प्रयासो विहितः।

अनुवादं विहाय केचन पाश्चात्यविद्वांसः देवता आधृत्य विविधा ग्रन्था विरचिताः येषु अलफ्रेडहिलेब्राण्टवर्योऽन्यतमः।

(ख) हिलेब्राण्टवर्यस्य जीवनवृत्तं सारस्वतसाधना च

जर्मनदेशस्य ब्रेसलाउस्थानके 1853 ईसवीयस्य मार्चमासस्य 15 दिनांके लब्दजन्मा हिलेब्राण्टवर्यः संस्कृतस्य तुलनात्मकभाषाविज्ञानस्य च महान् विद्वान् समवर्तत। ब्रेसलाउ-विश्वविद्यालयतः तथा म्युनिक्-विश्वविद्यालयतः संस्कृतं भाषाविज्ञानञ्चाधीतम्। 1875 ईसवीये म्यूनिकविश्वविद्यालयात् Goddess Aditi इति विषयमाधृत्य एम. फिल. (Dr. Phil.) उपाधिरधिगतस्तथा 1877 ईसवीये ब्रेसलाउ-विश्वविद्यालयात् Varuna und Mitra इति विषमधिकृत्य पीएच. डी. उपाधिः लब्धः।[1] विषयेऽस्मिन् लिखितमाचार्येण कपिलदेवद्विवेदिना-

शोधप्रबन्धमलिखत् तथा च
आश्रित्य मित्रं वरुणं च देवम्।
अमन्यत स वरुणं तु देवं
चन्द्रं तथा सिन्धुपतिस्वरूपम्।।3।।[2]

1883 ईसवीये ब्रेसलाउ-विश्वविद्यालये सहाचार्यपदे नियुक्तिः सञ्जाता। पुनश्च विश्वविद्यालयेऽस्मिन् आचार्यपदमलंकृतवान् 1887 ईसवीये। गैरवास्पदं यदस्य विश्वविद्यालयस्य बारद्वयं कुलपतिपदं निर्व्यूढवान्। विदुषा हिलेब्राण्टवर्येण अधोलिखिताः ग्रन्था विरचिताः[3]–

1. Uber die Gottin Aditi (vorwiengend im Rgveda). Bresalau 1876 (About the Goddess Aditi, Predominantly in Rgveda)
2. Varuna und Mitra. Ein Beitrag zur Exegese des Veda. Breslau, 1877 (Varuna and Mitra. A Contribution to the exegesis of the Veda)
3. Das altindische Neu- und Vollmondsopfer in seiner einfachsten form mit Benutzung handschriftlicher Quellen dargestellt. Jena 1880; reprint Graz 1977 (The old Indian new and full moon sacrifices, 1880.
4. Vedainterpretation. Braslau 1885 (Veda Interpretation)
5. Veda-Chrestomathie fur den ersten Gebrauch bei Vorlesungen, hrsg. Und mit einem flossar versehen. Berlin 1885 (Vedic chrestomathy, 1885).
6. The Srauta Sutra of Sankhayana (with the commentaries of Varadattasuta Anartiya and Govinda). 4 Vols. (Bibliotheca Indica). Calcutta 1885-99
7. A section on religious antiquities in Georg Bühler's Grundriss der indo-arischen Philologie und Altertumskunde (1897).
8. Alt-Indien, Kulturgeschichtliche Skizzen (Historical culture sketches of ancient India, 1899).
9. Vedische Mythologie" (1891-1902) (Vol-1 in 1891, Vol-II in 1899 - Vol-III in 1902) (Vedic Mythology)
10. Hillebrandt, alfred (1912). Mudrarakshasa Part-i
11. Revision of Vedische Mythologie. Breslau 1927-1929
12. Mudrarakshasa, Part-I, Breslau 1912

(ग) हिलेब्राण्टवर्यस्य दैवतदृष्टिः

Vedische Mythologies इत्यस्य परिवर्धितसंस्करणपुस्तकस्य भूमिकायां हिलेब्राण्टमहोदयेनोक्तं यत् विद्वद्भिः भिन्नभिन्नशैल्या वैदिकदेवता वर्णिताः। अधोलिखितानां देवतानां वर्णनमुपलभ्यतेऽस्मिन् पुस्तके[4] –

प्रथमखण्डः

प्रथमोऽध्यायः	–	उषस्
द्वितीयोऽध्यायः	–	अश्विनौ
तृतीयोऽध्यायः	–	अग्निः
चतुर्थोऽध्यायः	–	सोमः
परिशिष्टम्	–	सोमरसनिष्पादनमाहूतयश्च

द्वितीयखण्डः

पञ्चमोऽध्यायः	–	आदित्याः
षष्ठोऽध्यायः	–	सविता ऋभवश्च
सप्तमोऽध्यायः	–	इन्द्रः मरुतश्च

अष्टमोऽध्यायः - विष्णुः पूषन् गौणदेवताश्च

नवमोऽध्यायः - पितरः असुराश्च

दशमोऽध्यायः - रुद्रः

डॉ. कपिलदेवद्विवेदिमहोदयेन ''शर्मण्याः प्राच्यविदः'' इत्याख्यके पुस्तके हिलेब्राण्टवर्यस्य वैदिककार्यविषये लिखितम्–

महत्त्वपूर्णा कृतिरस्ति तस्य
ग्रन्थः परो वैदिकदेवशास्त्रे।
सोमादिदेवांश्च व्यवेचयत् सः
महत्त्वपूर्णानपि गौणदेवान्।। 10 ।।
देवादिशास्त्रे तुलनात्मदृष्टिं
श्रेयस्करीं नैवममन्यत सः।
सूर्यादिहेतोर्विविधास्तु देवाः
संद्योतयन्तीह पुराणरीतिम्।। 11 ।।

वैदिकदेवता उषाः –

हिलेब्राण्टमहोदयस्य मते वैदिकस्वर्गे उषादेवी महीयसी वर्तते। प्रकृतेः वर्णनं भारतीयसाहित्ये ऋषिभिः/कविभिः सम्यग्रूपेण कृतम्। उषस्सम्बन्धितेषु सूक्तेषु या प्रकृतिभावना परिदृश्यते तत् सार्वकालिकं काव्यमिति स्वीकर्तुं शक्यते। अत्र केवलं काव्यसौन्दर्यं नैव वक्ष्यते अपि तु देवतातत्त्वमपि चर्चिष्यते। उषसः वर्णनमन्यैः देवैः सह प्राप्यते यत् दैवत्वचित्रमधिकं प्रदर्शयति। पुस्तकेऽस्मिन् ऋषेः स्थाने कविशब्दस्य प्रयोगः दृश्यते यदनुचितं प्रतिभाति।

उषाः वर्षारम्भश्च, उषाः पितरश्च, तिस्रः उषसः, उषाः सूर्यश्च, सूर्यः, उषाः रात्रिश्च, उषाः प्रजापतिश्च वर्णिताः हिलेब्राण्टमहोदयेन।

प्रो. ए. ए. मैक्डॉनलमहोदयेन Vedic Mythology इत्याख्ये ग्रन्थे निम्नदृशा वैदिकदेवताः वर्गीकृताः[5] तद्यथा -

वैदिक-देवताः

क. द्युस्थानीय-देवता - द्यौः, वरुणः, मित्रः, सूर्यः, सविता, पूषा, विष्णुः, विवस्वान्, आदित्यगणः, उषस्, अश्विन्

ख. अन्तरिक्षस्थानीय-देवता - इन्द्रः, त्रितः, अपां नपात्, मातरिश्वा आदि

ग. पृथिवीस्थानीय-देवता - नद्यः, पृथिवी, अग्निः, बृहस्पतिः, सोमः

घ. भावात्मक-देवताः

ङ. देव्यः

च. युग्मदेवताः

छ. देवगणाः

ज. निम्नकोटि-देवताः

प्रो. गयाचरण त्रिपाठीमहोदयेन 'वैदिक देवता उद्भव एवं विकास' इत्याख्ये ग्रन्थे निम्नदृशा द्युस्थानीयदेवताः विवेचिताः, तद्यथा - आदित्यगणः, सूर्यः अन्यसौरदेवताश्च, विवस्वान्, सविता, पूषा, अर्यमा, मित्रः, सूर्यदेवतायाः पौराणिक-स्वरूपम्, वरुणः, मित्रावरुणौ, अश्विनौ आदयः।

(घ) हिलेब्राण्टवर्यस्य याज्ञिकी दृष्टिः

हिलेब्राण्टमहोदयेन देवतावर्णनेन सहैव विविधानां यागानामपि विवेचनं विहितम्। दर्शपूर्णमासयागयोः वर्णनं सह पञ्च महायज्ञानां समुचितवर्णनं कृतवान्। अधोलिखिताः ग्रन्थाः शोधपत्राणि वा अवलोकयितुं शक्यन्ते -

i. Das altindische Neu- und Vollmondsopfer in seiner einfachsten form mit Benutzung handschriftlicher Quellen dargestellt. Jena 1880; reprint Graz 1977 (The old Indian new and full moon sacrifices presented in its simplest form using handwritten sources, 1880)
ii. पञ्च यज्ञाः, Zeitschrift fur Indologie und Iranistik, VI, 1928 (Journal of Indology and Iranian Studies, Martin Luther University, Halle-winterberg, German)
iii. The Shrauta Sutra of Sankhayana (with the commentaries of Varadattasuta Anartiya and Govinda). 4 vols. Bibliotheca Indiaca, Calcutta 1885-99.

याज्ञिककार्यविषये कपिलदेवद्विवेदिमहोदयेन लिखितं यत् –

स दर्शयागे अपि पौर्णमासे
स्वशोधग्रन्थं व्यलिखत् श्रमेण।
आश्रित्य श्रौतांश्च प्रयोगग्रन्थान्
विधिं समस्तं विलिलेख पूर्णम्।। 7 ।।
शांखायनं विस्तृतश्रौतसूत्रं
व्याख्यायुतं टिप्पणसार्धमेव।
प्राकाशयद् वैदिककर्मकाण्डे
लिलेख लेखान् विशदं समीक्ष्य।। 8 ।।
दीक्षाविधिं चौव स सोमयागं
व्यवेचयत् साधु परीक्षणेन।

दीक्षास्ति शुद्ध्यै पुरतश्च वह्नेः
आवश्यकं साऽस्ति च सोमयागे।। ९ ।।

(ङ) वेदेतरदृष्टिः

वैदिकवाङ्मयमतिरिच्य लौकिकसाहित्ये विविधानि कार्याणि कृतानि, तद्यथा –

i. भारतीयसंस्कृतिमाधृत्य नैकानि शोधपत्राणि लिखितानि।

ii. मुद्राराक्षसनाटकस्य प्रकाशनम्।

iii. ब्राह्मणग्रन्थानामनुवादः प्रकाशनञ्च।

iv. अर्थशास्त्र-संस्कृतनाटक-व्याकरण-भारतीयेतिहास-विश्वविद्यालयप्रशासन-पाठ्यक्रमादीन् आधृत्य शोधपत्राणि प्रकाशितानि।

निष्कर्षरूपेणेदं वक्तुं शक्यते यत् नैके पाश्चात्यविद्वांसः वैदिकग्रन्थानां सम्पादनं, अनुवादं, वेदरहस्यविवेचनं देवतातत्त्वं च विलिख्य वेदानुशीलने महनीयशोधकार्याणि कृतवन्तः। देवशास्त्रविषये हिलेब्राण्टवर्यस्य शोधकार्यं प्रथममिति स्वीक्रियते। ग्रन्थममूमाधृत्य अपरेऽपि प्राच्य-पाश्चात्यविपश्चितः शोधकार्यं सम्पादितवन्तः। इदानीमपि बहवः पाश्चात्यविद्वांसः वैदिकवाङ्मयमाधृत्य शोधकार्ये प्रवृत्तास्सन्ति।

आचार्यः, संस्कृतविभागः,
दिल्ली-विश्वविद्यालयः, दिल्ली-110007
ईमेल - ranjit1213@rediffmail.com

सन्दर्भ सूची

1. https://en.wikipedia.org/wiki/Alfred_Hillebrandt
2. शर्मण्याः प्राच्यविदः, पृ. सं. – 84
3. Vedische Mythologie, Alfred Hillebrandt, English Translation (Vedic Mythology) by S R Sharma, Preface
4. Vedic Mythology, Alfred Hillebrandt, English Translation by S R Sharma, vii 7 xi
5. वैदिक देवशास्त्र, डॉ. सूर्यकान्त, पृ. सं. – 29-31

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. **बृहद्देवता,** रामकुमार राय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2009
2. **वेदव्याख्यापद्धतयः,** शशि तिवारी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली 2014
3. **वैदिक देवता उद्भव और विकास,** प्रो. गया चरण त्रिपाठी, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, द्वितीय संशोधित संस्करण 2011
4. **वैदिक देवशास्त्र,** अनुवादकः – डॉ. सूर्यकान्त, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण 2006
5. **वैदिक साहित्य और संस्कृति,** आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी, 1973
6. Vedic Mythology (English Translation of Vedische Mythologie, Alfred Hillebrandt), S R Sarma, MLBD, Delhi, Reprint 1990
7. https://en.wikipedia.org/wiki/Alfred_Hillebrandt

Research Paper

Dr. Udita Bhattacharyya

A note on Cakradhara's analysis of Kumārilabhaṭṭa's account of *Śrutārthāpatti*

Cakradhara, the commentator of Jayantabhaṭṭa's magnum opus *Nyāyamañjarī* is a versatile scholar of Indian knowledge tradition. This Kashmiri[1] scholar has rendered considerable service to the world of scholars by explaining the knotty problems from Jayantabhaṭṭa's polemic text in his commentary *Nyāyamañjarīgranthibhaṅga.* Although, he has chosen to comment upon a Nyāya text, yet, it will be wrong to give him the tag of a Naiyāyika; since in *Nyāyamañjarīgranthibhaṅga*, sometime, it is noticed that, he rebuts the opinions of Nyāya or gives judgement against the views of Nyāya.

Nyāya accepts *pratyakṣa, anumāna, upamāna* and *śabda*- as the valid means of knowledge. In the 1st *āhnika* of *Nyāyamañjarī,* Jayantabhaṭṭa discusses the remaining means of knowledge which are not accepted by Nyāya and he also gives the grounds for not accepting those other *pramāṇas* in an elaborative manner starting from *arthāpatti* to *aitihya* one by one.

In Indian philosophical tradition, it is the Mīmāṁsakas and Vedntins who consider *arthāpatti* as a separate means of knowledge. In Vedānta tradition, Dharmarājadhvarīndra gives an illustrated account of *arthāpatti.* But, since he is posterior to Jayantabhaṭṭa, so in *Nyāyamañjarā*, only the analysis of Mīmāṁsaka has been incorporated. While describing the topic, the author refers to the conflict subsisting between both the schools of Mīmāṁsā-Prābhākaras as well as Kumārilas. Jayantabhaṭṭa is against the idea of *arthāpatti* as a separate means of knowledge; but, he has done proper justification to Mīmāṁsakas by presenting an elaborate account on the topic from Mīmāṁsakas' point of view, before exhibiting his own views against the idea of Mīmāṁsakas. Although, Jayantabhaṭṭa has rebutted their views in *Nyāyamañjarī*, yet, Cakradhara without commenting upon Jayantabhaṭṭa's rebuttal of Mīmāṁsakas, discusses only the tenets of Kumārila in a lucid manner and reveals some rarely known aspects of *śrutārthāpatti* from Kumārila's point of view.

The Bhāṭṭa Mīmāṁsakas accept *śrutārthāpatti* not only as distinct means of knowledge, but they show it as distinct from general *arthāpatti.*[2] The difference of *śrutārthāpatti* from the *dṛśṭārthāpatti* is due to the difference of *prameya.*[3] The general example which Mīmāṁsakas use to elaborate *śrutārthāpatti* is 'caitra, who is fat does not eat during the day.' The sentence that is heard involves an inner incompatibility, because fatness is concomitant only with feasting, but not with fasting. Caitra's fatness cannot be explained unless it is presumed that, he eats at night. So, in order to remove the inconsistency in the meaning of the heard sentence, the sentence 'he eats at night' is imported. The knowledge 'he eats at night'- can't be derived from any of the direct or indirect means of knowledge.[4] It cannot be an object of *śrāvaṇa-pratyakṣa.* Since, our ear cannot catch unuttered

or un-manifested words. Similarly, it cannot be an object of inference due to the lack of the knowledge of *hetu.* Without knowing the *hetu,* the relation of *vyāpti* cannot be established and hence, inference cannot establish the knowledge of 'eating at night'.

What is directly denoted by the sentence is the fact that Caitra is fat and does not eat during the day. The fact that, Caitra eats during the night without which Caitra's fatness remains inexplicable is not directly denoted by the sentence that is heard. So, 'eats at night' is the meaning of a different sentence not uttered by the speaker but presumed by the hearer.[5]

Even if it is assumed that, in case of *loukik* sentences the invariable concomitance may be possible, yet in case of incomplete vedic sentences, it is not possible due to imperceptibility of postulated vedic injunction (śruti).[6] There injunctive sentences is postulated on the basis of the six *pramāṇas* only, i.e., *śruti-liṅga-vākya-prakaraṇa-sthāna-samākhyā.*

The presumption of unuttered words is not an inference, since they are known even when the concomitance is absent. If one has the knowledge of *vyāpti* beforehand by observing several cases where the fat person, who is not taking meals by day does take meals at night, he can infer that he eats at night. But, if he does not have that knowledge, it is impossible to get the knowledge (of eating at night) by inference. Because, although he can have his eating but it is not possible to infer eating by him at night. Since it is not possible to have the knowledge of concomitance between probans and probandum.[7] Moreover, it is already shown that, it is not possible to determine the hetu in all cases of arthāpatti.

C.D. Bijalwan has presented the view of Kumārila as, 'what happens in *śrutārthapatti* is that the sentence which is heard, implies a syntactical relation with its own unheard part. It implies the remaining portion because the sentence which is not given here, by itself (not having the complete parts) does not convey a consistent meaning. Therefore, the given part of the sentence implies its own remaining part out of grammatical necessity. So, what is presumed here is 'a portion of the sentence and not the object meant by it.'[8]

Bijalwan also observes that, 'almost all the arguments of the Bhmmas regarding [rutrthapatti center round the structural and textual dimension of the sentence.'[9]

Cakradhara's note: Cakradhara gives an elaborate account of Kumrila's view on *śrutārthāpatti-*

*** *Śābdabodha* and *śrutārthāpatti*:** First, Cakradhara describes the importance of *śābdabodha* in the process of *śrutārthāpatti.* He says that, the meaning of '*vibhāvarībhojana'* or 'eating at night' can be taken from *śābdabodha* only. According to the rule of grammar, in *śābdabodha*, one can get the meaning of a sentence in two ways–(i) by *saṁsarga*, ii) by *bheda.*[10] Though, the commentator Cakradhara has not talked anything regarding *saṁsarga* or *bheda* in this context, yet, later he says that, 'a section of grammarians takes the meaning of sentences either by *bheda* or by *saṁsarga'.*[11] However, Cakradhara has not clearly indicated the name of that particular section of grammarians.

When a sentence gives its meaning through *saṁsarga*, each term of that sentence collectively gives the meaning of the sentence. On the contrary, when a sentence denotes its meaning through bheda, there, each term eliminates all other meanings which are different from that term. For instance, when one says, *'gām ānaya'* (bring the cow), the term *'gām'* means only the cow, not the buffalo or any other animal. So, it differentiates the particular cow from all the other animal which is not cow. Similarly, the term *'ānaya'* leaves behind all the other actions which is other than *'ānaya'.* So, the terms either separately or collectively gives its own meaning and distinguishes it from other meanings. In the example, *'pīno Devadatta diva na bhuṇkte'*- there is not a single word which directly gives the meaning of eating at night. In fact, the term *'divā'* (day) which occurs in the example, itself is opposite of the time *'rātri'* (night). So, *bheda* is not able to give any meaning with reference to 'night'. So, Mīmīṁsaka believes that, the meaning of 'eating

at night' can be known through *saṁsarga*. However, to this, Naiyāyika strongly condemns that, there is a difference between *vākya-saṁsarga* and *pada-saṁsarga. Ākāṅkṣā-yogyatā-āsatti-* these three are the causes of the knowledge of the meaning of a sentence. *Ākāṅkṣā* is the inability of a word to convey the meaning of a sentence on account of the absence of some other word. It is an essential condition of a sentence that, each term or *pada* of a sentence collectively gives the complete sense of a sentence.[12] That means, each term is dependent on the other for the complete meaning of a sentence. But, in case of the sentence, *'pīno'yam Devadatta diva na bhuṅkte'*–neither the meaning of *rātribhojitva* be obtained through saṁsarga nor that particular term occurs here. In an authoritative sentence, inner-expectancy among the *pada* is an essential condition. However, if a sentence depends on another sentence for conveying its meaning, then, the sentence is not an authoritative one. In the quoted example, there is not a single term which is efficient to convey the sense of 'eating at night'. The sentence has to take the aid on another sentence, then only that meaning can be received. But, **inner expectancy among the sentences is not recommended.** Therefore, theory of saṁsarga is totally rejected in such cases. Similarly, *bheda* is also unable to reveal the expected meaning in *śrutārthāpatti.*

Jayanta's focus is on refutation of opposite views and presenting the Nyāya view. Whereas, Cakradhara provides a detailed exposition of the *Pūrva-pakṣa,* which is a great contribution, he has made. This makes its rebuttal by Jayanta clearer and more logical.

*** Six *pramāṇa* and *śrutārthāpatti* :** When their idea fails in front of the strong arguments of Naiyāyikas, Mīmāṁsakas highlight the importance of six *pramāṇas* of Mīmāṁsā in getting the meaning of śrutārthāpatti. Just as by the indication of the six *pramāṇa - śruti-liṅga-vākya-prakaraṇa-sthāna-samākhyā* in viniyoktrīśruti (the *mantra* which is applied in Vedic injunction), one can recognize *angatva* of a *yāga*, similarly, with the help of these six *pramāṇas* the expected meaning of *śrutārthāpatti* gets revealed. Cakradhara, in fact explains each of these *pramāṇa* from Mīmāṁsakas' point of view. For instance, in the sentence *'vrīhin-avahanti'*, there is second-case ending in the term 'vrīhi'. So, through the *dvitīyā-śruti*, it gives the sense of *'brīhyartho'vaghātaḥ'*.[13] By direct assertion or ***śruti,*** one can learn to construct a communication where there is a principal portion and there is a subsidiary portion. Though, the author hasn't mentioned anything about the principal *yāga*, yet, through the usage of *dvitīyā-vibhakti* in *vrīhi*, it can be said that the usage of *vrīhi* as the accessory which is to be offered as the subsidiary.

After *śruti*, it comes the ***liṅga***. *Liṅga* or indication is the capacity.[14] A subsidiary act in relation to its principal act is recognized because of the usage of *liṅga*. For instance, through the revealing capacity of the *mantra* - *'bahirdevasadanaṁ dāmi...',* the words cutting aside makes known by the indication that cutting aside is a subsidiary act.

Vākya or syntactic connection is the joint utterance of a word or phrase with another word or phrase.[15] As in the example, *'aruṇayaikahāyanyā somaṁ krīṇāti'* - saying the *mantra 'aruṇayaikahāyanyā'* and *'somaṁ krīṇāti'*- by which one can know that the act of buying is enjoined as a subsidiary by the syntactic connection between the words. Here, proximity is treated as another *aṅgabodhaka* separately.

Prakaraṇa or context is a mutual expectancy. As in '*darśapūrṇamāsābhyāṁ svargakāmo yajeta'* (heaven desirer should perform *Darśapūrṇamāsa*)' wherein it is stated that one should bring about the *apoorva* that leads to heaven by these two sets of sacrifices produces an expectancy– how is this *apoorva,* which leads to heaven to be obtained. So also, in the proximity of sacrifices to the fire deity which produce specific results are also mentioned i.e. *prayāja* etc. sacrifices without mentioned of their results by sentence '*one should perform samidha'.* If the result is not mentioned, then there arises an expectancy of what benefit could these be of? Hence, an account of the arisen expectancy of benefit of *prayāja* etc. sacrifices in relation to

expectancy arising by the performance of *Darśapūrṇamāsa,* it can be concluded by reason of context, by mutual expectancy that all the *prayāja* etc. sacrifices are subsidiaries of the *Darśapūrṇamāsa* sacrifice.

Sthāna or position is proximity. As in proximate to the mention of two vessels a mantra *'śundhadhvam'* (be purified), ṃ this text is on account of its proximity to the mention of the vessels is taken to be a subsidiary of the act of sprinkling on the vessels.[16]

Samākhyā or designation is a name. As in the section dealing rites prescribed relating to *adhvaryu*, one cognizes from the designation of *adhvaryu* that, the *adhvaryu* is a subsidiary of the rites. As also in sacrifices relating to Indra and Agni, the sentence *'Aindrāgnam-ekādaśa-kapālaṁ nirvapet prajākāmaḥ'* being designated as *Kāmyeṣṭi.* In these sacrifices relating to Indra and Agni being *Kāmyeṣṭi* on account of their appearance in the designated section dealing with *yājjya* and *anuvākya* texts, the mantra 'O Indra and Fire to both of you' are to be applied as *yājya* and *anuvākya.* Application means being related to as a subsidiary.[17] In short, it can be said that, from the designation *adhvaryu*, one can know that he is a designated priest who is to perform a part of the rites. So, by his designation he the *adhvaryu* acquires *angatvam.*

Thus, by giving a detail account of six indicating premises by which the relationship of their subsidiary status is gathered. Cakradhara concludes that, when the Vedic sentences are used in different contexts, one can take the aid of *śrutārthāpatti.* In case of *śrutārthāpatti,* the meaning of a sentence can be postulated through these six *pramāṇas.*[18] Not only that, when the *śruti* etc. are at the same time point to the same subsidiary aspect, each preceding from the list is stronger (more applicable) and each succeeding is weaker (less relevant).[19]

Śruti > Liṅga > Vākya > Prakaraṇa > Sthāna > Samākhyā

That means, when there is a clash between *śruti* and *liṅga* in the same context, then *śruti* takes the place as indicating premise. *Śruti* has independent primacy in application; and when there is absence of a direction by *śruti, liṅga* reveals the application, since there is no *śruti* that stands in obstruction to it.

According to Mīmāṁsakas, if the opponents are not accepting '*Devadatta's fatness due to the eating at night*'- through *śrutārthāpatti*, then it will be difficult for them to interpret Vedic sentences, since, the entire Veda is based on *śrutārthāpatti.* So, they must admit *śrutārthāpatti* independently and the application of these six *pramāṇa- śruti-liṅga-vākya-prakaraṇa-sthāna-samākhyā* brings more clarity to *arthāpatti.*

*** Problems of *pāṭhabheda* :** While Cakradhara was dealing the problems of Mīmāṁsā, he has found two different texts on Ślokavārttika prevalent in his time.[20] Although, Jayantabhaṭṭa has not said anything regarding these two readings *(pāṭha-bheda)* of *Ślokavārttika*, yet Cakradhara has given an inclusive account of both the readings of the text. In one text- it is mentioned as- *'Samagrāṁśa-paripūkraṇa-duḥsthita'* and in another portion, it is mentioned as- *'Samagrāṁśe paripūkraṇa-susthite.'*

According to Mīmāṁsā, in case of *śabda-pramāṇa,* without conveying the meaning of the whole sentence which is complete with all its necessary parts, the function of a sentence does not cease.[21] In the quoted example, the term '*naktaṁ-bhojitva*' is not available. But, in order to prove the fatness of Devadatta who doesn't eat during the day, Mīmāṁsaka postulates that 'he eats at night' through *arthāpatti,* otherwise it seems that the sentence is not able to bear the complete sense. It is due to the inner-expectancy of the given sentence that, the sense of '*naktaṁ-bhojitva*' is presumed and then only, the sentence gets clarity. But, according to Mīmāṁsā, only the *nirākṅkṣa*-sentence being the complete is an authoritative one.[22] Since, a *sākāṅkṣa*-sentence depends upon another sentence for its meaning, therefore, the sentence loses its authoritativeness. Again, in example, the given parts of the sentence are unable to convey the complete sense of the sentence.

Therefore, it cannot be called a *susthita* or complete sentence and neither *anumna* nor *śabda-pramāṇa* play any role in revealing its meaning.

In later period, *śrutārthāpatti* has been rebutted not only by Naiyāyikas, but also by fellow Mīmāṁsakas of Kumārilabhaṭṭa, i.e., Prābhākaras. *Śrutārthāpatti*, according to Naiyāyikas, is not different from *anumāna*, But, it is point to be noted that, the commentator Cakradhara, while describing *śrutārthāpatti* from Kumārila's point of view elaborated it in details. He even touches those aspects which are not covered by Jayantabhaṭṭa in his *Nyāyamañjarī*. But, when it is turn for him to describe it from Jayanta's point of view (i.e., the rebuttal of *śrutārthāpatti* from Naiyāyika's point of view), he hardly says a single word on this topic. He presents more illustrious accounts of *pūrvapakṣas* in compare to *siddhānta pakṣa*. However, he is quite aware of the fact that, in order to have a better understanding of a text like *Nyāyamañjarī*, which contains the views and arguments of other schools, one must have the sound knowledge of those systems too which are presented as *pūrvapakṣas* in the text. Hence, Cakradhara presents a comprehensive account of *pūrvapakṣas* wherever he feels for such necessity.

Assistant Professor
Department of Nyāya
K. K. Handique Govt. Sanskrit College,
Guwahati

References

1. Nyāyamañjarīgranthibhaṅga, Intro., p. 4. (L. D. Institute of Indology, Ahmedabad Edition)
2. Pino diva na bhuṅkte cetyevamādivacaḥ śrutau/ ratribhojana vijñānaṁ śrutārthāpattiriṣyate. Ślokavārttika, Kārikā 51
3. .... śrutārthāpatteḥ pṛthagabhidhānam, pramāṇaikadeśaviṣayatvena prameyaviṣaya-arthāpatti-pañcaka-vilakṣaṇatvāt. Nyāyamañjarī, p. 95. (Mysore Edition)
4. Nādhyakṣam-anabhivyakta-śabdagrahaṇa-śaktimat/
   Na liṅgam; agṛhītvā'pi vyāptiṁ tadavadhāraṇāt//
   Kvacit-nityaparokṣatvāt vyāpti-bodho'pi durghaṭaḥ/
   Viniyokrī śrutiryatra kalpyā prakaraṇādibhiḥ//
   Nyāyamañjarī, p. 102.
5. Tasmāt kalpyāgamakṛtaṁ naktamattīti vedanam/
   Tadvākyakalpanāyāṁ ca pramāṇaṁ paricintyatām// *Ibid.*
6. Viniyoktrī-śrutistāvad sarveṣu-eteṣu sammatā. Nyāyamañjarī, p.102.
7. See *supra note* 2 & Nyāyamañjarī, (Tr. By V.N. Jha), p.92.
8. Indian Theory of Knowledge, p. 258-259.
9. *Ibid.*, p. 260
10. Bhedaḥ saṁsargo vā vkyrtha iti vaiyākaraṇḥ kecit. Nyāyamañjarīgranthibhaṅga, p. 73.
11. *Ibid.*
12. Sākāṅkṣāṇām vā parasparasaṁbandhāt saṁsargo vākyārthaḥ, arthāntarād-abhinnayośca saṁsargo nopapadyata iti bhedapratītistatrāsti. Nyāyamañjarīgranthibhaṅga, p.56
13. Nyāyamañjarīgranthibhaṅga, p. 20.
14. Liṅgaṁ nāma sāmarthyam. Mīmāṁsāparibhāṣā
15. Padāntara-samabhivyāhro vākyam. *Ibid.*
16. Mīmāṁsāparibhāṣā, p.38.
17. Mīmāṁsāparibhāṣā, p.39.
18. Prakaraṇādibhiriti liṅgādipramāṇapañcakaparigrahaḥ. Nyāyamañjarīgranthibhaṅga, p. 20.
19. Śrutyādīnām-ekatra samāveśe pūrvapūrvasya prābalyam, uttarottarasya daurbalyam. Mīmāṁsāparibhāṣā, 40.
20. Samagrāṁśaparipūraṇaduḥsthita iti... tu pāthe spaṣṭa evārthaḥ. Nyāyamañjarīgranthibhaṅga, p.22.
21. Vākyārthe hi samagrāṁśe paripūraṇa-susthite/ Abhidhāya dhiyaṁ nāsya vyāpāraḥ paryavasyati// Nyāyamañjarī, p.104.
22. Bhāvatastu nirākāṅkṣasya pratipādakaṁ vākyamucyate. Nyāyamañjarīgranthibhaṅga, p.21.

Research Paper

Prof. N.C. Panda

Ecology in the Vedas: It's Present Relevance

The world Ecology means the relation of plants and living creatures to each other and to their environment. It is the study of relationship between plant and all living organisms and their environment. So, ecology is the scientific analysis and study of interactions among organisms and their environment. Besides, it is the science that deals with the interrelations of plants and animals together with their environment.

Ecology is an inter-disciplinary field that includes Biology and Earth science. Topic of interest to ecologists include the diversity, distribution, amount (biomass), number (population) of organisms, as well as competition between them within among eco-systems are composed of dynamically interacting parts including organisms, the communities they make up, and the non-living components of their environment.

Ecology is not synonymous with environment, environmentalism, natural history or environmental science. It is closely related to evolutionary biology, genetics and ethnology. However, Ecology is a human science as well. There are many practical applications of Ecology is conservation biology, natural resource management, city planning (urban ecology), community health, economics, basis and applied science, and human social interaction, *e.g.* human ecology.

Ecology is the study of environmental systems or as it is sometimes called, the ecology of nature. Environmental usually means relating to the natural, versus human made world; the 'systems' means that ecology is, by its very nature, not interested in just components of nature individually but especially in how the parts interact. More properly ecology is used only in the sense that it is an academic discipline, no more evaluative than mathematics or physics. In addition to these, ecology is usually considered from the perspective of the specific geographic environment that is being studied at the moment. The subject matter of ecology is the entire natural world, including both the living and the non-living parts. Bio-geography focuses on the observed distribution of plants and animals and reasons behind it. More recently ecology has included increasingly the human dominated world of agriculture, grazing lands for domestic animals, cities and even industrial parks.

It can be said that ecology is the science which deals with atmosphere, which influences or affects all living beings in their day-to-day activities, *i.e* external and internal activities. Since Vedas are the first oldest written documents of the world, they contain basic principles regarding the ecology and preservative methods for protecting the environment. Environment includes its surroundings and atmosphere. Many aphorisms from the **Rigveda** speaks about the physical factors and a biotic factor of present-day ecology, *e.g.,* fire (***agni***), light (***surya***), water (***jala***) and precipitation or rain, air (***vayu***), rivers and flow of water.

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

There are a number of hymns in the Vedas that contain the special importance of the atmosphere, its pollution details, methods for protecting the atmosphere from being polluted, *etc.* The Vedas speaks about the method how to check the air pollution, water pollution, earth pollution, sound pollution, *etc.* Air is one of the essential properties of human life. So, protecting the life of all living creature we should protect the source of life, *i.e* air. Our **Atharvaveda** says about the greatness of air and sun (Atharvaveda, 4.25.3). At another place in the **Atharvaveda,** it is said that the air is performing double duties as ***Prāṇavāyu*** and ***apānavāyu.*** As ***Prāṇavāyu,*** it provides the source energy for human being as ***Apāna-vāyu*** it discards all the unwanted elements from the body. Hence, the air is called ***Viśva-bheṣaja***, as it destroys and discards all rough physical elements from the body (Atharvaveda, IV.13.3). In the **Rigveda,** ***vāyu*** or air is known as nectar as it gives energy to live. Without air no one can live in this world. So, this air *(v yu)* is known as the medicine of all diseases (Rigveda, 10.185.1-3). Now a day, we practice ***prāṇayāma*** for keeping our body healthy and fresh. So, in this modern age ***prāṇayāma*** is very famous for eradicating all diseases. Besides, in the **Rigveda** it is also advised to protect the air pollution for the benefit of people (Rigveda, 10.186.3). In the **Atharvaveda,** there are number of verses, which tell us the means and methods for cleaning the environment (**Atharvaveda,** 3.21.10). In a **Rigvedic** verse it is said that the God has bestowed man with too much of gifts. Among them the earth, where there are so many precious everlasting sources of wealth. The protector of this never-ending wealth is the trees, medicinal herbs, waters and the forest. The real meaning of this Rigvedic verse is that this wealth of earth, *i.e.* gems, gold, petrol, coal, *etc.* For their protection depend on trees and plants. If we protect those, we can make use of the wealth or otherwise all those wealth will leave us once for all (Rigveda, 3.51.5).

An Atharvedic verse (*mantra)* speaks about the importance of protecting our environment. It says where the environment in pure, there the human beings, birds and even animals live happily and peacefully (Atharvaveda, 8.2.25). In the **Rigveda** and **Atharvaveda** there are verses, which describe the ozone layer, which protect the earth. In the **Rigveda**, a number of good similar words are used in '***mahad ulba***'. The word ***ulba*** means membrane, which protects the fetus in the mother's womb. Here, the earth is considered as the baby remaining in the uterus and the ozone layer, which protects the earth as the membranes (**Rigveda, 10.52.1.cf. Atharvaveda, 4.2.8**). This ozone layer absorbs 99% of heat coming out from the sun and thus protects the trees, herbs and living beings from being destroyed into ashes. So, this Ozone layer places a prominent role in protecting the earth.

In the Vedas, several time more emphasis in given for the protection of air, water and fire. Now days, air pollution is a great problem for the society. The Vedas advised to clear the air through sacrifices and other means, so that our ***prāṇa-vayu*** (main heart air) will be protected. The earth is known as the mother of beings. According to the **Atharvaveda**, the earth adorns us with wealth of plants, green vegetation; trees *etc.* (Atharvaveda, 5.28.5) Likewise, in the **Yajurveda,** it is also said that the heaven (***dyuloka)*** gives us medicinal herbs with force and water with strength. Hence, in this way the atmosphere, earth, water and herbs provide us different type of beneficial energies (**Yajurveda, 29.53**). Now we shall discuss about the water pollution, as it is known that water is the prime source of living. One third of this earth is full of water. If the water will be polluted then a number of diseases will come out and put harm to the beings of the earth. Hence, the Vedas say that the water should be treated as nectar (***amṛta***) as the plants, herbs and being get proper energy from the water to live in this earth. In the **Atharvaveda,** it is said that the seas are the source of gems and wealth. They are also source of rain, electricity, etc. (**Atharvaveda, 1.13.3).** In the **Rigveda,** it is said that among the protectors of human beings, water, medicinal plants, trees and mountains play a prominent role. Hence, it is clear that if we do any harm to these above things, then it will

definitely make us suffer a lot to live in the society (**Rigveda, 5.41.11).**

However, to check earth, water, air and sound pollution it is properly advised in the Vedas that one should perform sacrifice. Through the sacrifices, protection of the whole environment, purification of the atmosphere, destruction of the diseases, enlistment of mental and physical health of all living beings and destruction of all evil thoughts from the minds of all human beings can be occurred. As the sacrifice is known as a scientific process by which the elemental equilibrium of the oxygen and carbon-dioxide is produced. The nature has the status of a circle through this each and every object attains its source place. This circle is called sacrifice. From this sacrifice rain occurs and from rain the cultivation grows (Yajurveda, 18.9). Hence, the **Yajurveda** says that it is essential to perform sacrifice for getting proper rain, cultivation, energy, food, purity of trees and medicinal plants, intellectual control and the attainment of peace and happiness. It can be said that the sacrifice is beneficial to both individual and the community. As it helps in minimizing air pollution, increasing crop yield, protecting plants from diseases, as well as help in providing a diseases free, pure and energized environment for all, offering peace and happiness in mind.

Conclusion:

Finally, it can be said that the Vedas are the main oldest literature, which contain the basic principles regarding the Ecology and preventative methods for protecting the environment. The Vedic verses are more scientific even today. Not only these Vedic verses will help us to stay away from the various pollutions, but also these *mantras* will definitely protect our physical bodies with good mental stability and happiness forever. Hence, in this scientific age, the Vedas are the great source of all type of physical as well as mental health & happiness for all human beings.

Professor and Head,
Department of Sanskrit,
Dean, School of languages,
Central University of Odisha,
Koraput, Odisha

Bibliography:

1. Agni Purana: translated into Hindi by Tarinisha Jha & G. Tripathi, Allahabad, India: Hindi Sahitya Sammelan, 1998.
2. Agni Purana, translated into English by J.L. Shastri, Delhi: Motilal Banarsidass, 4 Volumes. Reprint edition, 1998.
3. BhagavataPurana: with English translation, Gorakhpur: Gita Press edition, 3 Volumes, 4th edition, 1995.
4. Garuda Purana: edited by Khemaraja Sri Krishna Dass, Delhi, India: Nag Publishers, 1984.
5. Kurma Purana: edited by Naga Saran Singh, Delhi: Nag Publishers, 1983.
6. Kurma Purana, translated into English by G.V. Tagare, Delhi: Motilal Banarsidass, 2 Vols, Reprint Editions, 1997-98.
7. Manusmriti: edited with the comm. of Kulluka Bhatta, by J.L. Shastri, Delhi: Motilal Banarsidass, Reprint Edition, 1990.
8. Rigveda Samhita: edited by S. Damodar Satavalekara, Pardi, Maharashtra, India: Svadhyaya Mndala, 4 Volumes. 1985.
9. Yoga Sutra: with the commentary of Vyasa, sub-commented by Hariharananda Aranya, edited by Ram Shankar Bhattacharya, Delhi: Motilal Banarsidass, Reprint Edition, 1991.

Research Paper

Dr. Janat* Dr. Rajeev G Dole** Dr. Eshwari Salian***

To Evaluate the Effect of *Rasanjanadi Taila Nasya (Pratimarsha)* in *Pratishyaya* with Special Reference to Rhinitis

Introduction

Ayurveda is the one and only medical system which gives the way of perfect living with nature. It is a science which developed as a result of various discussions and researchers.

Shalakya is an important branch among 8 branches of *Ayurveda* which deals with the diseases manifesting above clavicular region. *Rajrishi Nimi* is the pioneer of the speciality *Shalakya*. *Sushruta Samhita* is the foremost text of *Ayurveda* which explains the ophthalmology and ENT in a systemic manner.

In *Sushruta Samhita* one separate chapter has been devoted to *Pratishyaya* after explaining *Nasagata Roga*. This fact itself shows that *Pratishyaya* has been a major problem to the physicians since long back. The disease *Pratishyaya* considerably attracted the ancient physicians, which is evident from their detailed description, classification, symptomatology, complications and management written in *Samhitas*. Though it has been said that the disease.

Pratishyaya in the early phase, is a treatable entity, but if it takes a chronic course may lead to many associated complications.

Pratishyaya by word itself indicates that it is recurrent in nature and can be precipitated even due to trivial etiological factors. *Vata* is the main *Dosha* and *Kapha Pitta* and *Rakta* are associated *Doshas*. In classics of *Ayurveda*, five types of *Pratishyaya* i.e. *Vataja, Pittaja, Kaphaja, Sannipataja and Raktaja*[1] are described.

In *Ayurveda* three types of treatment[2] are described for each & every disease they are-

1) *Shamshodhana*
2) Shanshamana
3) Nidana Parivarjana

Here prime importance is given to *Shodhana* followed by other treatments. *Pratishyaya* is well known for its recurrence & chronicity. Recurrence of the disease occurs when the vitiated *Doshas* have not been evacuated completely. Such *Doshas* reside in their latent stage (predisposing stage) & give rise to the same disease when they come in contact of aggravating factors.[3] Allergic Rhinitis is recurring frequently & attending the *Jeerna Avastha* and as per the *Charaka*[4]*; Nasya* is the line of treatment. Therefore *Nasya* has been selected as treatment modilition for the present study. *Nasya* are of 5 types according to *Charaka* i.e *Navana, Avapidana, Dhmapana, Dhuma & Pratimarsha*[5].

Sushruta[6] *& Sarangadhara*[7] have also advised to utilize oils prepared out of the *Tikshna Dravyas* for use in *Bhiru, Krusha & Balaka*. Preparing oils from *Tikshna Dravyas* for *Nasya* has been included in *Virechanik Pratimarsha Nasya* by *Charaka*. Therefore *Rasanjanadi Taila* for *Nasya*[8] therapy has been selected.

Aim and Objectives

Aim: To evaluate the effect of *Rasanjanadi taila nasya (Pratimarsha)* in *Pratishyaya* with special

reference to Rhinitis.

Objectives:

1. To assess the disease according to etiological factors as per *Ayurveda* and modern literature.
2. To study the efficacy of *Rasanjanadi taila nasya* in the management of *Pratishyaya.*
3. To study the efficacy of *Go-ghrita nasya* in the management of *Pratishyaya.*
4. To compare the efficacy of *Rasanjanadi taila nasya* and *Go-ghrita Nasya in the management of Pratishyaya*.

Material and Methodology

Ethical clearance was obtained (PU/PIA/IECHR/2019/26) and this study is registered in Clinical Trial Registry of India (CTRI/2019/04/018658).

Study design: Comparative Randomized clinical study.

Selection of patients: Total 60 Patients with symptoms of *Pratishyaya* was selected from Shalakya Tantra OPD (Parul Institute of Ayurved) base on inclusion and exclusion criteria. Out of total patients, 4 patients were lost to follow up and 56 patients completed the trial and final analysis was done.

Method of sampling: A randomization plan from http://www.randomization.com (seed 2547)

Inclusion criteria:

- Patient having symptoms of Pratishyaya.
- Patients of either sex between the age group of 10 to 60 years.

Exclusion criteria:

- Patient below 16 years and above 60 years.
- Patients suffering from severe hypertension, heart disease and bronchial asthma.
- Patients presenting with complications of Pratishyaya like nasal polyps, tumour of nose, DNS, old fracture of nose.

Methodology

- 56 patients were selected for the study based on the lakshana of Pratishyaya as per Samhita without considering their gender, religion and socio-economic status.
- Consent was taken in a written consent form after explaining about the study and its procedures, prior to the study.
- Detailed case history was taken with the help of specially designed Case Performa. The findings of each patient was observed and noted in the Case Performa.
- Collection of all data were noted and presented in tabular forms and graphs.
- Suitable statistical tests were used to know the statistical significance.

Intervention

Sample size: 56 patients fulfilling the inclusion criteria was randomly selected and divided into 2 groups.

- Group A(Trial group) - 28 patients (treated with *Rasanjanadi taila nasya*)
- Group B (Control group) - 28 patients (treated with *Go-ghrita nasya*)

Mode of administration: Nose

Dose: 2-2 drops in each nostril 2 times/ day [Morning and evening (by dropper)]

Study duration: 08 days [Follow up 2nd, 4th, 6th, 8th day]

Criteria for diagnosis: Clinical examination

Criteria for Assessment

- *Nasasrava* (rhinorhea)
- *Nasaanaha* (blocking of nose)
- *Kshavathu* (sneezing)
- *Shirashoola* (headache)
- *Nasaraktata* (congestion and ITH of nasal mucosa)

Statistical analysis: The data was assessed with the help of SPSS Software (V23) by using Non-Parametric Test – Friedman test, Wilcoxon signed rank test, Mann-Whitney U test.

Observation and Result

In this clinical study total 60 patients were registered. 4 patients was quit the treatment. Different findings of observation were recorded in a case Performa after proper examination of the patients. The observation was analyzed statistically and results were recorded here.

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

Table No. 1. Observation on demographic data

		NUMBER	PERCENTAGE (%)
Age	16-30/31-45/46-60	46/07/03	82.14/12.5/5.35
Gender	Male/ female	30/26	53.57/46.42
Religion	Hindu/Muslim	55/01	98.21/1.78
Marital status	Married/Unmarried	23/33	41.07/58.92
Occupation	Student/Faculty/Farmer/ Housewife/Others	38/03/01/04/10	67.85/5.35/1.78/7.14/17.85
Education	Educated/Uneducated	56/00	100/00
Socio-eco status	Rich/Middle/Poor	01/51/04	1.78/91.07/7.14
Diet	Veg./Mixed	33/23	58.92/41.07
Sleep pattern	Prakruta/viparyaya/ diwaswapana	23/33/00	41.07/58.92/0
Addiction	No add./smoking/ Tobacco/Tea-coffee	26/04/02/24	46.42/7.14/3.57/42.85
Agni	Samagni/Mandagni/ Vishamagni	26/30/00	46.42/53.58/0

Table No. 2. Distribution of patients based on clinical features

		GROUP-A	GROUP-B	Total	Percentage
Nasal discharge	Unilateral	16	9	25	59.52%
	Bilateral	7	10	17	40.48%
Mode of onset	Sudden	17	18	35	62.50%
	Gradual	11	10	21	37.50%
Aggravating factors	Intake of cold items	19	20	39	69.64%
	Spicy and fast foods	18	13	31	55.35%
	Dust, smoke	26	22	48	85.71%
	Others	21	19	40	71.42%
Relieving factors	Intake of hot items	14	16	30	53.57%
	Steam inhalation	30	22	52	92.85%
	Medication	9	8	17	30.35%
Nasasrava	Present	22	19	41	73.21%
	Absent	6	9	15	26.79%
Nasaanaha	Present	12	12	24	42.85%
	Absent	16	16	32	57.14%
Kshavathu	Present	19	24	43	76.78%
	Absent	9	4	13	23.21%
Shirashoola	Present	20	18	38	67.85%
	Absent	8	10	18	32.14%
Nasaraktata	Present	28	27	55	98.21%
	Absent	0	1	1	1.79%

Table No. 3. Effect of Rasanjanadi Taila Nasya on chief complaints

Complaints	N	% Relief	Chi - Square Value	Z Value	P Value	Remarks
Nasasrava	28	57.15%	78.409	-4.399[b]	<0.01	Highly Significant
Nasaanaha	28	21.43%	39.218	-3.176[b]	<0.01	Highly Significant
Kshavathu	28	57.14%	69.982	-3.976[c]	<0.01	Highly Significant
Shirashoola	28	71.42%	63.505	-4.053[b]	<0.01	Highly Significant
Nasaraktata	28	42.86%	92.018	-4.768[b]	<0.01	Highly Significant

Table No. 4. Effect of Go-ghrita Nasya on chief complaints

Complaints	N	% Relief	Chi - Square Value	Z Value	P Value	Remarks
Nasasrava	28	10.71%	55.137	-4.359[b]	<0.01	Highly Significant
Nasaanaha	28	3.57%	39.301	-3.357[b]	0.01<	Significant
Kshavathu	28	46.43%	77.37	-4.326[c]	<0.01	Highly Significant
Shirashoola	28	60.71%	46.19	-3.852[b]	<0.01	Highly Significant
Nasaraktata	28	21.43%	73.915	-5.112[b]	<0.01	Highly Significant

Discussion

• **Discussion on Research question :** In India prevalence rate of *Pratishyaya* is 45% to 60% and the cases are continuing to grow. People suffering from Rhinitis are dependent upon Nasal decongestants, Antibiotics for a longer duration. Due to continuous use of nasal decongestants people are addicted to it and condition of atrophic rhinitis occurs. Chances of recurrences are more after stopping the use of medicines. There is ominous need to evaluate the efficacy of alternate treatment to overcome the prevalence of the disease.

• **Discussion on observation :** Total 60 patients were registered, among of them 30 patients were in group-A and 30 patients in group-B. 2-2 patients from both groups discontinued the treatment at various level of study. Reasons for dropping out patients - 3 patients had complained of granular pharyngitis, body ache and high grade fever and were taking allopathy medicine, 1 patient was not come for follow up.

DISCUSSION ON GENERAL OBSERVATION – Age: In present study showed that maximum number of patients was found in between the age group of 16-30 years i.e. 83.14%. 12.5% of patients were found in between the age group of 31-45 years and 5.35% of patients were found in between the age group of 46-60 years. Patients suffering from rhinitis in mostly found in middle age in this age they use of excessive junk foods, cold drinks. **Gender:** In this study showed that 53.57% patients were found in male group and 46.42% patients were found in female group. From this data it could be concluded that both are equally affected but due to outdoor work males are little bit affected more. **Religion:** Though there is no influence of religion on Rhinitis, this study shows that maximum numbers of patients were falls in the category of Hindu i.e. 98.21% and 1.78% patient in Muslim category. **Marital status:** Though there is no influence of marital status on Rhinitis, this study shows that 41.07% patients were found in Married group and 58.92% patients were found in Unmarried group. **Occupation:** Maximum numbers of patients were having students i.e. 67.85% then housewife i.e. 17.85%. **Socio-economic status:** In present study 91.07% patients belonged to middle class family. Most of populations are from middle class family. 7.14% patients belonged to poor family. **Family history:** There is no family history. Rhinitis is a viral disease not a genetic disease. **Diet:** Though there

is no influence of diet on Rhinitis, in present study max. Number of patients was found from vegetarian group i.e. 58.92 %. **Sleep pattern:** Incidence of *Viparya Nindra* pattern showed in 58.92% of patients. Due to nasal blockage sleep may be disturbed. **Addiction:** 42.85% of patients are addicted by tea/coffee while 46.42% of patients have no addiction. **Bowel Habit:** Majority of patients were having soft stool i.e. 82.14%. Here, there is no relevance between *Pratishyaya* and bowel habit. **Dietary habits:** Majority of patients were having *Adhyshana* i.e. 42.85%. **Koshtha:** Majority of patients were having *Madhyama koshtha* i.e. 87.5%, and 12.5% of patients having *Mridu Koshtha*. **Agni:** 53.58% of patients had *Mandagni* which shows that *mandagni* is a aggravating factor in causing *Pratishyaya* and lead to allergic conditions. **Nasal discharge:** 58.92% of patients having unilateral nasal discharge and 41.07% were having bilateral nasal discharge. **Mode of onset:** The present study shows that 62.50% of patients having gradual onset of *Pratishyaya*. The onset of the disease gives the idea regarding the chronicity and acuteness of the diseases. Majority of patients are allergic rhinitis. And allergic rhinitis is chronic condition. **Aggravating factors:** 85.71% of patients had complain of *Pratishyaya* due to dust and smoke, 69.64% of patients had complain of *Pratishyaya* due to intake of cold items, 55.35% of patients had complain of *Pratishyaya* due to intake of spicy and fast foods and 71.42% of patients had complain of *Pratishyaya* due to other aggravating factors i.e. seasonal changes, excessive sleep. They all are *Nidana* of *Pratishyaya* explained by *Acharyas in Samhita*. **Relieving factors:** In present study 92.85% of patients get relief by steam inhalation, 53.57% of patients get relief by intake of hot items like hot water, tea, and soup. 30.35% of patients get relief by medication.

DISCUSSION ON SUBJECTIVE OBSERVATION - In present study, 73.21% of patients had complained of *Nasasrava*, 42.85% of patients had *Nasaanaha*, 76.78% of patients had *Kshavathu*, 67.85% of patients had *Shirashoola* and 98.21% had complain of *Nasaraktata*.

• **Discussion on probable mode of action of *nasya karma* and drug:**

Nasa being the door way to *Shira*

↓

Drug administered through nostrils

↓

Reaches ***Shringataka Marma*** *by Nasa Srota*

↓

Spreads in *Murdha* taking route

↓

Reaches olfactory area

↓

Olfactory area is directly connected to outer surface of CNS

↓

Gets in circulation through Nasal Venous blood

↓

Communicates with **Cavernous Sinus**

↓

Active principles of drug get absorbed and controls neurological and circulatory function

↓

Ingredients of *Rasanjanadi Taila*

↓

Ushna Virya (Vata & Kapha Shamaka)

↓

Teekshana and Sukshama guna (Srotoshodhaka)

↓

Nasya drug remove the obstruction and facilitate the drainage of discharge

↓

Acts as *Balya, Brihana, and Rasayana* and enhance Immunity

↓

Immune modulation, will reduce Inflammation of nasal cavity and sinus

↓

The *Rasanjanadi Taila* possesses Anti-inflammatory, antioxidant, anti-bacterial and immune modulator

↓

Stabilizes mast cells, congestion and mucous secretion

↓

The efficacy of *Rasanjanadi Taila Nasya* in relieving the symptoms of *Rhinitis*

•**Discussion on Result :**

• **Effect of therapy on *Nasasrava* (Nasal discharge) –**

Group-A: Before treatment complains of *Nasasrava* was present in 78.57% of patients. After treatment complains of *Nasasrava* was present in 21.42% of patients. **Group-B**: Before treatment complains of *Nasasrava* was present in 67.85% of patients. After treatment complains of *Nasasrava* was present in 57.14% of patients. When comparison was done on *Nasasrava* in between *Rasanjanadi taila nasya* and *Go-ghrita nasya* on the basis of percentage *Rasanjanadi taila nasya* had 57.15% relief was found and 10.71% of relief was found in *Go-ghrita nasya.*

Kapha as well as *Pitta* are the main *Dosha* in production of *Srava*. As the formulation is having *Ghrahi* property it dries up all the *kapha* and more over all the ingredients are having *Kapha-Pitta Shamaka* property it reduces the *Nasasrava.*

• **Effect of therapy on *Nasaanaha* (Nasal Block)–**

Group-A: Before treatment complains of *Nasaanaha* was present in 42.85% of patients. After treatment complains of *Nasaanaha* was present in 21.42% of patients. **Group-B:** Before treatment complains of *Nasaanaha* was present in 42.85% of patients. After treatment complains of *Nasaanaha* was present in 39.28% of patients. When comparison was done on *Nasaanaha* in between *Rasanjanadi taila nasya* and *Go-ghrita nasya* on the basis of percentage *Rasanjanadi taila nasya* had 21.43% of relief was found and 3.57% of relief was found in *Go-ghrita nasya*.

It is produced due to the blockage of *Udana Vayu* by increased *kapha* in the nasal passage. This accumulated *kapha* is cleared by the lekhana property of *Rasanjanadi Taila*. There by reducing the blockage.

• **Effect of therapy on *Kshavathu* (Sneezing) –**

Group-A: Before treatment complains of *Kshavathu* was present in 67.85% of patients. After treatment complains of *Kshavathu* was present in 10.71% of patients. **Group-B:** Before treatment complains of *Kshavathu* was present in 85.71% of patients. After treatment complains of *Kshavathu* was present in 39.28% of patients. When comparison was done on *Kshavathu* in between *Rasanjanadi taila nasya* and *Go-ghrita nasya* on the basis of percentage *Rasanjanadi taila nasya* had 57.14% of relief was found and 46.43% of relief was found in *Go-ghrita nasya*.

Madhura, Tikta, kashaya rasa and *guru, Snigadha guna* and *Tridoshahara* property of Rasanjanadi *taila* helps to reduce the increased *kapha and vata.*

•**Effect of therapy on *Shirashoola* (Headache) –**

Group-A: Before treatment complains of *Shirashoola* was present in 71.42% of patients. After treatment complains of *Shirashoola* was present in 0% of patients. **Group-B**: Before treatment complains of *Shirashoola* was present in 64.28% of patients. After treatment complains of *Shirashoola* was present in 3.57% of patients. When comparison was done on *Shirashoola* in between *Rasanjanadi taila nasya* and *Go-ghrita nasya* on the basis of percentage *Rasanjanadi taila nasya* had 71.42% of relief was found and 60.71% of relief was found in *Go-ghrita nasya*.

Shirashoola is due to the *Vata vriddhi* in *Shiras. Taila* being *Sreshta* for vata among *Chatursneha* and *vednasthapana* property of *Rasanjanadi Taila* used to reduce S*hirashoola*. Moreover *Nasya* as a therapy is mainly indicated in *Shirashoola.*

• **Effect of therapy on *Nasaraktata* (Congestion)–**

Group-A: Before treatment complains of *Nasaraktata* was present in 100% of patients. After treatment complains of *Nasaraktata* was present in 57.14% of patients. **Group-B:** Before treatment complains of *Nasaraktata* was present in 96.43% of patients. After treatment complains of *Nasaraktata* was present in 75% of patients. When comparison was done on *Nasaraktata* in between *Rasanjanadi taila nasya* and *Go-ghrita nasya* on the basis of percentage *Rasanjanadi taila nasya* had 42.86% of relief was found and 21.43% of relief was found in

Go-ghrita nasya.

Kapha-pitta Shamaka property, *Tikta rasa* in all the drugs helps pacifying *Nasaraktata as Pitta* is the main dosha in *congestion*.

• **<u>Overall effect of therapy:</u>**

After observation it can be concluded that *Rasanjanadi taila nasya* is 21.43% more effective then *Go-ghrita nasya* which was statistically highly significant (P<0.01).

Conclusion

* Detail description about Pratishyaya is found in Brihatrayee as well as Lagutrayee i.e. *Sushruta Samhita*, *Charaka Samhita*, *Ashtanga Hridaya*, *Ashtanga Samgraha*, *Kashyapa Samhita*, *Madhava Nidana*, *Bhava Prakasha*, *Yogaratnakara and Bhaishajya Ratnavali*.

* Etiological Factors, Symptoms are almost similar in *Ayurveda* and modern science.

* *Nidana Parivarjana* is playing an important role in the management of *Pratishyaya*.

* Both the group's trial group as well as control group showed good response in *Nasasrava*, *Nasaanaha*, *Kshavathu*, *Shirashoola*, *and Nasaraktata*.

* According to statistical study, ALTERNATIVE HYPOTHESIS is accepted with percentage difference of 21.43% it can be concluded that the effect of *Rasanjanadi taila nasya* is better than *Go-ghrita nasya* in the management of *Pratishyaya*.

***Assistant Professor**
Department of Shalakya Tantra, Mai Bhago Ayurvedic Medical College and Hospital, Sri Muktsar Sahib, Punjab
Email - janatsheoran94@gmail.com

****Former HOD & Professor of Shalakya Tantra Dept., Parul Institute of Ayurved, Parul University, Limda, Vadodara**
Email - to_rgd@yahoo.in

*****Associate Professor**
Department of Shalakya Tantra, Sumandeep Vidyapeeth, Vadodara, Gujarat
Email - eshwarisalian81@gmail.com

References

1. Sushruta samhita, Edited by Vaidya Jadavaji Trikamaji Acharya & Narayam Ram Acharya, 9th Edition, 2007, Published by Chaukhambha Orientalia, Varanasi, Su. Ut. 24/4.
2. Caraka Samhitha, Revised by Charaka and Dradhbala with Ayurved Dipika, Commentory of Cakrapanidutta, Edited by Jadavaji Trikamji Acharya, Published by Chaukhambha Orientalia, Varanasi , Reprint 2014, Ch.Chi.7.
3. Caraka Samhitha, Revised by Charaka and Dradhbala with Ayurved Dipika, Commentory of Cakrapanidutta, Edited by Jadavaji Trikamji Acharya, Published by Chaukhambha Orientalia, Varanasi , Reprint 2014, Cha.Chi.3/333,334.
4. Caraka Samhitha, Revised by Charaka and Dradhbala with Ayurved Dipika, Commentory of Cakrapanidutta, Edited by Jadavaji Trikamji Acharya, Published by Chaukhambha Orientalia, Varanasi , Reprint 2014, Ch.Chi.30/294.
5. Caraka Samhitha, Revised by Charaka and Dradhbala with Ayurved Dipika, Commentory of Cakrapanidutta, Edited by Jadavaji Trikamji Acharya, Published by Chaukhambha Orientalia, Varanasi , Reprint 2014, Cha.Si.9/89
6. Caraka Samhitha, Revised by Charaka and Dradhbala with Ayurved Dipika, Commentory of Cakrapanidutta, Edited by Jadavaji Trikamji Acharya, Published by Chaukhambha Orientalia, Varanasi , Reprint 2014, Chi.40/45
7. Sharangadhara Samhita, Edited by Bramhanand Tripathi, Reprint, 2016, Published by Chaukhambha Surbharati Prakashan, Varanasi; Sha.Utt.8/15.

शोध-पत्र

डॉ. मीरा शर्मा

भर्तृहरि के अनुसार शक्ति की अवधारणा

भाषा-तत्त्व का विश्लेषण भारत की बौद्धिक एवं आध्यात्मिक परम्परा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। वाक्यपदीय में भाषा को सामान्य सांसारिक धरातल से ऊपर उठाकर ब्रह्मतत्त्व के स्थान पर स्थापित करने के कार्य को एक व्यवस्थित शास्त्र का रूप देकर उसको समग्रता तक पहुँचाने वाले मनीषी आचार्य भर्तृहरि हैं। वाक्यपदीय में वाक्तत्त्व को ब्रह्म से अनतिरिक्त मानकर उसकी साधना को ही मोक्षप्राप्ति का एकमात्र उपाय बताया गया है। भर्तृहरि ने वाग्रूप ब्रह्म को समस्त सृष्टि का उपादान कारण मानकर तत्त्वमीमांसा-सम्बन्धी अपनी मान्यता में अद्वैतवाद की स्थापना की है।

वाक्यपदीय व्याकरण-दर्शन से सम्बन्धित होने के कारण केवल व्याकरण के अध्येताओं के लिए ही नहीं, अपितु दर्शन के अध्येताओं के लिए भी आकर्षण-बिंदु है। इसके अतिरिक्त यह ग्रन्थ भाषाविज्ञान के अध्येताओं के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार वाक्यपदीय में शक्ति के स्वरूप को अधिकृत करके मेरा यह शोधपत्र व्याकरणदर्शन पर समवलम्बित (आश्रित) है। मेरे इस शोधपत्र में वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड के अन्तर्गत आने वाले दिक्-समुद्देश में शक्ति के स्वरूप का, हेलाराज की टीका के आलोक में समीक्षात्मक अध्ययन है। आज जबकि विश्व में भर्तृहरि के भाषादर्शन को लेकर दार्शनिकों, भाषावैज्ञानिकों एवं मनोवैज्ञानिकों के बीच रुचि व्याप्त है, इस प्रकार का अध्ययन अत्यन्त प्रासंगिक भी है।

वाक्यपदीय में ब्रह्म को समस्त जगत् का मूल कारण स्वीकार किया गया है; चूंकि पदों और वाक्यों का व्यवहार भी इस जगत् के अन्दर ही होता है इसलिए भर्तृहरि इनका मूल भी ब्रह्म को ही मानते हैं। इसी कारण भर्तृहरि को शब्दाद्वैतवादी कहा जाता है। सम्पूर्ण वाक्यपदीय में ब्रह्म एक ऐसा सामान्य तत्त्व है जो प्रत्येक वस्तु से जुड़ा हुआ है, इसलिए वाक्यपदीय में वर्णित सभी विषयों का सम्बन्ध ब्रह्म से माना जाता है। यही कारण है कि वाक्यपदीय के अङ्गभूत पदकाण्ड में चौदह समुद्देशों में वर्णित होने वाले जाति, द्रव्य, साधन, दिक् काल, क्रिया, संख्या आदि विविध विषयों का भी सम्बन्ध ब्रह्म से मान लिया जाता है। इस आधार पर पदों या पदावयवों से अभिव्यक्त होने वाली अतिसामान्य और व्यापक धारणाओं जैसे दिक्, काल, क्रिया को ब्रह्म की शक्तियाँ मान लिया जाता है। भर्तृहरि के अद्वैतवाद में इन शक्तियों के आधार पर जगत् के नानात्व की व्याख्या भी हो जाती है और ब्रह्म में द्वैतापत्ति भी नहीं होती।

भर्तृहरि दिक्, साधन, क्रिया, काल आदि का वर्णन शक्तियों के रूप में करते हैं।[1] दिक्, काल, साधन, क्रिया आदि को जब सिद्ध-द्रव्यों के रूप में कहा जाता है तो ये पदार्थों की शक्तिरूपी अर्थ में अत्यन्त अनवस्थित होते हैं। अनवस्थित कहने का तात्पर्य यह है कि इनका अर्थ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ये शक्तिरूप हैं। इनको अपने अभिधान के लिए किसी आश्रय या द्रव्य पर निर्भर रहना पड़ता है, इस दृष्टि से वे अपने अर्थों की अवाचक हैं। दिक, क्रिया, काल आदि को अनवस्थित पदार्थ इस दृष्टि से भी कहा जाता है क्योंकि न तो इन शक्तियों का द्रव्यों के समान स्वतन्त्ररूप से व्यवहार

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

हो सकता है और न ही, इनके कार्यों के सर्वत्र दर्शन होने के कारण, इनकी सत्ता को नकारा जा सकता है। कहने का भाव है कि 'इदं तत्' के रूप में जैसे सिद्ध-द्रव्यों का स्वरूप निश्चित होता है वैसे इन शक्तियों का स्वरूप निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। दिक्, काल आदि शब्द 'गौ' आदि शब्दों की तरह अर्थों से साक्षात् रूप से सम्बन्धित नहीं होते। वैसे भी सिद्धस्वभाव वाली वस्तु असाधारण धर्म से युक्त मानी जाती है, जबकि शक्तियों में ये असाधारण धर्म नहीं होते।[2] इस प्रकार दिक्, काल आदि शक्तियों का सिद्धस्वभाव वाली वस्तु के वाचक शब्दों (इदं तत्) से साक्षात् अभिधान नहीं हो पाता। अतः इनके अर्थ के निश्चय के लिए किसी परिभाषा का प्रतिपादन आवश्यक है।

दिक् आदि शब्द जैसा व्यवहार में प्रतीत होते हैं उससे इनका वास्तविक स्वरूप भिन्न है;[3] जैसे काल और दिक् नित्य, एक और विभु हैं किन्तु व्यवहार में काल के तीन और दिक् के दस प्रकार के विभाजन देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन्हें अनित्य भी माना जाता है। इस दृष्टि से इनका व्यावहारिक अर्थ अलग होता है और वास्तविक अर्थ अलग होता है।

शक्तियाँ शक्तिमान् के प्रति परतन्त्र हैं। शक्तिमान् से पृथक् उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। पराश्रित होने के कारण इनका अर्थ सीधे तौर पर ज्ञात नहीं होता अर्थात् किसी वस्तु से ये सीधे जुड़ नहीं सकते इसलिए इनको उपाधियों का आश्रय लेना पड़ता है। यही कारण है कि दिक्, काल आदि शब्द सिद्धस्वभाव वाले द्रव्य के धर्म या उपाधि के रूप में ही अपने अर्थ को प्रतिपादित करते हैं।

इसका अभिप्राय है कि किसी न किसी की उपाधि के रूप में ही इन शक्तियों के अर्थ का बोध होता है। उदाहरण के तौर पर देश की उपाधि के रूप में, जैसे 'काशी प्रयाग से पूर्व में है' और पदार्थ की उपाधि के रूप में, जैसे 'सुमेरु पर्वत के सामने स्थित दिशा पूर्व दिशा है' आदि। इस प्रकार दिक् आदि शक्तियाँ देश, पर्वत आदि उपाधियों से युक्त होकर ही लौकिक व्यवहार का निर्वाह कर पाती हैं। इसीलिए इनकी अवधारणा शक्ति के रूप में की गई है क्योंकि शक्ति कहते ही उसे हैं जो अपने आश्रय के प्रति परतन्त्र है।[4] क्रिया को भी द्रव्य के प्रति परतन्त्र होने के कारण शक्ति कहा जाता है। महाभाष्य में अत्यन्त अपरिदृष्ट अवयवों वाली क्रिया को अनुमानगम्या कहा है।[5]

पदार्थों में होने वाला इस प्रकार का व्यवहार कि 'यह इससे पूर्व है', 'यह इससे परे है', 'अवधि-अवधिमान्' का, क्रम से युक्त 'पूर्वापर' आदि का ज्ञान इन शक्तियों के कारण ही होता है। पदार्थों में इस प्रकार का ज्ञान कराकर शक्तियाँ उनका उपकार करती हैं। इस प्रकार भावों के उपकार रूपी कार्य से दिक्-शक्ति की सत्ता का अनुमान होने के कारण, पदार्थ का उपकार करना भी शक्ति का लक्षण है।[6] इसी कारण वैशेषिक दर्शन में दिक् को जो द्रव्य माना गया है, वह हेलाराज की दृष्टि में उचित नहीं है।[7] शक्ति कार्यानुमेया और पदार्थोपकारक रूप वाली होती है और शक्ति की ये विशेषताएं द्रव्य में नहीं पाई जाती। इसलिए शक्ति को द्रव्य के रूप में नहीं माना जाता।

दिक्, क्रिया, काल जैसे शब्दों का जब कोई निश्चित अर्थ ज्ञात नहीं होता है तो इनका शास्त्र से अनुमित लक्षण किया जाता है। कहने का भाव है कि यद्यपि व्यावहारिक स्तर पर दिक् आदि पदों का सिद्ध-वस्तु के समान निश्चितरूप से अभिधान संभव नहीं, फिर भी दिक् और काल का लोक और शास्त्र में व्यवहार तो देखा ही जाता है जैसे व्याकरण शास्त्र के 'दिक्शब्देभ्यो दिग्देशकालेषु'[8] जैसे सूत्रों में और लोक में पूर्व-अपरादि (व्यवहार) के रूप में दिक् का व्यवहार होता है। इसलिए इन दिक् आदि पदार्थों का लक्षण शास्त्र या लोक से कहना चाहिए, ऐसा सोचकर दिक्समुद्देश में भर्तृहरि के द्वारा दिक् आदि शक्तियों का लक्षण कहा गया है। दिक्-काल आदि के समान साधन आदि शक्तियों का भी शास्त्रीय लिङ्ग (हेतु) से अनुमित लक्षण ही प्राप्त होता है।[9] इस प्रकार वाक्यपदीय में भर्तृहरि द्वारा शक्ति की अवधारणा को वर्णित किया गया है।

सन्दर्भ सूची

1. दिक् साधनं क्रिया काल इति वस्त्वभिधायिनः।
शक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थिताः।। वा.प., 3.6.1
2. एवंविधं शक्तिरूपं सिद्धस्वभाववस्तुवाचकैः शब्दैः साक्षान्न

स्पृश्यत इत्यसाधारणमेतत्पदार्थरूपं लक्षणेनावस्थापयितव्यम्।
हे.प्र.प्र., III, i, पृ. 209

3. दिगादिशब्दाः .... स्वार्थं प्रतिपादयन्तो यथालक्षित-दिगाद्यर्थसंस्पर्शविकलाः। हे.प्र.प्र., III, i, पृ. 209
4. तथा हि परोपाधिरूपाः शक्तयो दिगाद्याः, पारतन्त्र्यं च शक्तिलक्षणम्। हे.प्र.प्र., III, i, पृ., 209
5. महा.भा., 1.3.1, पृ. 115
6. कार्यानुमेयत्वेन पदार्थोपकारकरूपस्य शक्तित्वस्य न्याय्यत्वात्। हे.प्र.प्र., III, i, पृ. 209
7. वैशेषिकनये च दिक् द्रव्यं नोपपद्यते। हे.प्र.प्र., III, i, पृ., 209
8. अ., 5.3.27
9. तत्र साधनादीनां शास्त्रादनुमितमेव लक्षणं विभजनीयम्। दिक्कालादीनां तु स्वरूपं वक्तव्यम्।
   हे.प्र.प्र., III, i, पृ., 209

शोध-पत्र

प्रो. मंजु जैन

प्राचीन काल से अद्यतन भारत में बदलती परिवार की अवधारणा

मनुष्य जन्म लेते ही एक परिवार का अभिन्न अंग बन जाता है। 'परिवार' जहाँ उसका पालन पोषण होता है। वह आचरण व्यवहार का पाठ सीखता है और एक संस्कारित मनुष्य के रूप में विकसित होता है। देश, काल, प्रथा, कार्य आदि की दृष्टि से परिवार की अवधारणा निरन्तर बदलती रही है परन्तु पारिवारिक व्यवस्था के मूल में उसके सदस्यों का आपस में सहयोग परिवार को सामाजिक और आर्थिक जीवन का केन्द्र बनाता है। विश्व में सबसे प्राचीन वेद में निर्मल अन्त:करण वाले **'साक्षात्कृतधर्माण:'** ऋषियों ने जिस सत्य का प्रत्यक्ष किया वह युगीन न होकर शाश्वत था, जनकल्याण की भावना से ओतप्रोत था। **'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया:'** का उद्घोष करने वाली यही भावना हमें एक दूसरे से जोड़ती है। व्यक्ति परिवार का और परिवार समाज का अंग है अत: समाज की उन्नति के लिए प्रयास करना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। आज हम समाजवाद और पूंजीवाद से परित भौतिवादी व्यवस्था में रह रहे हैं जिसका सम्बंध अर्थ और अधिकारों से है। जबकि प्राचीन भारत में वैदिक काल में समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। ऋग्वेद में पुरुष सूक्त में सर्वप्रथम चारों वर्णो की उत्पत्ति का उल्लेख है, तदनुसार उस (पुरुष) के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[1] ऋग्वेद् के पश्चात् महाभारत, गीता पुराणादि ग्रन्थों में भी इसी वर्णव्यवस्था का उल्लेख मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है-

''चार्तुवर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागश:।''[2]

यह वर्णाश्रम व्यवस्था व्यक्ति और समाज की भौतिक ही नहीं आध्यात्मिक उन्नति को भी महत्व देती है। वैदिक ऋषि सौ वर्षो तक स्वस्थ जीवन की कामना करता है। **'पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्।'**[3] वस्तुत: शरीर ही आत्मविकास का साधन है शरीर को साधे बिना आध्यात्मिक विकास की बात सोची भी नहीं जा सकती। वैदिक ऋषियों ने व्यष्टि और समष्टि के सर्वतोभावेन उन्नयन के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था की संकल्पना की थी। वेद सब मनुष्यों को परम पिता परमेश्वर की संतान मानता है अत: हमें किसी भी प्रकार के भेदभाव से रहित होकर सब प्राणियों मे समान दृष्टि रखते हुए सबकी उन्नति के लिए प्रयास करना चाहिए। ऋग्वेद संघ या संगति बनाकर कार्य करने की बात कहता है-

सं गच्छध्वं सं वदध्वम्।
सं वो मंनासि जानताम्।।[4]

अर्थात् साथ चलो साथ बोलो। तुम साथ-साथ विचार करो। वैदिक समाज व्यवस्था का एक अन्य महत्वपूर्ण स्तम्भ है-त्यागपूर्वक उपभोग। वेद हमें आसक्ति और लालच से रहित होकर त्यागपूर्वक सांसारिक पदार्थों का उपभोग करने की प्रेरणा देता है। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'**[5] अर्थात् हमें भोग्य पदार्थो का उपभोग त्यागपूर्वक करना चाहिए क्योंकि वस्तुत: ये भोग्य पदार्थ किसी के भी नहीं है। यही विचार हमें जन कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करता है।

अयं निजः परो वेति गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।[6]

इसी विचार धारा से प्रेरित होकर ही प्राचीन काल में भारतीय सम्पूर्ण धरती को अपना परिवार मानते आ रहे हैं। वैदिक काल ही नहीं, स्मृतिकाल, पौराणिक काल, रामायण

काल महाभारत काल तक भी परिवार का यही स्वरूप हमें दृष्टिगत होता है। उसके परवर्ती काल में भारतीय परिवार संयुक्त परिवार के रूप में मूर्त रूप में सामने आया प्रारम्भ में एक ही स्थान में रहने वाले लोगो में विवाह की परम्परा थी, रक्त सम्बंध के साथ ही भावनात्मक रूप में भी लोगों में जुड़ाव था। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ इन लोगों के समूह ने कबीलों का आकार ग्रहण कर लिया। कालान्तर में भारतीय समाज में संयुक्त परिवार के दो रूप मिलते हैं- प्रथम वह परिवार जिसमें रसोई तथा आवासादि सब साझा होते हैं, द्वितीय वह परिवार जहाँ आवास तो एक ही होता पर चूल्हा अलग जलता है। इनमें प्रथम परिवार तो समय के साथ विलुप्त प्राय: होते गए दूसरे अभी भी कहीं-कहीं अस्तित्व में है। संयुक्त परिवार अपनी पुरानी सामाजिक परम्पराओं व धार्मिक मान्यताओं का निवर्हन करते हैं। रीति-रिवाज विभिन्न पर्वों पर होने वाले व्रत-उपवासादि धार्मिक अनुष्ठान, प्राकृतिक नियमों का पालन स्वास्थ्य सम्बंधी शिक्षा अन्य भी अनेक जीवनोपयोगी बातें संयुक्त परिवार में पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं।

परिवार नामक संस्था की अवधारणा में काल ही नहीं स्थान के आधार पर भी भिन्नता पाई जाती है। पश्चिमी देशों में मूल या दाम्पत्य परिवार की प्रधानता दृष्टिगत होती है तो भारतीय समाज में संयुक्त परिवार की। ''संयुक्त पूँजी, संयुक्त निवास तथा संयुक्त उत्तरदायित्व के कारण आर्थिक सुरक्षा होने तथा परिवार की सत्ता वृद्ध व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होने के कारण परिवार में उनका प्रभुत्व था, परन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में औद्योगीकरण, नगरीकरण प्रवजन, आधुनिकीकरण, नवीन आर्थिक व्यवस्था तथा सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि ने परिवार की परम्परागत संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक प्रकृति को विखंडित कर दिया है तथा उनके स्थान पर एकाकी परिवारों का प्रचलन बढ़ा है जो युवा पीढ़ी के लिए उपर्युक्त व सुविधाजनक सिद्ध हो रहा है।[7] बड़े शहरों में आवासीय समस्याओं, मँहगाई, सीमित आय के संसाधनों तथा बढ़ते आर्थिक बोझ के कारण अधिकांश युवा अपने माता-पिता या अन्य पारिवारिक सदस्यों को अपने साथ रखने में असमर्थ हैं, जो संयुक्त परिवार बचे हैं वे भी अपने प्राचीन मूल्यों व आदर्शों से बहुत दूर जा चुके हैं। पीढ़ी पश्चिमी ढंग से जीना चाहती है तो पुरानी पीढ़ी अपने आदर्शों और परम्पराओं को छोड़ना नहीं चाहती। दोनों पीढ़ियों के मध्य टकराव स्पष्टत: नजर आये लगा है परिणामत: वृद्धजन या तो पारिवारिक देखभाल से वंचित हो रहे हैं या इस रिक्तता को भरने के लिए सामाजिक सहायता संस्थाओं या वृद्धाश्रमों का सहारा ले रहें है। वस्तुत: जीवन मूल्यों का बोध उनके प्रति निष्ठा सुसंस्कृत समाज की आधार शिला है, आज मूल्यात्मक विभ्रम के कारण मनुष्य ने उपभोक्तावाद से प्रभावित होकर अपने सामने आवश्यकताओं की एक फेहरिस्त खड़ी कर ली और अपनी सारी शक्ति को वह सृजनात्मक कार्यों में न लगाकर विलासिता के संसाधनों को बटोरने में खर्च कर रहा है। इसके अतिरिक्त व्यापारिक प्रतिस्पर्धा की भावना इसे और बढ़ा रही है। पहले आजीविका के कारण लोग अपने गाँव या शहर से पलायन कर रहे थे आज बच्चे विवाह से पूर्व ही शिक्षण हेतु दूसरे शहरों या विदेशों में जा रहे हैं, छात्रावासों में निवास कर रहे हैं। उपभोक्तावाद के प्रभाव स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति भौतिक संसाधनों को इकट्ठा करने में लगा है और इनके उपभोग में इस कदर डूबा है कि उसके पास नैसर्गिक जीवन जीने के लिए समय ही नहीं है। भौतिक सुखों की होड़ में मनुष्य अपनी जिन्दगी में भाग-दौड़ और तनाव ही नहीं बढ़ा रहा वह नैतिक मूल्यों को भी विस्मृत करता जा रहा है, परिवार विखण्डन के कगार पर हैं। नैसर्गिक सम्बंधों से दूर हुआ व्यक्ति नई आभासी (वर्चुअल) दुनिया में नये सम्बन्धों का सृजन कर रहा है, परन्तु किसी भी मानवीय सम्बन्ध का मूल आधार है, प्रेम और समर्पण, उसके अभाव में वर्चुअल सम्बंध धीरे-धीरे जीवन में एकाकीपन ला रहे है। मानवीय मूल्यों से रहित हुआ इंसान एक मशीन बन गया है जो अपने स्वार्थ और अधिकारों की बात तो करता है परन्तु दायित्व व कर्त्तव्य बोध को विस्मृत कर चुका है। परिवार का मूल है त्याग और वही भावना आज समाप्त हो गई है। व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होकर अपने आप में सिमट गया है, स्वयं परिवार बन गया है।

वस्तुत: व्यक्ति इस वर्चुअल दुनिया में खो सा गया है जहाँ मित्रों सम्बंधियों का अम्बार लगा है परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसे कोई अपना दिखाई नहीं देता जो उसे मानसिक सम्बल के उसकी सहायता करे परिणामत: वह भीतर तक टूट जाता है तब उसे परिवार की अहमियत पता चलती है। अत: परिवार नामक संस्था को पुन: स्थापित्व प्रदान करने के लिए हमें एक स्वस्थ सामाजिक परिवेश

विकसित करना होगा। अपने आप से ऊपर उठकर मानव-मात्र के कल्याण की दिशा में सोचना होगा, अपने प्राचीन नैतिक मूल्यों और आदर्शों का अपनाना होगा। प्रत्येक व्यक्ति में प्रेम, करुणा, सहयोग और जनकल्याण की भावनाओं को जागृत करना होगा जो कि परिवार के स्थायित्व का आधार है। अन्यथा आज के एकल परिवार भी विघटित हो जाएंगे और मानवीय अस्तित्व भी संकट में आ जाएगा। **'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय'** की प्राचीन विचारधारा का अवलम्बन करते हुए पारम्परिक नैतिक मूल्यों को अपनाते करते हुए ही हम परिवार का अस्तित्व बचा पाएंगे जो मानव मात्र के लिए श्रेयस्कर है।

''माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।''[8] अर्थात् भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।

वैदिक ऋषि की इसी भावना को आज आत्मसात् करने की आवश्यकता है।

आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा (राज.)

सन्दर्भ सूची

1. ऋग्वेद, पुरुष सूक्त, 10/90 मंत्र 12
2. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता-4/13
3. अथर्ववेद-काण्ड 19, सूक्त 67/मंत्र
4. ऋग्वेद-10/11/12
5. ईशावास्योपनिषद्-प्रथम मंत्र
6. महोपनिषद्, अध्याय-4, श्लोक-71
7. टूटता संयुक्त परिवार एवं बिखरते रिश्ते-प्रीति कुमारी प्रवक्ता कॉम (2016)
8. अथर्ववेद-(पृथ्वी सूक्त) 12/1/7

डॉ. सीमा शर्मा

आधुनिक संस्कृत दूतकाव्य : एक पर्यवेक्षण

प्रेम से सम्बन्धित, राजनीतिक तथा अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दूत का भेजना सर्वत्र प्रचलित है। इनमें साहित्यिक दूत का स्वरूप तो कवि की प्रतिभा के कारण और भी मनोरम लगता है। महाकवि कालिदास से यह विचार-सरणी प्रारम्भ होकर आज तक प्रवाहित है। आधुनिक काल में रचित संस्कृत दूतकाव्य भी भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से सहृदय पाठकों को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। इनमें से कुछ दूतकाव्य पूर्व परम्परानुसार नायक-नायिका के विरह को आधार बनाकर लिखे जा रहे हैं, जबकि कुछ कवियों ने समसामयिक विषयों को प्रमुखता दी है। इतना ही नहींशृङ्गारिक दूतकाव्यों में भी दूतचयन, मार्गवर्णन तथा सन्देश-सम्प्रेषण में आधुनिकता है।

आधुनिक संस्कृत दूतकाव्यों में कथावस्तु की दृष्टि से नवीनता दिखाई देती है। महाकवि कालिदास के मेघदूत की कथा का पल्लवन भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। परमेश्वर झा विरचित यक्षसमागमकाव्य[1], कोरद रामचन्द्र विरचित घनवृत्तकाव्य[2], त्रैलोक्यमोहन गुह प्रणीत मेघदौत्यम्[3], द्विजेन्द्रलाल शर्मा काव्यतीर्थ विरचित अलकामिलनकाव्य[4], मन्दिकल रामशास्त्री विरचित मेघप्रतिसन्देश[5], इच्छाराम द्विवेदी विरचित दूतप्रतिवचनम्[6] आदि में मेघदूत की कथा को ही पल्लवित किया है।

यक्षसमागमकाव्य, घनवृत्तकाव्य तथा अलकामिलनकाव्य में मेघ के दौत्यकार्य के अनन्तर अलका में विरही यक्ष एवं यक्षपत्नी का पुनर्मिलन प्रदर्शित किया गया है। यक्षसमागमकाव्य में चार माह पश्चात् देवोत्थान होने पर यक्ष अपनी प्रेयसी के पास पहुँचता है। यहाँ कवि ने दोनों की प्रणयकथाएँ एवं प्रणयलीलाएँ अत्यन्त सरस एवं मधुर रूप से वर्णित की है। कुबेर भी यक्ष से प्रसन्न हो जाते हैं तथा उसे पहले की अपेक्षा अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंप देते हैं। मेघदौत्यम् तथा मेघप्रतिसन्देश मेघदूत के प्रत्युत्तर के रूप में रचित हैं। इनके कथानक के अनुसार यक्षपत्नी प्रत्युत्तर में मेघ के माध्यम से यक्ष के पास सन्देश भेजती है। दूतप्रतिवचनम् के कथानक में आधुनिकता है। इसके अनुसार मेघदूत में दौत्य कार्य के लिए नियुक्त मेघ अलकापुरी से सन्देश सम्प्रेषण के पश्चात् यक्ष के पास रामगिरि लौटकर आता है। तब उसे यात्रा में किस प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं, इसका ही कवि ने हास्य-व्यङ्ग्य की रीति में वर्णन किया है। यक्ष सर्वप्रथम मेघ का स्वागत करता है, तदनन्तर वह मेघ से अपनी पत्नी के विषय में जानता है तथा मार्ग में आने वाले विविध नगरों से युक्त भारतवर्ष के विषय में पूछता है। इस पर दुःखी होकर मेघ यक्ष से कहता है-

बन्धो ! हन्त त्रुटितमधुना धर्मचक्रं समन्ताद्
भिन्नः सेतुः प्रणयसरितो यस्त्वया बद्धपूर्वः।
साधो सर्वं शिथिलमभवत् स्नेहजातं प्रियाणां
क्षीणे स्नेहे ज्वलति विकला वर्तिका नात्र चित्रम्॥[7]

वह कहता है कि तुम्हारी प्रियतमा अपने माता-पिता के घर में रहती हुई तुम्हारे वियोग में व्याकुल रहती है, परन्तु उसे अपनी सास का रोग निरन्तर जलाता रहता है। वह उदरभरण के लिए जब बाहर गई तो रास्ते में कामी पुरुषों के द्वारा उस पर कटाक्ष किये गये। वह अब परिवर्तित हो गयी है-

तन्वी श्यामा शिखरिदशना यक्षिणी या त्वदीया
टी.वी.मध्ये चपलनयना तारिका दृश्यते सा।

 Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

कान्ते स्वाङ्गे विमलबटिकं फेनिलं लिम्पमाना
स्नान्त्युन्मुक्ता भवति विविधक्रय्यवस्तुप्रचारे॥[8]

आधुनिक संस्कृत दूतकाव्यों में प्रणय-कथानक तथा दौत्ययोजना में भी आधुनिकता है। रुद्रदेव त्रिपाठी विरचित पादत्राणदूतम्[9] के अनुसार कालेज का एक छात्र एक सुन्दर कन्या पर आसक्त होकर उससे प्रेम करने की ठान लेता है। वह हर पल खोया-खोया और पागलों की तरह रहने लगा। उसके खान-पान एवं रहन-सहन में परिवर्तन को देखकर उसके मित्र भी चिन्तित हो जाते हैं। उन्होंने उसे स्वकर्तव्य का बोध कराने के लिए पादत्राण (जूते) को ही दूत के रूप में प्रयोग किया। रवीन्द्र कुलकर्णी विरचित कर्गजशरदूतकाव्य[10] में किसी छात्रा के प्रति प्रवर्तमान एक छात्र के प्रणयव्यवहार को प्रदर्शित किया गया है। छात्रा पत्र के माध्यम से छात्रा से कहता है-

बी.ए.ऽम्भोधिर्नहि खलु मया यावदुत्तीर्यतेऽसौ
इण्टरश्रृङ्गं न हि खलु महद् यावदुल्लङ्घितं ते।
तावत्कालं गमय चतुरे शान्तचित्तेन बाले !
तत्पश्चात् त्वद्विरहगुणितस्नेहपूर्तिं करोमि॥[11]

छात्र पत्र से कहता है कि वह प्राचार्य की दीर्घ नेत्रों से बचकर उसकी प्रेयसी के पास जाए-

एवं गत्वा प्रविशतु भवान् वाममार्गेण तत्र
प्राचार्याणां पथि परिहरन् दीर्घनेत्रद्वयं त्वम्।
सन्ति त्वां ते विरलतनयो मानयन्तः प्रसूनैः
शीघ्रं क्षिप्रं तदनु निलये स्थानमात्रं कुरुष्व॥[12]

दिनेशचन्द्र पाण्डेय विरचित मित्रदूतम्[13] के अनुसार राँची विश्वविद्यालय का एक छात्र अपनी एक सहपाठी छात्रा चारूदेवी के प्रेम में आसक्त हो गया। जिसके कारण वह अपने अध्ययन से विमुख रहने लगा। परिणामस्वरूप उसे विश्वविद्यालय से बहिष्कृत कर दिया। अब वह छात्र विश्वविद्यालय के निकट ही एक मन्दिर में रहने लगा। वह अपनी प्रेयसी के प्रेम में अत्यधिक मग्न रहा करता था और तब तो उसका वियोग और भी दु:सह हो गया जब वह परीक्षा देकर अपने घर कश्मीर में चली गई। अत: वह छात्र अपने एक मित्र को अपना सन्देशवाहक बनाकर अपनी प्रिया के पास कश्मीर भेजता है। काव्य में राँची से कश्मीर तक के मार्ग का सुन्दर वर्णन है। मार्गवर्णन में भी आधुनिकता है। वह अपने मित्र से कहता है कि तुम्हें शीघ्र पहुँचना चाहिए, इसके लिए तुम्हें रेल से न जाकर वायुयान से जाना चाहिए। वायुयान में यात्रियों के लिए नियुक्त नवयुवति सेविकाएँ तुम्हारा प्रिय वचनों से स्वागत करेंगी-

काचित्तासामधिकमृदुला त्वां विलोक्यातिखिन्नं
पृच्छेदेत्य त्वरितगतिना किं करिष्ये त्वदर्थम्।
चाय सोष्मां यदि वद सखे ! आहरिष्यामि तूर्ण-
मानेया वा बहुरुचिकरा चोषितुं तेऽस्ति टोफी॥[14]

तदनन्तर मित्र चारुदेवी को सन्देश सुनाता है तथा सन्देश सुनकर वह प्रसन्न होती है।

रामाशीष पाण्डेय विरचित मयूखदूतम्[15] में सूर्य की किरण से दौत्य कार्य करवाया गया है। इसमें नायक एक शोध छात्र है। वह शोधकार्य हेतु शोधवृत्ति प्राप्त कर इंग्लैण्ड गया। वहाँ एक शुभ्रवर्णा नायिका उससे प्रेम करने लगी। तीन वर्षो के निर्धारित कार्यकाल की समाप्ति के बाद वह मातृभूमि लौटने की तैयारी करता है तथा नायिका से एक वर्ष के पश्चात् पुन: आने तथा माता-पिता की आज्ञानुरूप स्थाई रूप से इंग्लैण्ड में ही निवास करने का आश्वासन देता है। भारत में आकर उसने वीजा के लिए आवेदन किया, परन्तु वह असफल रहा। वह निरन्तर उसके विरह में सन्तप्त रहने लगा। एक दिन तीव्र ताप को सहन करते हुए उसने सूर्य की किरण को देखा तथा उसे ही वह दूत बनाकर इंग्लैण्ड में अपनी प्रेयसी के पास अपना विरह सन्देश भेजता है। वह सूर्य की प्रातःकालीन किरण को देखकर विविध प्रकार के वितर्क करता है-

किं वा रागो हृदयनिहितः कामजो वानुतापः
रक्ताभा वा रतिपरिणये सङ्चितस्याम्बरस्य।
सिन्दूरं स्यात् दिनकरकरेणार्चिताया उषायाः
कामासक्तैर्जगति निखिले दृश्यते राग एव॥[16]

केरलीय कवि कोच्चुण्णि तम्पुरॉन् विरचित विप्रसन्देश[17] के नायक 32 वर्षीय एक ब्राह्मण हैं, जो ज्योतिषीय गणना के अनुसार यह जानकर कि वह मात्र 6 महिने और जीवित रहेंगे, दीर्घायु प्राप्त करने की कामना से काशी चले जाते हैं तथा वहाँ पर कठोर तपस्या एवं यज्ञ-यात्रादि का अनुष्ठान करते हैं। एक दिन उनको अपनी प्रिया का विरह सताने लगता है। अत: वे एक अन्य ब्राह्मण तीर्थयात्री के द्वारा अपना सन्देश त्रिरुवनन्तपुर में स्थित अपनी प्रिया को भेजते हैं। दौत्य कार्य में नियुक्त ब्राह्मण रेलयान के द्वारा काशी से तिरूवनन्तपुर जाता है।

आधुनिक संस्कृत दूतकाव्य केवल प्रणयचित्रण तक ही सीमित नही रहे हैं। इनमें भारतीय राष्ट्रियता एवं सांस्कृतिकता का समावेश भी कवियों ने किया है। गुजरात निवासी

वल्लभदास भगवान् जी गणात्रा विरचित राष्ट्रीय मेघदूत[18] में मेघदूत की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए उन्हें राष्ट्रीय तत्त्वों में पिरोया गया है। इसके कथानक के अनुसार एक तरुण गाँधीजी के राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होकर पाठशाला छोड़ देता है तथा तखली एवं चर्खे का प्रयोग करने लगता है। वह गाँधीजी के दर्शन करना चाहता है, परन्तु उसे निराशा ही हाथ लगती है, क्योंकि गाँधीजी उस समय कारागार में बन्द थे। आषाढ़ के आते ही उसकी उद्विग्नता बढ़ जाती है तथा वह मेघ के माध्यम से वह गाँधीजी के पास सन्देश भेजता है। दतिया निवासी सुधाकर शुक्ल विरचित दूतकाव्य देवदूतम्[19] में पं. जवाहरलाल नेहरू की पत्नी कमला नेहरू ने स्वर्ग से देवदूत द्वारा अद्यतन भारतीय समाज के लिए धर्म, शान्ति तथा राष्ट्रभक्ति का सन्देश भेजा है। सन्देश में दिल्ली में स्थित पं. जवाहरलाल नेहरू, डॉ. राधाकृष्णन्, इन्दिरा गाँधी आदि महानुभावों के दर्शन तथा पं. नेहरू के विशिष्ट गुणों का वर्णन किया गया है।

शिवप्रसाद भारद्वाज विरचित भारतसन्देश[20] काव्य में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत की उन्नति का वर्णन करते हुए अनेक स्थानों यथा - कोलकाता, शान्तिनिकेतन, सारनाथ, वाराणसी, चण्डीगढ़ आदि का सुन्दर परिचय प्रस्तुत किया है तथा इसके उत्तरखण्ड में राष्ट्रपति के मुख से विश्व के प्रति भारत का शान्तिसन्देश वर्णित है। भारतभूमि की महिमा का गान करते हुए कवि लिखते हैं-

भूमिर्ह्येषा सकलभुवनाभोगभूषायमाणा
पुंरत्नानां खनिरिव शुभा शोभमाना सवित्री।
रामः कृष्णः सुगत उदितो यत्र चाशोकभूपो
गान्धी यस्यामजनि न मनः कस्य तस्यां प्रसीदेत्।।[21]

अभिराज राजेन्द्र मिश्र विरचित मृगाङ्कदूतम्[22] का कवि ने अनुभवसिद्ध तथ्यों के आधार पर निर्माण किया है। कवि दो वर्ष के लिए बाली द्वीप पर जाकर निवास करते हैं। वहीं से वे मृगाङ्क अर्थात् चन्द्रमा को दूत के रूप में भारत भेजते हैं। कवि ने इस काव्य में भारत के प्रमुख स्थानों एवं व्यक्तियों का सांस्कृतिक वर्णन किया है।

राष्ट्रिय स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में संस्कृत के कवियों ने तात्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप कथानक का दूतकाव्यों में सृजन किया। झंझावात[23] नामक दूतकाव्य राष्ट्रीयभावना से युक्त सन्देशकाव्य है। सन् 1942 में होने वाले आन्दोलन के समय इसकी रचना श्रुतिदेव शास्त्री ने की थी। काव्य के नायक नेताजी सुभाषचन्द्र बोस हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जब नेताजी बर्लिन में थे, उसी समय रात्रि में उत्तर दिशा की ओर से आते हुए एक झंझावात को रोककर उसी के माध्यम से उन्होंने भारत की जनता के नाम सन्देश भेजा है।

संस्कृत दूतकाव्यों में आधुनिक विविध सामाजिक बुराईयों का चित्रण भी पाया जाता है। रामावतार शर्मा विरचित मुदगरदूतम्[24] में मुद्गर को सन्देश दिया गया है कि वह समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं बुराईयों को अपने प्रहार से ठीक करे। जनता को ठगने वाले तथाकथित साधुओं के विषय में मुदगर से कहा गया है-

आनेष्येऽहं हिमगिरितटादौषधं वः क्षुधारिं
प्राणायामैर्वियति भवतां साधयिष्ये गतिं वा।
कुंजे कुंजे सपदि भवता रामकृष्णावतारः
श्मश्रुं च्छित्त्वा प्रकटवनिताभावभाजो रमध्वम्।।[25]

कवि जयेश विरचित हंसदूतम्[26] में एक गाँधीजी के शिष्य ने हंस को दूत बनाकर देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, मंहगाई, गरीबों की दयनीय दशा, नेताओं की मदान्धता, पूँजीपतियों का वाममार्गत्व, युवकों की कामपरायणता, मद्यपान, धर्मभ्रष्ट कुटिल-हृदयों की समाज में प्रशंसा तथा सरल-हृदयों की निन्दा, देवस्थानों की अपवित्रता, छात्रों की ज्ञान के प्रति उदासीनता, चतुर्वर्णों की स्वकर्तव्यविमुखता, युवकों की स्त्रीवत् तथा युवतियों की पुरुषवत् वेशभूषा, स्त्रियों का अङ्गप्रदर्शन तथा अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक कुरीतियों के विषय में सन्देश गाँधीजी के पास भेजा है। आज के युवावर्ग का चित्रण करते हुए हंस से कहा गया है-

हिप्पेः साम्यं भवति चरिते यौवनानां सदैव
नट्याः साम्यं भवति युवतिवेषभूषासमानः।
यूनां वेशो भवति युवतिवेषभूषासमानः
ज्ञातुं शक्यो भवति न तदा लिङ्गभेदः कथञ्चित्।।[27]

जब गाँधीजी ने हंस से भारत की इस दुर्दशा को सुना तो वे भी कह उठते हैं-

जातं भ्रष्टं सकलविदितं निन्दनीयं निकामं
राज्ये नष्टं विमलचरितं वाममार्गे प्रवृत्तिः।
रूपं नष्टं भवति सकलं भारते शासनस्य
आमूलाग्रं परिभवपदं याति में सत्प्रयोगः।।[28]

ब्रह्मदेव शर्मा दाधीच के पिकदूतम्[29] में एक कोयल ने कवि के पास एक मधुमक्खी के माध्यम से भारत की तत्कालीन विचारणीय दशा का सन्देश भेजा है। यह काव्य

राष्ट्रीय भावना से प्रेरित है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में उपाचार्य रहे डॉ. परमानन्द शास्त्री विरचित गन्धदूतम्[30] में कोई महिला अपने पति के विपरीत व्यवहार से रुष्ट होकर अपने पिता के घर चली जाती है। तब पहले तो पति अपने बनावटी मित्रों के साथ सुरापानादि कार्यों में समय एवं धन नष्ट करता है, परन्तु धनहीन होने पर उसके मित्र उसे छोड़ देते हैं। तब वह खिन्न होकर आत्महत्या करने के लिए एक झील पर चला जाता है। वहाँ एक विकसित कमल को देखकर उसे अपनी पत्नी का स्मरण हो जाता है तथा वह पुनः पवित्र जीवन जीने की इच्छा करता है। वह सन्देश हेतु कमल से याचना करता है तथा उसके हिलने को स्वीकृति मानकर उसकी गन्ध को ही वाराणसी स्थित अपनी प्रिया के पास दूत बनाकर भेजता है। इसके पश्चात् नायक विस्तार से शराब से होने वाले दुष्प्रभावों का वर्णन करता है। वह कहता है–

दम्पत्योर्यद् विघटनकरं यत्र नाशो गृहस्य
विश्वासस्य प्रतिनिरसनं दुर्गतिः शुभ्रकीर्तेः।
त्यागः श्रीणां रतिपति रुजां मंगलानां प्रवासः
लोकोपेक्षा निकृतिरिति तन्मद्यमित्येव नाम।।[31]

तथा अन्त में नायक गन्ध से कहता है कि वह जाकर नायिका से कहे कि तुम्हारा पति पश्चाताप से पूर्णतः परिवर्तित हो चुका है और तुमसे समागम चाहता है।

आधुनिक संस्कृत कवि भारत–विभाजन तथा विदेशी आक्रमणों के प्रति भी उदासीन नहीं रहे हैं। इसका स्पष्ट निदर्शन संस्कृत दूतकाव्यों में देखा जा सकता है। रामचन्द्र हरिशरण शाण्डिल्य विरचित कामदूतम्[32] में पाकिस्तान में विप्लव के समय एक प्रेमिका अपने प्रिय से बिछुड़ जाती है। अतः वह वियोग के समय काम को ही दूत बनाकर प्रिय को ढूंढने एवं अपनी स्मृति दिलाने के लिए अपने प्रिय के पास भेजती है। पुलिवर्ति शरभाचार्य विरचित मरुत्सन्देश[33] की कथावस्तु के अनुसार आन्ध्रप्रदेश के कर्नूल शहर में अपनी प्रिया से वियुक्त एक युवक रहता था। वियोग का कारण एक बार युवक अपनी प्रेयसी के साथ उत्तर दिशा की ओर यात्रा पर निकलता है। वहाँ पर वह लडख प्रान्त के सुरम्य वातावरण पर मुग्ध होकर उसकी प्रशंसा में लीन था, तब ही चीनियों का भारत पर आक्रमण हो गया। नायक जैसे–तैसे कश्मीर की ओर जाते हुए एक ट्रक में चढ़ गया, परन्तु नायिका से उसका वियोग हो गया। अतः वह प्रियतमा के वियोग की ज्वालाओं में जलता हुआ मरुत को अपनी प्रिया के अन्वेषणार्थ एवं सन्देशहारक के रूप में भेजता है। नायक का चीन सेना के प्रति अत्यधिक आक्रोश है।

वनेश्वर पाठक विरचित प्लवङ्गदूतम्[34] में बन्दर को दौत्यकार्य के लिए नियुक्त किया गया है, परन्तु वह दौत्य कार्य सम्पन्न नहीं कर पाया है। काव्य की कथावस्तु के अनुसार कोई भारतीय व्यक्ति नौकरी के लिए पेशावर जाता है, परन्तु किसी कार्य से उसे काशी लौटकर आना पड़ता है। तब ही भारत–पाकिस्तान का युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इस स्थिति में वह स्वयं को पाकिस्तान लौटने में असमर्थ पाकर पत्नी के वियोग से व्यथित हो जाता है। तदनन्तर विश्वनाथ मन्दिर में कथाश्रवण के अवसर पर वह एक बन्दर को पाता है तथा उसे ही दौत्यकार्य के लिए नियुक्त करता है। वह उसे काशी से पेशावर तक का मार्ग समुचित रूप से समझाता है तथा समुचित निर्देश भी देता है। बन्दर भी उसकी प्रार्थना स्वीकार कर उसकी पत्नी के अन्वेषणार्थ पाकिस्तान जाने को तैयार हो जाता है, तभी मन्दिर में रामकथा की समाप्ति के पश्चात् जयकार सुनकर बन्दर वहाँ से भाग जाता है। इससे प्रवासी और अधिक खिन्न हो जाता है। अब वह अपने भावों को संस्कृत पद्यों में निबद्ध कर अपनी पत्नी के नाम दिल्ली मंत्रालय में भेज देता है। दोनों देशों के नागरिकों के प्रत्यावर्तन के फलस्वरूप उसकी पत्नी को काशी पहुँचाया जाता है तथा दोनों का मिलन हो जाता है।

आधुनिक संस्कृत दूतकाव्य प्रणेताओं में प्रबोध कुमार मिश्र का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्हें उत्कलीय कालिदास भी कहा जाता है। इन्होंने स्वप्नदूतम्, मलयदूतम्, रक्तझंकारम्, प्रज्ञानदूतम्, स्मृतिदूतम्, मनसादूतम् तथा तमसादूतम् नामक सात दूतकाव्यों की रचना की है। आधुनिक काल में आध्यात्मिक एवं शान्त रस प्रधान दूतकाव्यों का भी प्रणयन किया गया। गोपेन्द्रनाथ गोस्वामी प्रणीत पादपदूतम्[35] में चैतन्य महाप्रभु की पत्नी विष्णुप्रिया घर में लगे एक नीम के वृक्ष को दूत बनाकर चैतन्य महाप्रभु के पास भेजती है। यह काव्य कृष्णभक्ति से ओत–प्रोत है। कुटुम्ब शास्त्री विरचित इन्दुसन्देश[36] में अनेक दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया है। ऋग्वेद का 'एकं सद्विप्रा बहुध वदन्ति' कवि के शब्दों में द्रष्टव्य है–

ब्रह्म विष्णु शिव इति त्रिधा भिन्नमूर्तिस्त्वमेकः
शंभो दैवश्चिदमलवपुः नास्ति किंचित्वदन्यत्।

यस्मिन्सर्वं त्वयि जगदिदं सच्चिदानन्दरूपम्
ब्रह्मण्येव स्फुरति गगने नीलिमेवभ्रमेण।।[37]

रुद्रदेव त्रिपाठी विरचित पत्रदूतम्[38] के अनुसार कवि मुम्बई में रहता है। एक दिन आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की व्यास पूर्णिमा को चौपाटी में घूमते हुए कवि को गुरुपूजन की इच्छा बलवती हो जाती है। वे मन्दसौर में स्थित पुज्यगुरु स्वामी कृष्णानन्द तीर्थ के चरणों में पत्र के माध्यम से प्रणतिपूर्वक समय पर उपस्थित न होने की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए क्षमायाचना और आशीर्वाद की कामना करते हैं। साथ ही गुरुमहत्ता को भी प्रदर्शित किया गया है। विष्णुदास विरचित मनोदूतम्[39] में शान्त रस को काव्य में प्रमुख रूप से अपनाया गया है। काव्य में कवि मन को दूत बनाकर भगवान के चरणों में अपना सन्देश भेजते हैं। कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण के ऐहिक जीवन से सम्बन्धित स्थानों का भी मनोहर वर्णन किया है। कवि ने इस काव्य के माध्यम से मनुष्य मात्र के लिए एक महत्त्वपूर्ण सन्देश दिया है कि शम, दम, दया, क्षमा इत्यादि गुणों का विकास कर तथा मात्सर्य, दम्भ, मद, मान, विमोह, लोभ, विस्मय इत्यादि भावों को त्याग कर मन को ईश्वर के चरणों में लगाना चाहिए।

इस दिशा में जैन कवियों का योगदान भी प्रशंसनीय है। मुनि धुरन्धर विजय प्रणीत मयूरदूतम्[40] में मयूर को दूत बनाकर कवि ने अपने गुरुदेव के पास भेजा है तथा अपनी गुरुभक्ति, चातुर्मास, पर्युषण पर्व और उस काल में हुए जिनभक्ति तथा धर्मिक कार्यकलापों का वर्णन किया है। मूलचन्द शास्त्री विरचित वचनदूतम्[41] में कवि ने मेघदूत के अन्तिम पाद को लेकर काव्य की रचना की है। जैनधर्म के 22वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के जीवनवृत्त को इस काव्य की कथावस्तु का आधार बनाया गया है।

अतः स्पष्ट है कि आधुनिक युग में भी संस्कृत दूतकाव्यों की रचना निर्बाध गति से हो रही है। महाकवि कालिदास ने जो नवीन काव्य-सरणी प्रारम्भ की थी, वह आज भी अनवरत रूप से गतिशील है। कवियों ने मेघदूत की कथा को परिवर्धित कर यह स्पष्ट कर दिया है कि आधुनिक कवियों के पास भी नवनवोन्मेशशालिनी प्रज्ञा है। इन कवियों ने महाकवि के समान ही मन्दाक्रान्ता छन्द, काव्य का दो भागों में विभाजन, मार्ग-वर्णन में प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ पर्वत, नदियों तथा नगरों आदि का सांस्कृतिक वर्णन प्रस्तुत किया है। आधुनिक कवियों ने स्वयं को शृङ्गारिक कथावस्तु तक ही सीमित नहीं रखा है, अपितु उन्होंने कथानक में आध्यात्मिकता, समसामयिकता, राष्ट्रियता, यात्रावृत्त आदि को भी स्थान दिया है। कवियों ने व्यङ्ग्य विधा का भी आश्रय लेकर अनेक सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया है।

पीएच-डी., संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. संस्कृत के सन्देशकाव्य, लेखक - डॉ. रामकुमार आचार्य, अजमेर, 1963, पृ. सं. 134-140.
2. जैनमेघदूतम् भूमिका भाग, व्या. रविशंकर मिश्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1989. पृ.सं. 40-41
3. मेघदूत एवं परवर्ती दूतकाव्य, पृ. 231
4. जयपुर से 1954 में प्रकाशित।
5. मन्दिकल रामशास्त्री प्रतिष्ठान, बैंगलोर से 2000 में प्रकाशित।
6. देववाणी परिषद् दिल्ली से 1989 में प्रकाशित।
7. दूतप्रतिवचनम् 5
8. वही, पृ. 9
9. मेघदूत एवं परवर्ती दूतकाव्य, लेखक - डॉ. नरेन्द्र देव, सम्पादक - डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी, साहित्य संवर्धन संस्थान, मन्दसौर, 1990, पृ. 270-272
10. वही, पृ. 276-277
11. कर्गजशरदूतकाव्य 12
12. वही, पृ. 8
13. पुस्तक भवन रांची से 1963 में प्रकाशित।
14. मित्रदूतम् 33
15. श्याम प्रकाशन, जैतीपुर (नालन्दा), बिहार से 1974 में प्रकाशित।
16. मयूखदूतम्, पृ. 8
17. केरलीयसंस्कृतसन्देशकाव्यसमीक्षा - डॉ. एन्.पी.उण्णी, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 1996, पृ. 156-162.
18. मेघदूत एवं परवर्ती दूतकाव्य, पृ. 257-258
19. वही, पृ. 261
20. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान से प्रकाशित।

21. भारतसन्देश 2.50
22. Post Independence Dootkavya, Dr. S. Rangnath, Span Print, Basavanagudi, Bangalore, 1994, page 52-63
23. जैनमेघदूतम् भूमिका भाग, पृ.सं. 43.
24. वही, पृ.सं. 58.
25. मुदगरदूतम् 1.11
26. मेघदूत एवं परवर्ती दूतकाव्य, पृ. 252-255
27. हंसदूत, पृ. 53
28. वही, पृ. 63
29. जैनमेघदूत, भूमिका भाग, पृ. 50.
30. प्रज्ञा प्रकाशन, अलीगढ़ से 1977 में प्रकाशित।
31. गन्धदूतम् 2.41
32. अम्बिका पब्लिकेशन्स वर्क्स उन्हासनगर से प्रकाशित।
33. श्रीनिवास पावर प्रेस एवं हिन्दी प्रेस गुन्टूर से प्रकाशित।
34. सुबोध ग्रन्थमाला, राँची से प्रकाशित।
35. मेघदूत एवं परवर्ती दूतकाव्य, पृ.सं. 226
36. Post Independence Dootkavyas, page- 64-68
37. इन्दुसन्देश 7
38. मेघदूत एवं परवर्ती दूतकाव्य, पृ. 265-268
39. संस्कृत के सन्देश काव्य, पृ. 353-361
40. मेघदूत एवं परवर्ती दूतकाव्य, पृ. 313-314
41. साहित्य शोध विभाग श्रीमहावीर जी से प्रकाशित।

प्रो. लालाशंकर गयावाल

सत्यव्रत शास्त्री प्रणीत बोधि सत्त्वचरित महाकाव्य में अष्टाङ्गमार्ग की अभिव्यञ्जना

पाली जातकों तथा कुछ संस्कृत के जातकों में उद्धृत बोधिसत्व की कथाओं को आधार बनाकर सत्यव्रत शास्त्री ने बोधिसत्त्वचरित महाकाव्य की रचना की है। बोधि सत्त्व परिपूर्ण बोध की प्राप्ति से पूर्व की अवस्था में स्थित बुद्ध का रूप अथवा सत्व है। 'बोधि' का अर्थ है – बुद्धत्व अर्थात् ज्ञान तथा 'सत्व' का अर्थ है – प्राणी। पूरा अर्थ होता है – बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाला प्राणी। बोधिसत्त्व के अवदानों की विविध कथा को महाकाव्य में 14 सर्गों के द्वारा कवि ने विविध रूपों जैसे राजा, व्यापारी, भिक्षुक, कृषक तथा शिक्षक आदि के रूप में चित्रित किया है।

सत्यव्रत शास्त्री द्वारा रचित बोधिसत्त्वचरित महाकाव्य में बौद्धधर्म के विश्वास, निष्ठा एवं सिद्धान्तों का वर्णन है। इसमें दु:खनिरोध के लिए बुद्ध के अष्टाङ्गमार्ग का अर्थात् सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक् सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् अजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि का वर्णन प्राप्त होता है। ये अष्टाङ्गमार्ग काव्य में अनेकत्र विविध पात्रों के चरितांकन द्वारा अभिव्यंजित किए गए हैं और बहुधा कण्ठत: भी उपात्त हैं, जिन्हें अर्थान्तरन्यास और सूक्तियों के माध्यम से अथवा पात्रों के वक्तव्यों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस आठ मार्गों पर चलने से मनुष्य की अविद्या का नाश होकर उसे मुक्ति तथा निर्वाण की प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

बोधिसत्त्वचरित महाकाव्य के प्रथम सर्ग में 'सम्यक् दृष्टि' का ही परिणाम है कि व्यापारी बोधिसत्त्व दुष्ट पिशाच के चंगुल में नहीं फंसता है तथा अपनी बुद्धिमत्ता, ईमानदारी और परिश्रम से व्यापार में सफलता प्राप्त करता है, अर्थात् दु:ख का कारण जानकर उपाय से बच जाता है। यथोक्तम् –

व्यापारिणोरेतवतोर्विदेशं द्वयो: कथावस्त्विदमस्ति दृष्यम्।
एकस्तु लाभं लभते महान्तं स्वार्थादथान्यष्च्यवते नितान्तम्।।[1]

अपि च

य: सुबुद्धया कुरूते स्वकार्यं विचारवानस्ति चरित्रवांश्च।
धीरस्य लब्धानुभवस्य तस्य नतस्य हानिर्न कदाचिदस्ति।।[2]

द्वितीय सर्ग में उदात्त गुणों से मण्डित काशीनरेश के रूप में बोधिसत्त्व अपनी अहिंसा की भावना के कारण ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। कोसलनरेश तथा काशीनरेश में तुलना होने पर दोनों समान सिद्ध होते हैं, पर बोधिसत्त्व में एक गुण अधिक पाया जाता है, वह यह कि वह अपकार करने वाले के प्रति भी उदार और दयालु हैं –

विना सदाचारमहं विलोके न जीवनं किंचन जीवलोके।
सदाऽपकारिष्वपि चोपकाराद् द्रवन्मना योस्ति महान् स एव।।
तथा महत्त्वं न धानस्य विद्यते वृथार्जनात् तेन मनश्च खिद्यते।
यथेह शीलं सदलंकरोत्यलं महोज्ज्वलं मानवजन्म निर्मलम्।।[3]

तृतीय तथा चतुर्थ सर्ग में अहिंसा, दया और सम्यक् संकल्प दिखाई देता है। बोधिसत्त्व काशीनरेश शीलवान् को बहुत समझाने पर भी कौशलनरेश का प्रतीकार नहीं करता है। यहाँ तक कि उसे बन्दी बनाकर श्मशान ले जाने की आज्ञा देता है, तथापि वह कुछ नहीं कहता है। चतुर्थ सर्ग में कोसलनरेश शीलवान् की उदारता, सहनशीलता और

दयालुता से बाद में बहुत प्रभावित होता है और क्षमा माँगते हुए कहता है –

इत्यावेद्य तदैवासौ कोषलेशः कृतांजलिः।
काशीराज्यं समर्प्यैनं विनयावनतोऽब्रवीत्।
अद्य प्रभृति हे राजन्! भवद्राज्यस्य सेवकः।
अहमेव भविष्यामि तस्कराणां निरीक्षकः।।[4]

शीलवान् उसे क्षमा कर देता है। इसी प्रसंग में सम्यक् वाक् की भी पुष्टि होती है, जब झूठ बोलने वाले दुष्ट मन्त्री को कौशलनरेश दण्डित करते हुए कहता है –

यदा शीलवतावेदि मन्त्रिणस्तस्य दुष्कृतम्।
तदाहूय स एकान्ते पौनःपुण्येन धिक्कृतः।।
उक्तश्चेदं त्वया मूढ! सचिवानुचितं कृतम्।
कर्मणो गर्हणीयस्य त्वमस्य फलमाप्नुहि।।
स्पष्टं कष्टप्रदो दुष्टस्त्वं न वस्तुमिहार्हसि।
अतः सत्वरमेतस्मान् मम राज्याद् बहिर्भव।।[5]

पंचम सर्ग में तीन अभियुक्तों को छुड़ाने एक स्त्री आती है, जो एक की बहन, एक की माँ तथा एक की पत्नी है। राजा केवल एक को छोड़ने की अनुमति देता है। वह स्त्री भाई को छुड़ाना चाहती है। वह कहती है –

स्त्रियोक्तं पुनर्भर्तृपुत्रः प्रकामं सुखेनाप्तुमर्हा भवन्तीहलोके।
परं भ्रातरः सर्वथा दुर्लभाः स्युरतः सोदरं भ्रातरं कामयेऽहम्।।
ममोत्संगजाः संभवन्त्यंग! पुत्रः पतिश्चापि लभ्यः कुतश्चिद् व्रजन्त्याः।
परं तं न पश्यामि देशं नु यस्मिन् अहं प्राप्नुयां सोदरं भ्रातरं स्वम्।।[6]

भाई के प्रति सद्धारणा रखने वाली बहन के सत्य एवं स्पष्ट भाषण से ही सभी को मुक्ति मिलती है –

सुतभ्रातृभर्तृनतस्त्रीनपि त्वं स्वसम्बन्धिनोऽमून् प्रसन्ना गृहाण।
इति प्रोच्य कारागृहात् तान् मनुष्यांस् तदोन्मुच्य तामार्पिपद् भूमिपालः।।[7]

षष्ठ सर्ग में सम्यक् कर्म तथा व्यायाम की पुष्टि युवक भिक्षु की कामपरता से विरक्ति के लिए उपदेश के माध्यम से होती है। अरिष्टपुरनिवासी शिविरूप बोधिसत्व की कथा सुनाकर भिक्षु को सांसारिक विषयवासनाओं से ऊपर उठने की शिक्षा देता है –

कामस्य वेगं बलवन्निगृह्य त्वं नित्यसत्त्वस्थ इहाश्रमे स्याः।
वशीकृते चेतसि सर्वकालं शान्तः स्वयं मोक्ष्यसि मोहजालम्।।[8]

सप्तम, अष्टम तथा नवम सर्ग में शिवि की कामवासना और उस पर नियन्त्रण प्राप्त करने में उसका साफल्य सम्यक् कर्म तथा सम्यक् स्मृति रूप मार्ग का पोषक है। इन सर्गों में अरिष्टपुर निवासी शिवि के रूप में बोधिसत्व का वर्णन किया गया है। सप्तम सर्ग में उन्मदन्ती की कथा दी गई है। उन्मदन्ती अनुपम लावण्यसम्पन्न बाला है। उसका पिता उसे महाराज शिवि को विवाह में देना चाहता है। शिवि उसके गुणपरीक्षण के लिए मंत्रियों को भेजता है जो कि उन्मदन्ती के रूपमाधुरी पर मुग्ध होकर कामासक्त हो उठते हैं। इसका अनुमान उन्मदन्ती कर लेती है और उन्हें अपने परीक्षण का पात्र नहीं मानती। इस बात पर कुपित मन्त्री शिवि के सद्‌गुणों के स्थान पर असत्य भाषण कर दुर्गुणों का वर्णन करते हैं। अतः उनकी सलाह पर उसे अस्वीकार कर देता है।

सेनापतिः

राजन्नुपादत्स्व ममोन्मदन्तीं रमस्व सार्धं च तया प्रकामम्।
यथेष्टमिष्टां कुरु कामतृप्तिं
तद्वासनावासितमानसस्त्वम्।।
विहाय मां त्वां च न कश्चिदन्यो वार्तामिमां ज्ञास्यति भूतलेऽस्मिन्।
प्रिया मया तुभ्यमदायि भार्या त्वयाप्युपादायि च सा मुदेति।।[9]

राजा :

सेनापते! भक्तिरनुत्तमा ते दित्सुः स्वभार्याममसि मह्यमार्याम्।
परन्तु किंचिद् वचनीयमत्र पश्याम्यहं तत्कथयामि मित्र!।।
पापं प्रकुर्वन् मनुते मनुष्यो मद्‌दुष्कृतं वेद न कश्चिदन्यः।
किन्तु स्थिता देवगणास्तदीयं जानन्ति सर्वं ह्यशुभं शुभं वा।।[10]

अन्ततः उसका विवाह राजा के सेनापति के साथ हो जाता है। सेनापति को दिये गये उत्तर में भी धर्मनिष्ठा अभिव्यक्त हुई है, जैसे अष्टम सर्ग में –

नृपतिरस्मि सदा जनतासुखान्यभिलषामि रमेऽपि च

तत्सुखे।

कथमधर्ममिमं तनुयां सखे! न हि तथा पतितो भवितास्म्यहम्॥[11]

नवम सर्ग में जैसे –

पिताऽस्मि नेताऽस्मि च शिक्षकोऽहं भजे स्वधर्मं हि परम्परीणम्।

भृशं विविच्योच्चकुलं स्वकीयं न जातु कामस्य वशंगतः स्याम्॥[12]

दशम सर्ग तथा एकादश सर्ग में राजा को बोधिसत्त्व ने सम्यक् वाक् का उपदेश दिया जो शास्ता महात्मा बुद्ध कोशलनरेश और उनकी पत्नी के पारस्परिक कलह का निपटारा करने के लिए उनके पूर्वजन्म की कथा सुनाता है। जबकि वे किन्नर के रूप में अनन्य प्रेमी थे। इस उपदेश से राजा-रानी महात्मा बुद्ध की शरण में आ जाते हैं–

महात्मन् बुद्धोऽसि त्वमिह शरणं मेऽति बलवद्।

दुरच्छेदं दुःखं सपदि समुद्रच्छेदि भवता॥[13]

द्वादश सर्ग में सम्यक् आजीव से युक्त कृषक पुत्र की मृत्यु के बाद भी स्वकार्य में रत रहता है। ब्राह्मण कृषक के रूप में उत्पन्न बोधिसत्व का चरित्र अनासक्ति का चरम निदर्शन प्रस्तुत करता है। उनका चरित्र यहाँ अतिमानवीय दिखाई देता है। वे अपने एक मात्र पुत्र की मृत्यु पर भी अपने कृषिकार्य में लगे रहते हैं और मृत्यु को एक सामान्य घटना मानते हैं। इतने दृढ़ त्यागी और अनासक्त हैं कि पुत्र की लाश के पास बैठकर ही पहले भोजन करते हैं। तदनन्तर हर्ष के साथ सपरिवार उसका दाहसंस्कार करते हैं–

पुत्रे मृतस्तरुतले निहितस्तदासीद् यत्र द्विजः समुपविष्य स भोज्यमाषीत्।

सर्वैस्ततः समुदितैर्मुदितैश्च तस्य काष्ठान्युपाधिषत तत्र तनौ मृतस्य॥[14]

उनकी इस अनासक्ति पर इन्द्र भी चकित हो जाते हैं। चतुर्दश सर्ग में आचार्य बोधिसत्त्व विविध शास्त्रों में पारंगत तक्षशिला के आचार्य के रूप में आता है। उसके मेधावि शिष्यों में एक पापक है जो अपना पापसूचक नाम बदलना चाहता है। आचार्य के उपदेश से वह स्वतः अनुभव करने लगता है कि कर्म का ही महत्त्व है नाम का नहीं। यथा–

नाम्नो नास्ति महत्त्वमत्र भुवने कर्मैव मुख्यं मतम्।

किं नाम्ना यदि सद्गुणास्त्वयि परां शोभां स्फुटं बिभ्रति॥

संसिद्धिः खलु कर्मणैव कथिता स्यान्नामधेयेन किं।

तद्दैवादशुभं शुभं भवतु वा किं तेन मे हीयते॥[15]

इस प्रकार बोधिसत्त्वात्मक पात्रों में अष्टांग मार्ग की विवेचना में उदात्त मानवीय गुणों की शोभन प्रतिष्ठा हुई है। यहाँ धीरोदात्त नायक के भी गुण मिलते हैं तथा धर्मनिष्ठ, रूपवती, दरिद्र, कृतघ्न मित्र आदि पात्रों द्वारा अष्टांग मार्ग के विविध रूपों का निदर्शन देखने को मिलता है। इस प्रकार पूरी कथावस्तु में बौद्ध धर्म के अष्टांग मार्ग अनुस्यूत हैं।

आचार्य

रामेश्वरी देवी राजकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, भरतपुर (राजस्थान)

सन्दर्भ सूची

1. बोधिसत्त्वचरितम् 1.101
2. वही 1.103
3. वही 2.66-67
4. वही 4.412-413
5. वही 5.28-30
6. वही 5.20-22
7. वही 5.26
8. वही 6.44
9. वही 7.2-3
10. वही 7.4-5
11. वही 8.110
12. वही 9.45
13. वही 11.18
14. वही 12.36
15. वही 14.6, 34

शोध-पत्र

डॉ. आशा सिंह रावत

आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में काव्यहेतु-विवेचन

भारतीय दर्शन और साहित्य में कारण और कार्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। संसार में कोई भी कार्य कारण के बिना सम्पन्न नहीं होता है। अत: काव्यरूप कार्य भी कारण की अपेक्षा रखता है। वस्तुत: कविकृति काव्य के भी कारण हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र में प्राचीन काल से ही इस विषय पर विचार किया जाता रहा है। कतिपय आचार्य शक्ति या प्रतिभा को, कतिपय आचार्य शक्ति और निपुणता (व्युत्पत्ति) को और कतिपय आचार्य शक्ति, निपुणता और प्रवृत्ति (अभ्यास) को काव्यकारण या साधन या हेतु के रूप में स्वीकार करते हैं। कुछ आचार्य प्रतिभा को काव्य का साक्षात् कारण तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य के प्रति परम्परया कारण मानते हैं। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अधिकांश संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्य प्रतिभा (शक्ति), व्युत्पत्ति (निपुणता) और अभ्यास (प्रवृत्ति) इन तीनों को सम्मिलित रूप से काव्य का हेतु मानते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। भट्टतौत आदि आचार्यों के अनुसार 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' है। उन्होंने ऐसा कहकर कवि में विद्यमान नई-नई स्फुरणाओं से युक्त विशेष प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है। कुछ आचार्य इसे 'शक्ति' भी कहते हैं। विभिन्न शास्त्रों, कलाओं का सम्यक् अध्ययन और अन्य कवियों की रचना आदि का अध्ययन करके निपुणता प्राप्त करने को व्युत्पत्ति कहा है। जन्मजात प्रतिभा व काव्य एवं शास्त्र के ज्ञान से अर्जित व्युत्पत्ति से युक्त कवि के द्वारा काव्यरचना में बार-बार प्रवृत्ति या काव्यरचना किया जाना अभ्यास है।

संक्षेप में प्राचीन आचार्यों ने प्रतिभा को काव्यहेतु के सन्दर्भ में निम्नलिखित कथन हैं –

आचार्य भामह -

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत:।[1]

आचार्य दण्डी –

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या: कारणं काव्यसम्पद:।।[2]

अग्निपुराणकार –

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्व दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।[3]

आचार्य वामन –

कवित्वबीजं प्रतिभानम्।[4]

आचार्य रुद्रट –

तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणकरणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास:।।[5]

आचार्य आनन्दवर्धन –

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु नि:ष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यममिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।[6]

आचार्य अभिनवगुप्त –

प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्या विशेषो रसावेशवैशद्य सौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्।[7] **शक्ति: प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूत नोल्लेखशालित्वम्।**[8]

आचार्य राजशेखर –

समाधिरान्तर: प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यास:। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयत:। सा केवलं काव्ये हेतु इति यायावरीय:।

शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी।[9]

आचार्य मम्मट –

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥[10]

आचार्य हेमचन्द्र –

प्रतिभास्य हेतुः। प्रतिभा नवनोन्मेषशालिनी प्रज्ञा। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कारकारकाविति।[11]

आचार्य जयदेव –

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥[12]

वाग्भट द्वितीय –

व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः।[13]

पण्डितराज जगन्नाथ –

काव्यस्य कारणं कविगता केवला प्रतिभा।
सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।[14]

परन्तु अन्य परवर्ती आचार्य शब्दान्तर और प्रकारान्तर से शक्ति, निपुणता और अभ्यास को ही काव्यसाधन स्वीकार करते हैं। प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्रियों के काव्यहेतुओं का अनुसरण करते हुए भी आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने भी नूतन दृष्टि से सर्वथा नवीन विचार व्यक्त किये हैं–

छज्जूराम शास्त्री काव्य के प्रति व्युत्पत्ति, शक्ति और अभ्यास की तुल्य कारणता स्वीकार करते हैं–

तस्य काव्यस्य निर्माणे समुल्लासे प्रचारणे।
व्युत्पत्तिः शक्तिरभ्यासः त्रयं हेतुर्न हेतवः॥[15]

वे पण्डितराजसम्मत प्रतिभामात्र की काव्यकारणता का भी 'साहित्यबिन्दु' में खण्डन करते हैं और शक्ति आदि तीनों की मिलकर काव्यकारणता मानते हैं।

आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा ने काव्यहेतु–निर्धारण में मौलिकता प्रकट करते हुए शक्ति एवं श्रम को काव्यहेतु स्वीकार किया है। शक्ति व श्रम में शक्ति को प्रधान मानते हुए श्रम की उपयोगिता कम स्वीकार नहीं की है –

शक्तिः श्रमश्च काव्यस्य कारणमिति मे मतिः।
शक्तिरत्र प्रधाना स्यात् श्रमस्याप्युपयोगिता।[16]

वे कहते हैं कि कवि में स्थित यह शक्ति सामान्य नहीं, अपितु यह विशिष्ट शक्ति है, जिससे कवि काव्य का निर्माण करता है। यह प्रतिभा का पर्याय है। सामान्य शक्ति की तो सर्वत्र स्थिति होती है परन्तु यह विशेष शक्ति है जो कवि में ही होती है। प्रत्येक व्यक्ति में इसकी स्थिति नहीं होती। शक्ति को उन्होंने श्रम की अपेक्षा प्रधान माना है।[17] शक्ति श्रम की दिशा निर्धारिका है। साथ ही श्रम के परिणाम में भी इसका योग है। इतना होने पर भी शक्ति का श्रम के माध्यम से ही परिस्फुरण होता है, अतः श्रम उपेक्षणीय नहीं है।[18] निरन्तर श्रम से ही शक्ति की अंशतः प्राप्ति सम्भव है। आचार्य शर्मा ने प्रतिभा के स्थान पर शक्ति पद का और अभ्यास के स्थान पर श्रम पद का प्रयोग किया है जो अधिक व्यापक एवं सार्थक है। वस्तुतः शर्मा ने काव्यनिर्माण में व्युत्पत्ति का उल्लेख नहीं करते हुए शक्ति और श्रम इन दोनों को काव्यहेतु माना है। श्रम शब्द इनका नया है, जो अन्य आचार्यों ने कहीं नहीं दिया है। श्रम का तात्पर्य है–काव्य की रचना के लिए किया जाने वाला सर्वतोमुखी प्रयत्न। संभवतः वे श्रम में अभ्यास और निपुणता (व्युत्पत्ति) का अन्तर्भाव मानते हैं। इस प्रकार आचार्य शर्मा ने प्राचीन परम्परा का निर्वाह करते हुए भी अपनी मौलिकता व्यक्त की है।

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी काव्य के प्रति प्रतिभा की कारणता ही स्वीकारते हैं। वे प्रतिभा की तुलना मेघस्थ विद्युत् से करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार मेघ के अन्दर विद्युत् चमकती है, उसी प्रकार बुद्धि के अन्दर कभी कभी अदृष्ट एवं अपूर्व कल्पित अर्थ का दर्शन होता है। इसी अर्थप्रतिभासन को प्रतिभा कहते हैं–

कारणं प्रतिभा काव्ये सा चार्थप्रतिभासनम्।
प्रज्ञा कादम्बिनीगर्भे विद्युद्द्योतसोदरम्॥[19]

यह प्रतिभा अर्थ का प्रतिभासन कराने वाला बुद्धिगत एक गुण विशेष है – **अर्थप्रतिभासयिता बुद्धिगतो गुणविशेषः प्रतिभा।**[20] यह दो प्रकार की होती है– स्वयंभू एवं सहेतु। आदि कवि में स्वयम्भू प्रतिभा है और कालिदासादि अन्य कवियों में सहेतु। आचार्य द्विवेदी सहेतु प्रतिभा के भी तीन कारण मानते हैं–अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास। प्रतिभा का हेतु तो वस्तुतः केवल सत्वगुण का उद्रेक ही है। काव्यनिर्माण का अभ्यास भी ज्ञानरूप व्युत्पत्ति ही है अथवा काव्यरचना में पौनःपुण्येन प्रवृत्ति को अभ्यास कहते हैं। यह प्रवृत्ति व्युत्पत्ति के प्रति और व्युत्पत्ति प्रतिभा के प्रति कारण है।[21] वस्तुतः आचार्य द्विवेदी शक्ति के दो भेद स्वीकार करते हैं– जन्मान्तरीय और महापुरुषादि के प्रसाद से उत्पन्न। इसी

प्रकार व्युत्पत्ति भी दो प्रकार की होती है–विविध कोष, कला आदि के ज्ञान से उत्पन्न और काव्यनिर्माण के अभ्यास से उत्पन्न कुशलता स्वरूप। द्विवेदी के अनुसार प्रतिभा ही काव्य का उपादान और निमित्त दोनों कारण है, क्योंकि प्रतिभा के गर्भ में ही काव्य की सत्ता रहती है–

उपादानं निमित्तं च काव्याय प्रतिभैव सा।
द्वितयं गर्भपात्रे यत् तस्यास्तिष्ठति तत् सदा।।[22]

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जागरिता प्रतिभा को काव्यकारण मानते हुए कहते हैं–**जागरिता प्रतिभा तस्य कारणम्।**[23] जागरिता प्रतिभा का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि – **काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिर्जागरणम्। जागरणे च हेतवो भवन्ति – गुरूपदेशः लोकशास्त्राद्य-वेक्षणम्, काव्याभ्यासः, काव्यगोष्ठ्यः, सहृदयानां संगतिः, प्रसंगविशेषो घटनाविशेषो वा।**[24] वे यह भी कहते हैं कि **'कविस्वभाव एव तत्प्रतिभा'।**[25]

आचार्य रहसविहारी द्विवेदी प्रतिभा और निपुणता को काव्य का हेतु मानते हैं–

काव्योपयोगिशब्दार्थोपस्थितिः प्रतिभामयी।
नैपुण्यं लोकशास्त्राणां विधाज्ञानं च कारणम्।।[26]

आचार्य शंकरदेव अवतरे अपने 'अभिनवकाव्यशास्त्रम्' में कवि की त्रित्वान्वयी प्रतिभा को काव्य का हेतु मानते हैं। वे कहते हैं कि शक्ति, निपुणता और अभ्यास–इन तीनों के अविभाज्य योग अर्थात् त्रित्वान्वय से उदित होने वाली प्रतिभा ही काव्यनिर्माण में एक मात्र कारण है, जैसे विधि या ब्रह्मा अनासक्त होकर भी जड़ चेतन प्रकृति में अन्तःप्रविष्ट होता है। उसी प्रकार कवि का प्रतिभारूपी हेतु भी प्रकृति के गर्भ में प्रविष्ट होने में समर्थ होता है अर्थात् जड़चेतन प्रकृति की अन्तर्यात्रा करने वाला होता है–

काव्ये त्रित्वान्वयीहेतुः प्रतिभानामकः कवेः।
प्रकृत्यन्तःप्रवेशार्होऽप्यसक्तस्येव वेधसः।।[27]

आचार्य रमाशंकर तिवारी प्रतिभा को काव्योत्पत्ति का हेतु मानते हैं। उनके अनुसार प्रतिभा ही काव्य की जननी है तथा काव्यसुविज्ञों के द्वारा इसको ही शक्ति कहा गया है। प्रतिभा सौभाग्यशालियों की विशिष्ट मानसिक दशा में अनपेक्षित अथवा अकस्मात् ही काकतालीयन्याय से उद्बुद्ध होती है। यह वैसे ही होता है, जिस प्रकार क्रौंचवध को देखकर वाल्मीकि के मुख से अकस्मात् ही 'मा निषाद–' यह श्लोक निकल पड़ा था, जबकि वस्तुतः इसके विषय में उनकी कोई अपेक्षा नहीं थी। यह प्रतिभा यद्यपि लोक में भिन्न-भिन्न स्वरूपों के द्वारा प्रतिभासित होती है तथा प्रमाता के मानस में नाना प्रकार के अवबोधों को प्रकाशित करती है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वह एक ही है–

प्रतिभा जननी कविकम्मणश्च कथ्यते
सैव शक्तिः काव्यसुविज्ञैः।
उद्बुध्यते सा ह्यनपेक्षितलक्षणेषु विशिष्टायां
वा मनसो दशायाम्।।
सा एकैव पारमार्थिकी स्यात् खलु प्रकाशते
लोके भिन्नशस्तु।[28]

आचार्य अभिराज राजेन्द्र मिश्र काव्यनिर्माण के लिए द्विविध हेतु स्वीकार करते हैं–**काव्यप्रणयनहेतुर्द्विविधोऽ-ङ्गीकरणीयः – अलौकिको लौकिकश्च। तत्रालौकिको हेतुः दैवायत्तः। स हेतुरेव प्रज्ञाप्रतिभाशक्तिप्रभृति-पदवाच्यः।**[29] अलौकिक (दिव्य) काव्य हेतु है – प्रतिभा और लौकिक (मर्त्य) – व्युत्पत्ति और अभ्यास। उन्होंने नवनवोन्मेषवती प्रतिभा को ही काव्य का बीजभूत कारण माना है। उनके अनुसार शक्तिरूपा चिरन्तनी प्रज्ञा ही कवित्व का बीज है। यह प्रज्ञा अमला एवं जन्मजन्मान्तरोपात्त सस्कारों से प्रसूत होती है–

प्रज्ञा बीजं कवित्वस्य शक्तिरूपा चिरन्तनी।
जन्मजन्मान्तरोपात्तसंस्कारप्रसवाऽमला।।[30]

वे कहते हैं कि जिस प्रकार मिट्टी, जल तथा वायु का सद्भाव रहने पर भी पृथ्वी के गर्भ में बिना बीज निक्षिप्त किए अंकुर कभी उग नहीं पाता है, उसी प्रकार अनारत रहकर बार-बार अभ्यास करते रहने पर भी तथा सैंकड़ों शाखाओं वाले अतिविस्तृत शास्त्रों का पाण्डित्य प्राप्त कर लेने पर भी एक प्रज्ञा के बिना कवित्व का बीज अंकुरित नहीं हो पाता–मनीषियों के द्वारा यह सत्य पत्थर पर लिखी हुई रेखा के समान मान लिया जाना चाहिए–

मृत्तिकाजलवायूनां सद्भावोऽपि यथांकुरः।
सत्यमेतदृषद्रेखाकल्पमूह्यतां मनीषिभिः।।[31]

इससे स्पष्ट है कि आचार्य मिश्र प्रतिभा को ही काव्य का बीजभूत कारण मानते हैं तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को उस प्रतिभा के उपकारक संस्कारक के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रतिभा की उपलब्धि के विषय में वे कहते हैं कि

वह देवृकपा से प्राप्त होती है–

प्रतिभाया देवकृपोपनत्वं सिद्धमेव।[32]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 19वीं शताब्दी से परवर्ती काल के काव्यहेतु विचार पर परम्परागत संस्कृत काव्यशास्त्र का बहुत गहरा या अमिट प्रभाव है। इस युग का काव्यहेतु सम्बन्धी विमर्श भी मुख्य रूप से पूर्व परम्परा कथित प्रतिभा (शक्ति), व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि पर ही केन्द्रित है। अधिकांश आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य पूर्व परम्परा से चली आ रही दो सरणियों में विभाजित है। प्रथम सरणि है – शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को समुदित रूप से काव्यहेतु मानने वाले मम्मट आदि आचार्यों की तथा दूसरी सरणि है – केवल प्रतिभा को काव्यहेतु मानने वाले वाग्भट, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों की। छज्जूराम शास्त्री तथा ब्रह्मानन्द शर्मा पहली सरणि के अनुगामी हैं। रेवाप्रसाद द्विवेदी, रमाशंकर तिवारी, राधावल्लभ त्रिपाठी व राजेन्द्र मिश्र दूसरी सरणि के अनुगामी हैं। शंकरदेव अवतरे ने दोनों सरणियों को समन्वित कर दिया है। उन्होंने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सम्मिलित रूप से काव्य के प्रति कारण मानते हुए इस त्रित्वान्वय को 'प्रतिभा' नाम दिया है। काव्य हेतु पर विचार करते समय प्रसंगतः उपस्थित होने वाली काव्यनिर्माण प्रक्रिया की कार्य–कारण शृङ्खला के ढाँचे में, पूर्वपरम्परा में कथित अथवा स्वकल्पित तत्त्वों को नए ढंग से विन्यस्त करने का कार्य भी इस युग के कुछ आचार्यों के द्वारा किया गया है। आचार्य रमाशंकर तिवारी ने वामन के 'अवधान' अथवा राजशेखर की 'समाधि' को लेकर वाग्भट के 'काव्यकारणविचार' से मिला दिया है और इस प्रकार प्रतिभा को काव्य का कारण मानकर 'समाधि' को व्युत्पत्ति और अभ्यास के साथ प्रतिभा को संस्कारों में स्थान दे दिया है। रेवा प्रसाद द्विवेदी ने अभ्यास और व्युत्पत्ति की संकरसंसृष्टि को प्रतिभा का कारण मानने के स्थान पर 'अभ्यास' को व्युत्पत्ति का कारण माना है। इसके अतिरिक्त 'सत्त्वोद्रेक' को प्रतिभा के निमित्त के रूप में उपस्थापित करके आचार्य द्विवेदी ने एक नये तत्त्व को काव्यनिर्माण प्रक्रिया के एक नूतन मानचित्र के साथ प्रस्तुत किया है। आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र में विशिष्ट आशय के साथ प्रयुक्त कुछ नये पारिभाषिक शब्द भी सामने आये हैं जो उल्लेखनीय हैं, जिनमें आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा ने 'श्रम' को प्रतिभा के साथ काव्यकारण के रूप में उल्लिखित किया है। इसी प्रकार राधावल्लभ त्रिपाठी का काव्यहेतु 'जागरिता प्रतिभा'।

काव्यहेतु–विमर्श के सम्बन्ध में पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विचारों का प्रभाव, अंगीकरण और उनकी भारतीय काव्यशास्त्रीय विचारों से तुलना की प्रवृत्ति भी हमें इस युग के संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों में दिखाई देती है, जिनमें आचार्य शंकरदेव अवतरे और आचार्य रमाशंकर तिवारी आदि आचार्य प्रमुखतः उल्लेखनीय हैं। अन्त में हमें उपर्युक्त काव्यहेतु परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि आचार्य दण्डी ने एक ही कारिका में काव्यहेतु को सरल शब्दावली में निबद्ध कर परवर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। वस्तुतः दण्डी ही वह प्राचीनतम आचार्य है, तत्परवर्ती समस्त काव्यशास्त्रीय परम्परा तदुक्त काव्यहेतुओं के चारों ओर घूमती रहती है। आचार्य दण्डी के द्वारा कहे गए काव्यहेतुओं का ही आचार्य मम्मट ने परिष्कार किया। इन दोनों आचार्यों का ही तत्परवर्ती आचार्यों पर पूर्ण प्रभाव भी परिलक्षित होता है। आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने परम्परा का अनुसरण भी किया है, परन्तु अपनी मौलिक दृष्टि अवरुद्ध या बन्द भी नहीं होने दी है। प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के सिद्धान्तों का नवीन रूप में व्याख्यान भी किया है। इस प्रकार पूर्ववर्ती मम्मट आदि आचार्यों के काव्यहेतुओं से बिना पूर्वाग्रह के असहमति व्यक्त करते हुए इन आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक, मौलिक और नवीन विचार प्रस्तुत किये हैं, जो सर्वथा स्तुत्य एवं ग्राह्य हैं।

सहायक आचार्या (संस्कृत),
शासकीय के.आर.जी.पी.जी. स्वशासी महाविद्यालय,
ग्वालियर (म.प्र.)

सन्दर्भ सूची

1. काव्यालंकार, 1/5
2. काव्यादर्श, 1/103
3. अग्निपुराण, 337/3–4

4. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, सूत्र, 1/2/12
5. काव्यालंकार, 1/14
6. ध्वन्यालोक, 1/6
7. ध्वन्यालोकलोचनटीका, प्रथम उद्योत
8. वही
9. काव्यमीमांसा, नवम अध्याय, पृ. 27
10. काव्यप्रकाश, 1/3
11. काव्यानुशासनम्, पृ. 4
12. चन्द्रालोक, 1/16
13. वाग्भट्टानुशासनम्, पृ. 2
14. रसगंगाधर, पृ. 46–48
15. साहित्यबिन्दु, पृ. 12
16. काव्यसत्यालोक, 5/68
17. वही, पृ. 75
18. वही, पृ. 75
19. काव्यालंकारकारिका, पृ. 1
20. वही, पृ. 15
21. वही, पृ. 20
22. वही, पृ. 22
23. अभिनवकाव्यालंकारसूत्रम्, 1/3/1
24. वही, वृत्ति भाग
25. वही, वृत्ति भाग
26. नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा, 38/1, पृ. 49
27. अभिनवकाव्यशास्त्रम्, कारिका–63, पृ. 48
28. काव्यतत्त्वविवेकः, कारिका 3, 4, 5, पृ. 118–19 वृत्ति भाग
29. अभिराजयशोभूषणम्, प्रथम उन्मेष, वृत्तिभाग, पृ. 35
30. वही, प्रथमोन्मेष, का. 28
31. वही, प्रथमोन्मेष, का. 31
32. वही, प्रथम उन्मेष, वृत्ति भाग का अन्तिम अंश

शोध-पत्र

डॉ. मधुबाला शर्मा

संस्कृतसाहित्ये समाख्याता राजस्थानीयसंस्कृतिः

कस्मिंश्चिदपि देशविशेषे सम्यक्तया समाचरितं क्रियाकलापं संस्कृतिसंज्ञया सम्बोध्यते। अनया दृष्ट्या लोके प्रदेशविशेषे वा प्रसिद्धाः गीतनृत्यपर्वोत्सव-परिधानभोजनमित्यादयः सर्वे पदार्थाः तस्य प्रदेशस्य संस्कृतिश्रेण्यां समायोज्यते। भरतमुनिना निर्दिष्टं लोकस्य शुद्धस्वाभाविकमनुकरणमेव नाट्यमिति। अत्र लोकजीवनस्य तात्कालीनसामाजिकसांस्कृतिकचित्रणमभीष्टम्। यथोच्यते -

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तन्नाट्यमिति संज्ञितम्।[1]

संस्कृतसाहित्यस्य सम्पूर्णकाव्यविधासु लोकजीवनं प्रकाशितम्। विबुधैः स्वकाव्येषु राजस्थानीयसंस्कृतिरपि सुष्ठुरूपेण समाख्याता। क्रमेऽस्मिन् भट्टमथुरानाथशास्त्रि-शोभालालशास्त्रि-मोहनलालशर्मपाण्डेयः-महावीरप्रसादसारस्वत-प्रभृतयः राजस्थानीयसंस्कृतसाहित्यकारास्सन्ति। ये स्वकाव्येषु यथास्थानं राजस्थानीयसंस्कृत्याश्चारु चित्रणं कृतवन्तः। एतदतिरिच्य इतरप्रदेशीयाः विद्वानसोऽपि राजस्थानीयसंस्कृतिं प्रति समादृष्टास्तेषु उत्तराखण्डवास्तव्यो राष्ट्रपतिसम्मानित-जगदीशप्रसादसेमवालः समादरणीयो वर्तते। सेमवालवर्याः साहित्यश्री-विद्याभूषण-कालिदाससम्मान-विद्वत्भूषणादिविरुदैरलंकृताः। भवतां 'गुरुनानकदेवचरितं' महाकाव्यं तथा च वसन्तविलासः-मेघविलासः-इन्दुविलासः-जयपुरविलास इत्यादयः शतककाव्यानि रसिकैरास्वादनीयानि सन्ति। जयपुरविलासकाव्ये प्रमुखतया जयपुरस्य रुचिरं वर्णनं वर्तते। अस्यामेव श्रृंखलायां राजस्थानीयसंस्कृतिरपि दृष्टिगोचरा भवति।

भारतस्य नैकप्रदेशेषु राजस्थानस्य विशिष्टं स्थानमस्ति। अस्य गरिमा लोकवन्दनीयो विद्यते। प्रदेशस्यास्य विभिन्नक्षेत्राणि तेषां स्थानीयनाम्ना अभिज्ञायते। 'नवरत्न' उपनामख्यातेन गिरिधरशर्मणा राजस्थानस्य विविधक्षेत्राणां वर्णनमित्थं कृतम्-

मारवाड़मेवाड़भूषितम् हाड़ौतीढूंढाडशोभितम्,
मालवभूब्रजमहीमिश्रितम् झालावाड़विहितसन्धानम्।
वन्दे नित्यं राजस्थानम्।।

जयपुरढुंढारक्षेत्रं, मेवातगोत्रालवर इत्यनेन भरतपुर-अलवरादि मेवातक्षेत्रं, चित्तौडउदयपुरप्रभृतयःमेवाडक्षेत्रं, बीकानेरजोधपुर-मित्यादयः मारवाड़क्षेत्रमित्युच्यते।

राजस्थानम् अतीव सुरम्यप्रदेशोस्ति। विद्वत्ता-वीरता-सुन्दरतेति त्रिषु क्षेत्रेष्वेव राजस्थानस्यातुलनीयं स्थानमस्ति। राजस्थानस्य जयपुरमपराकाशीरूपेण प्रथितम्। अत्र भट्टमथुरानाथशास्त्रि-गिरिधरशर्मचतुर्वेदि-मधुसूदनओझा-राष्ट्रवेदनिर्मातृनवलकिशोरकाङ्कर-मोहनलालशर्मपाण्डेय-कलानाथशास्त्रिप्रभृतयः बहवो विद्वांसोऽभवन्। येषां संस्कृत-संस्कृतिसंरक्षणे महद्योगदानं दृश्यते। जयपुरस्याध्ययनाध्यपन-परम्परां जगदीशसेमवालोऽतीव सम्यक्तया प्रतिपादितवान् तद्यथा -

क्वचिच्च वेदाध्ययनं गुरूणां विद्याभ्यसनं वटूनाम्।
नाद्यापि लुप्तं जयपत्तनस्य शालासु शालासु विधीयमानम्।।[2]

एवमेव विशेषतया राजस्थानस्य मेवाड़भूमिः वीरता रमणीयता च उभयोः क्षेत्रे अनुपमा वर्तते। राष्ट्रपतिसम्मानितेन पं.मोहनलालशर्मपाण्डेयेन राजस्थानसुषमा इत्थमुल्लिखिता -

विद्वद्वृन्दधरा सुरालयवरा सौभाग्यसम्पत्करा।
मृत्स्नाकूटधरा जलाशयभरा कुल्याभिषिक्तस्थिरा।।
अम्भोनिर्मलनिर्झरातिमधुरा प्रोद्यानचेतोहरा।
प्राणोत्सर्गपरम्परातिरुचिरा राजस्थली राजते।।
शौर्यौदार्यधुरन्धरैर्भटवरैर्या रक्षिता सर्वदा।

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

नानोद्योगपरम्पराभिरभितो वाणिज्यवल्लीस्थली।।
अध्यात्मोत्सवपाविनी सुमनसां चारित्र्यरत्नाञ्चिता।
शान्तिस्नेहपरोपकारजननी राजस्थली राजते।।[3]

राजस्थानस्य रमणीयता –

स्वर्गादपि सुन्दरमस्ति राजस्थानम्। यथा राजस्थानीभाषायाम् एकं गीत प्रचलितमस्ति – ''या तो सुरगा न शरमाव इ प देव रमण ने आव धरती धोरां री...।'' राजस्थाने नैकानि सुरम्यनगराणि सन्ति दृष्टान्तरूपेण सूर्यनगरी जोधपुरं, राजस्थानस्य हृदयस्वरूपं अजयमेरुनगरं, राजस्थानस्य कश्मीररूपेण प्रसिद्धम् उदयपुरं, राजस्थानस्य गौरवं चित्तौड़नगरं, शिक्षौद्योगिकपुरी कोटा तथा च राजस्थानस्य वैभवनगरी जयपुरं प्रथितम्।

विश्वऽस्मिन् विश्वे सौन्दर्यदृष्ट्या पैरिसदेशः प्रसिद्धोऽस्ति तथैव भारतस्य ''पैरिस'' जयपुरमिति जगद्विख्यातम्। भट्टमथुरानाथशास्त्रिणा जयपुरवैभवमिति काव्ये कथितम् –

प्रावृषि प्रसारिजलवेणी-मञ्जुलोपवनी
नन्दनवनीव दिव्यनेत्रैः परिपेयासौ।
कारुकार्यखचितसुरम्यसौधमालायुता
वैभव-विशाला नूनमलकोपमेयासौ।
मञ्जुनाथ मोदान्नित्यमुत्सवसमाजैर्भूता
निकटगतापि पूर्वपुण्यैः परिचेयासौ।
भारतीय ''पैरिस'' पुरीव परिलोक्या भृशं
जयपुरी मे भूरिभाग्यैरभिधेयाऽसौ।।[4]

राष्ट्रपतिसम्मानितेन संस्कृतविबुधेन नवलकिशोर-काङ्करेणापि ब्रजभाषायां स्वविरचिते ''नवलसतसई'' ग्रन्थे जयपुरं ''पैरिस'' इति प्रतिपादितम् –

नगर-नालिका वापिका तीन कुण्ड पुरी मांही।
जयपुर पैरिस दूसरो सुरतिय हूं ललचांही।।

जगदीशसेमवालवर्येण जयपुरविलासकाव्ये जयपुरसौन्दर्यं वर्णयता तथ्यमिदं प्रतिपादितं यत् जयपुरं 'पाटलपत्तनं' हिन्द्यां गुलाबीनगरीति नाम्ना शब्दायते नगरीयं संसारे रमणीयतायाः प्रतिमूर्तिरूपेण राजते। पृथिव्यां प्रसिद्धपुराणां विलोकनं कृत्वापि नरः जयपुरदर्शनं विना नयनानन्दं प्राप्तुं न शक्नोति –

या दुर्लभाऽन्यत्र पुरेषु लोके निदर्शनं या रमणीयतायाः।
सा पाटलश्रीर्जयपत्तनस्य न कस्य चेतोहरणं करोति।।
दृष्टान्यनेकान्यपि पत्तनानि भूमौ प्रसिद्धानि च बन्धुराणि।
परं न दृष्टं जयपत्तनं चेद् मन्ये न तस्याक्षिसुखं नरस्य।।[5]

पाटलपत्तनस्य प्रमुखमैतिहासिकस्थलं हवामहलं वातायनजालयुक्तहर्म्यमालया हवामहलमित्याभिधानेन विश्रुतम्। स्थलेऽस्मिन् वातायनजालाधिक्येनाप्रतिरुद्धं वायुसंचारं भवति। हवामहले जयपुरनृपस्य प्राघुणिकाः निवसन्ति स्म। कथ्यते यत् तस्मिन् समये जयपुरराज्ञ आतिथ्यं स्वीकुर्वन् उदयपुरस्य महाराजोऽत्रैव वस्तुमभिलषितवान्। जयपुरवैभवमिति काव्ये हवामहलस्य रुचिरं चित्रणमस्ति –

गगनविचुम्बी-चित्तहारि-चारुचूडायुतम्।
मौलिविनिरूढानेककेतनमुद्वीक्ष्यताम्।।
रुचिरकपाटपरियातातुलशोभाशालि।
वातायनजालमहो सस्पृहं समीक्ष्यताम्।।
मञ्जुनाथ पाटलसुरङ्गसप्तखण्डमिदम्।
तुरङ्गतया मन्ये मेरुखण्डमिवोत्प्रेक्षताम्।।
सततमवारितसमीरणप्रवाहवहम्।
नृपतिनिवासहवामहलवेक्ष्यताम्।।[6]

हर्म्योऽयं जयपत्तनसुषमां विस्तारयति। जगदीशप्रसाद-सेमवालेन जयपुरविलासकाव्ये 'हवामहलम्' इन्द्रसद्मतुल्यं निरूपितम् –

महालयो यस्त्वपरो हवाख्यो लोकेषु भव्याकृतये प्रसिद्धः।
भूमौ सुरेन्द्रस्य निकायतुल्यं तनोति लक्ष्मीं जयपत्तनस्य।।[7]

ईश्वरसिंहमहाराजेन निर्मापिता 'स्वर्गशूली' हिन्द्यां सरगाशूली अपि दर्शनीयाऽस्ति। स्वर्गपर्यन्तं शूलीव अत्युन्नतायाः कारणात् स्वर्गशूली सरगाशूली वा कथ्यते। मन्ये इयं दैवैः मन्त्रणां कर्तुं ईश्वरसिंहमहाराजेन कारितेति कल्पना प्रस्तुता भट्टमथुरानाथशास्त्रिणा –

तुङ्गतया तारापथमेव परिरभ्य स्थिता।
काञ्चनकलशचारुचूडा बत राजते।।
मध्ये प्रतिखण्डमेव लोहित दृषद्भिःकृता।
शिल्पभूता कटहरश्रेणी भूरि भासते।।
मञ्जुनाथ देवैः सह मन्त्रणार्थमीश्वरेण।
कारितेव, यत्र रविरुचयोऽप्युदासते।।
मेरुशिखराणामपि धूलीकृतदर्पभरा।
सेयं स्वर्गशूली स्वर्गशूलीव प्रकाशते।।[8]

''क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'' सिद्धान्तमिमं प्रोच्य जगदीशसेमवालेन जयपुरस्य चारुता सम्यक्तया निरूपिता। राजस्थानस्य राजधानीरूपेण विलसितं जयपत्तनं दिव्यहर्म्यैः प्रतिदिवसं नूतनतां प्राप्नोति तथा च जयपुरसंस्थापकः जयसिंहः इन्द्रतुल्यो प्रतीयते –

जयति जयपुरश्रीःश्रीरिवाखण्डस्य
जयति च जयसिंहःशक्रतुल्यो नरेन्द्रः।
प्रतिदिनमिह नव्या राजधानी पुराणी

विलसति भुवि तस्य प्रोल्लसद्दिव्यसौधा।।[9]

राजस्थानस्य मेवाड़भूमेः चित्तौड़नगर्यां शौर्याधिष्ठात्री देवी सानन्दं भ्रमणं करोति। नगरीयं विद्वत्ता वीरता च द्वयोः क्षेत्रे जगद्वन्दिता वर्तते। इयं पुरी कविपुङ्गवानां कृते रङ्गमञ्चस्वरूपा तथा च बलिष्ठानां बलपरीक्षणाय निकषोपलसदृशी शोभते। एवं राजस्थानस्य गौरवभूतचित्तौड-नगरस्य महिममण्डनं कुर्वन् पं.शोभालालशास्त्री अवदत् –

शौर्याधिदैवतविहारवनस्थलीयम्
एषा कवीश्वरगिरां वररङ्गभूमिः।
अत्युत्तमा च बलिनां कषपट्टिकेयं
श्रीचित्रकूटनगरी ननु दर्शनीया।।[10]

चित्तौड़नगर्याः प्रमुखमैतिहासिकस्थलं 'कीर्तिस्तम्भः' महाराजकुम्भकर्णस्य यशोविस्तारकोऽस्ति। सुमेरुपर्वताऽपेक्षया कीर्तिस्तम्भस्याधिकं महत्त्वमिति व्यतिरेकालङ्कारेण कविना भणितम् –

श्रीकुम्भकर्णनृपकीर्तिलतावलम्बम्
स्तम्भं पुरःकलय निर्जितमेरुशोभम्।
यद्रत्नसानुमपि दूरतरं विहाय
देवाः प्रसन्नमनसः सततं श्रयन्ते।।[11]

भक्तिः शक्तिश्चेति उभयस्मिन्नेव क्षेत्रे विख्यातास्ति राजस्थानीया मेवाड़भूमिः, अत्रत्या भक्तिमती मीरा वीराङ्गना पद्मिनी च अखिललोके विश्रुता वर्तते।

मेवाड़नगर्याः माधवभक्तिपरायणा 'मीरा' ख्याता यस्याः हस्ते प्रदत्तं विषमपि श्रीकृष्णचरणामृतं सञ्जातम् । वीरभूमिकाव्ये मीराख्यानं वर्णितमस्ति –

अत्रैव माधवपदाब्जसुधाप्रमत्ता
मीरां ननर्त गलितस्वपराभिमाना।
घोरं हलाहलमिहैव तदीयहस्ते
श्रीनन्दसूनुचरणामृततां प्रपेदे।।[12]

मेवाड़भूमौ चौहानवंशसमुत्पन्ना 'पद्मिनी' सुप्रथिता वीराङ्गनाऽभवत्। मुगलसम्राट् अल्लाउद्दीनखीलजी पद्मिन्याः सौन्दर्येण समाकृष्टो बभूव। समराङ्गणे स्वस्याः पत्युः महाराजरत्नसिंहस्य वीरगतिप्राप्तेरनन्तरं सतीत्वरक्षणाय पद्मिनी स्वप्राणाहुतिं प्रदत्तवती। ऐतिहासिककथानकस्यास्योल्लेख इत्थं प्राप्यते –

श्रीचाहमानवरवंशपयोधिजाता
पद्मात्र पद्मवदना विदिता न कस्य।
जग्मुर्विमोहमसुराः श्रुति-मात्रगायां
यच्चारुरूपगुणशीलकथासुधायाम्।।[13]

बीकानेरनगर्याः महत्ता करणीमातेति मन्दिरात् विश्रुता। बीकानेरस्य 'देशनोक' इति स्थाने करणीमातुः प्रसिद्धमन्दिरमस्ति –

संस्थापयामास च देशनाकम् ग्रामं नवीनं करणी करेण।
प्राप्तावकाशा अवसंश्च केचिद्भक्ता भवान्याः
शनकैश्च तस्मिन्।।[14]

अत्र नाकमिति नासिकाऽर्थे प्रयुक्तम्। शब्दोऽयं विकृतिं प्राप्य 'देशनोक' इत्युच्यते। मन्ये देशस्य नासास्वरूपे देशनोकस्थाने करणीमातुः मन्दिरमस्ति। उपर्युक्त विवेचनेन स्पष्टं यत् ढुंढार-मारवाड़-मेवाड़-मेवात-इत्यादिभिः क्षेत्रैः राजस्थानं रमणीयं विद्यते।

राजस्थानस्य लोकदेवताः –

गोगाः, पाबूः, रामदेवः, मल्लीनाथः, हरभूः, तेजाः, देवः, नागरसिंहः इत्यादयः राजस्थानीयाः लोकदेवाः सन्ति। एतेषां विवरणं 'समस्यासौहित्ये' प्राप्यते। राजस्थानस्य लोकदेवेषु गोगाः, रामदेवः, तेजाः इत्येषां विशिष्टं स्थानं वर्तते। गोगेति नाम्नः लोकदेवतायाः प्रमुखपूजास्थलं 'गोगामेड़ी' राजस्थानस्य गङ्गानगरजनपदे स्थितमस्ति। अत्र गोगानवम्यां विशालमेल-कमायोज्यते। भाद्रपदकृष्णपक्षनवमी 'गोगानवमी' मन्यते। यथोच्यते –

भाद्रे कृष्णे नवम्यां विषशमनकृते सर्पदंष्टोपचारे।
वाहारूढो हि योधः कृषकजनगृहे निर्मितो मृत्तिकाभिः।।[15]

राजस्थानीया लोकास्था रामदेवं भगवतः कृष्णस्यांशावताररूपेण स्वीकरोति। अस्य पूजास्थलं स्थानीयभाषायां 'देवरा' अभिधीयते। अस्मिन् स्थाने प्रतिवर्षं भाद्रपदशुक्लपक्षद्वितीयातः दशमीपर्यन्तं मेलकं भवति –

ग्रामे वृक्षानधोऽधः प्रतिगृहमथवा स्थापयित्वाङ्घ्रिचिह्नम्।
भक्ता अर्चन्ति यत्राभिलषितवरदं देवरास्थानमेतत्।।
श्रीकृष्णस्यांशरूपः परहितनिरतः कुष्ठरोगस्य हर्ता।
राजस्थानप्रतीच्यां जगति विजयते रामदेवो दयालुः।।[16]

गोरक्षार्थं प्राणोत्सर्गकारणात् 'तेजाः' राजस्थाने लोकदेवतारूपेण प्रतिष्ठितोस्ति। भाद्रपदशुक्लदशम्यामस्यार्चना विधीयते। लोक-देवस्यास्याराधनया सर्पदंशितजन आरोग्यमाप्नोति। उक्तमस्ति –

भाद्रे शुक्ले दशम्यां परबतसरसि ब्यावरे खड्डनाले।
राजस्थानीयजाटै रुचिरसुरसुरामन्दिरे पूज्यते यः।।
यन्नाम्ना बद्धतन्त्रो भवति गतविषः सर्पदंष्टो हि लोकः।
प्राणत्यागी गवार्थं जगति विजयते लोकदेवः स तेजाः।।[17]

राजस्थानस्य लोकपर्वाणि मेलकानि च –

राजस्थाने गणगौरपूजा प्रसिद्धा। न केवलं लौकिक-

परम्परेयमपितु शास्त्रसम्मता स्वीकृता। निर्णयसिन्धुग्रन्थे निगदितम् –

चैत्रशुक्लतृतीयायां गौरीमीश्वरसंयुताम्।
सम्पूज्य दोलोत्सवं कुर्यात्...॥

अनेन स्पष्टं यत् 'ईसर–गणगौर' भगवतश्शङ्करस्य मातुः गौर्याश्च लौकिकं स्वरूपं विद्यते। गणगौरपूजनं कुमारीभिः सधवानारीभिश्च अखण्डसौभाग्याय चैत्रशुक्लतृतीयायां क्रियते। अत एव तृतीयेयं सौभाग्यतृतीयेति सम्बोध्यते। जयपुरवैभवममिति काव्ये गणगौरमहोत्सवोऽतीव सरसतया प्रस्तुतः–

सुन्दरसुरङ्गवेषभूषितसुचारुतनु
नागरनितम्बिनीनिरुद्धभूरिभवना।
प्रान्तरसुमितसहकारतरुगन्धवती
दीपितमनोजवह्निवासन्तिकपवना॥
प्रतिभवनाऽऽकृतमनोज्ञघृतपूरभरा
सुखितसंयोगिचित्तचिन्तालवलवना।
गौरीगणवन्द्यगणगौरीगुणगौरवतो
जयनगरीह भाति सर्वसौख्यसवना॥[18]

अत्र गणमहोत्सवावसरे आस्वादनीयस्य घृतपूरस्य हिन्द्यां 'घेवर' इत्यस्य चित्रणमपि प्राप्यते। राजस्थाने श्रावणमास–शुक्लपक्षतृतीयायां तीजमहोत्सवस्य मान्यता वर्तते। अवसरेऽस्मिन् जयपुरे तीजमातुः मेलकमायोज्यते। भट्टमथुरानाथशास्त्रिणा सुन्दररीत्या निरूपितं यथा –

भवन–विटङ्क–वीथी–वातायन–मन्दिरेषु
पौरपङ्कजाक्षीद्युतिदूरदर्शनीयाऽसौ।
पञ्चरङ्गकेतुधरकुञ्जर–तुरङ्ग–रथ–
पत्तिपुञ्ज–मञ्जुगौरीयात्रामहनीयाऽसौ॥
मञ्जुनाथ भाति पुरी वारिदवितानतले
मेलकनिबद्धजनलेखालालनीयाऽसौ।
प्रथमा समग्रतिथिमध्ये गणनीयाऽप्यद्य
श्रावणतृतीया भाति नूनमद्वितीयाऽसौ॥[19]

पद्येऽस्मिन् 'गौरीयात्रा' इत्यनेन इङ्गितं यत् 'तीजमाता' पार्वत्याः लौकिक–स्वरूपमेव। जयपुरविलासकाव्ये वर्णनं प्राप्यते यत् जयपुरे सधवास्त्रियः सौभाग्यार्थम् अविवाहिता च अभिलषितवरप्राप्त्यर्थं पार्वत्याराधनां कुर्वन्ति। अत्र जगदीशप्रसादसेमवालः तीजमहोत्सवं सङ्केतितवान् –

मनोऽनुरूपं पतिमाप्तुमाद्यां शिवां भजन्ते सततं कुमार्यः।
भवस्य भार्यामथ पूजयन्ति सौभाग्यलाभाय च यत्र नार्यः॥[20]

भट्टमथुरानाथशास्त्रिणः लोकोत्सवानां कृते विविधभाषासु निर्मितं 'कवित्त' इत्यपि अवलोकनीयम्। जयपुरे श्रावणमासे 'हरियाली' नाम्न्याम् अमावस्यायां मेलके मिलिता नानादेशीया सुहृदः प्रावृटशोभां स्व स्वभाषया भणन्ति। प्रथमं वाङ्गमहोदयो वर्णयति–

'चाहिया चमक चञ्चलार चोकिते छे चोख'
ब्रजभाषारसिकःपरितोऽवलोक्याऽऽह –
'चारों ओर छाई घनघोर घटा धूआं सम'
जेंटिलमैनः इङ्गलिशभाषया ब्रूते –
'ओह माइ डियर! आइ लाइक दिस हाली डे'
जयपुरीयो वर्षया भोजनसामग्रीमार्द्रामवलोक्याह –
'हरियाली मावस मनैली जद जीमां जम'
मित्राण्याह्वयन् गुर्जरो निर्जगाद –
'केवी छै बहार, जरा आवीने जुओ तो खरा'
उर्दूपटुसालङ्कारं व्याजहार –
'फर्श ये बिछा है हरा देखिए! दिखायं हम'
तत्कालमागतान्वर्षाबिन्दून्निर्दिशन्महाराष्ट्रोभ्याचष्टे –
'अन्धकार झाला, मित्र ! पाउस हे आला पहा'
संस्कृतज्ञःसानन्दमग्रे सूचयन्नाह –
'पर्वते पुरस्तान्मेघमालाऽऽलोकनीयेयम्॥'[21]

राजस्थानीयपरिधानम् –

राजस्थाने तीजगणगौरमहोत्सवयोः महिलाभिः धार्यमाणस्य परिधानविशेषस्य 'लहरीया' तथा च 'चून्दड़ी' इत्यस्य चित्रणमपि संस्कृतसाहित्येऽवलोक्यते। ललितरङ्गैः 'लहरी' अर्थात् सागरतरङ्गतुल्याकृतिरञ्जिता शाटिका लहरिका लहरिया वा कथ्यते। जयपुरवैभवकाव्ये लहरिकोल्लेखो लभ्यते –

लहरीललितरङ्गरञ्जितरुचिरपटा
सुन्दरीसुरूपघटामण्डिताऽद्य नगरी।
नगरीनरेशमाधववेशसभाभासितेऽस्मिन्
तृतीयामहोत्सवे विभाति रङ्गसुझरी॥[22]

गणगौरपूजायां धार्यमाणा शाटिका 'चून्दड़ी' विद्यते। अस्यां शाटिकायां रङ्गानां स्थानपार्थक्यं न भवति सर्वे रङ्गाः मिश्रिताः भवन्ति। भट्टमथुरानाथशास्त्रिवर्येण प्रणीता बहुभाषाणां 'चून्दडी' विबुधान् आह्लादयति –

चोटी करि भूरिभूषणानि कृतान्यङ्गेष्वथ
रङ्गे हिना ने भी खूब खूबी ये दुबारा की।
घैर घैर घेवर ना थाल भरी मूंक्या जुओ
चाव हुओ जीने वक्तुं कोऽस्ति सूक्तिसंपाकी॥
मञ्जुनाथ तैनें सूक्तिसुन्दरीप्रसाधनाय
पंचरंग चूनरी रंगी है बहुभाषा की।

चूनर चटक भरी भामिन कों भाई
मनोलोभायाऽद्य सुन्दरीषु सोभा छै सिंजारा की॥[23]

तीजगणगौरमहोत्सवयोः पूर्वदिने 'शृङ्गारकम्' सिंजारा इत्यस्य परम्परा प्रथिता। दिवसेऽस्मिन् स्त्रियः प्रसाधनं कृत्वा विविधाभूषणैः चून्दडी-लहरिकादिपरिधानैः सुसज्जिता भवन्ति।

राजस्थानीयभोजनम् -

मोहनलालपाण्डेयेन राजस्थानीया पाककला उल्लिखिता। पाण्डेयः राजस्थानीयः आसीत् इत्यस्मात् स सुप्रसिद्ध-राजस्थानीयभोजनस्य दालीवाटिकादीनां सुन्दरं निरूपणं कृतवान्। अत्र गोधूमचूर्ण, गुड़मिश्रितप्रियङ्गुचूर्ण तथा च किलाटयुक्तं चणकचूर्णमिति 'चूरमा' नाम भोज्यस्य त्रयस्य चित्रणमस्ति। पाण्डेयेन वाटिकाद्वयं वर्णिता एका किलाट-काजव-वाताद-परिपूरिता घृतनिमग्ना मिष्टवाटिका। द्वितीया च आलुकलायाद्रकमरीचिकामधुरामिश्रिता व्यञ्जन-वाटिका। मुद्गमाषचणकाढकीसम्मलितामिश्रदाली, तेमनम्, मिश्रशाकः तथा च भिण्डहरितमरीचसन्धितमपि वाटिकया सह पक्तव्यमस्ति। ओदनावलेहपर्पटमपि प्रसिद्धराजस्थाननीय-भोजनेऽस्मिन्ननिवार्यम्। प्रावृट्काले पारिवारिकगोष्ठीषु च उक्ताः सर्वे भोज्यपदार्थाः विशेषतया पच्यन्ते। पद्मिनी-उपन्यासे प्रतिपादितायाः पाककलायाः कमनीयं विवरणमित्थं वर्तते -

''हरितपलाशपत्रावलीषु द्रोणेषु च क्रमशः शर्करामिश्रित-गोधूमचूर्ण, गुडान्वितप्रियङ्गुचूर्ण, सिताकिलाटिकामिश्रितं हरिमन्थचूर्ण, शुष्कद्राक्षाकाजववातादांकोलसितागर्भा घृतप्लुता मिष्टवाटिका, आलुकलायद्विदलमरीचार्द्रकशतपुष्पाजीरकरामठ-लवणाजगन्धसौरभगर्भा यवचणकचूर्णवाटिकाः मुद्गमाष-मसूरचणकाढकीद्विदलनिर्मितं सोपस्करं सूपम्, सर्वव्यजनसहितं तेमनम्, आलुगोजिह्वा रक्ताङ्गकलायसिम्बामूलकवास्तु-पालकवृन्ताकमरीचार्द्रकमिश्रितं शाकम्, भिण्डकहरितमरीच-सन्धितं हरितधान्यकावलेहम्, पक्वाणुब्रीहीः, पर्पटजम्बीरकश्चेति क्रमशः सर्वासु भोजनसामग्रीषु परिवेषकैः परिवेषितासु ॐ नमः पार्वतीपतये जयतु जयतु भगवानेकलिङ्ग इत्युच्चारण-पूर्वकन्ते भोक्तुमारप्सत।''[24]

राजस्थाने प्रियङ्गुसेवनं विशेषतया प्रसिद्धम्। अत्रस्थेभ्य जनेभ्यः घृतगुडप्लुतं प्रियङ्गुखिचुडं, दध्ना सह प्रियङ्गुरोटिका च बहु रोचते। प्रो. महावीरप्रसादसारस्वतरचिते करणीचरितामृतमिति काव्ये ग्राम्यांचले प्रियङ्गुप्रियतायाः रुचिरं चित्रणं प्राप्यते -

ग्रामात्तदानीं करणी सुबाला कण्डोलमध्ये दधिकुण्डिका च।
वज्रान्नरोटीःजनकाय धृत्वा भोज्यं प्रदातुं विपिनं प्रतस्थे॥[25]

साहित्यं समाजस्य दर्पणमित्यभिधीयते। अनया ख्रष्ट्या समाजस्य सांस्कृतिकजीवननिरूपणं साहित्ये अपेक्षितम्। अत एव संस्कृतसाहित्यकाराः स्वकाव्येषु राजस्थानीयसांस्कृतिकजीवनं सरसतया समायोजितवन्तः। वर्णेनेनानेन राजस्थानीयरमणीयता-ऐतिहासिकता-लोकदेवता-पर्वपरम्परा-परिधान-भोजनादीनां सरलसरसरीत्या बोधो भवति तेन सहृदया आह्लादमनुभवन्ति अपरप्रदेशीयाश्च राजस्थानीयसंस्कृतिं प्रति समाकृष्य अत्र प्रवासमभिलषन्ति।

सहायकाचार्या, साहित्यविभागः
जगद्गुरुरामानन्दाचार्यराजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालयः
जयपुरम्

सन्दर्भ सूची

1. नाट्यशास्त्रम् - 26.125
2. जयपुरविलासः - 17
3. समस्यासौहित्यम् - पृ.सं. 152
4. जयपुरवैभवं-नगरवीथी
5. जयपुरविलासः - 2, 7
6. जयपुरवैभवं-नगरवीथी
7. जयपुरविलासः 45
8. जयपुरवैभवं-नगरवीथी
9. जयपुरविलासः 100
10. वीरभूमिकाव्यम् 13
11. वीरभूमिकाव्यम् 44
12. वीरभूमिकाव्यम् 34
13. वीरभूमिकाव्यम् 65
14. श्रीकरणीचरितामृतम् 7.9
15. समस्यासौहित्यम् 56
16. समस्यासौहित्यम् 58
17. समस्यासौहित्यम् 61
18. जयपुरवैभवम्-उत्सववीथी
19. जयपुरवैभवम्-उत्सववीथी
20. जयपुरविलासः 34
21. जयपुरवैभवम्-उत्सववीथी
22. जयपुरवैभवम्-उत्सववीथी
23. जयपुरवैभवम्-उत्सववीथी
24. पद्मिनी-प्रथमो विकासः
25. श्रीकरणीचरितामृतम् 2.28

शोध-पत्र

डॉ. विशाल भारद्वाज

आचार्य क्षेमेन्द्र का नीतिशास्त्रीय पाण्डित्य

विश्व के प्राचीनतम साहित्य के रूप में विख्यात संस्कृत साहित्य को संवर्धित करने में भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों ने महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। इस सन्दर्भ में 'भारत का स्वर्ग', 'शारदापीठ', 'ऋषिवट' नामों से प्रसिद्ध कश्मीर क्षेत्र की देन अत्यन्त सराहनीय है। काव्यशास्त्र, कथासाहित्य, व्याकरणशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर कश्मीर के संस्कृतज्ञ विद्वानों ने अपनी लेखनी से इस धरातल को प्रसिद्धि प्रदान करने में जो भूमिका निभाई है, वह निःसन्देह प्रशंसनीय है। कश्मीरमण्डल की प्रशंसा के बारे में कहा गया है –

अस्ति स्वस्तिमतामग्रयं मण्डितं बुधमण्डलैः।
खण्डिताखण्डलावासदर्पं कश्मीरमण्डलम्॥[1]

आचार्य बिल्हण का कथन है कि उत्तम कविता के विलास और केसर दोनों निश्चय ही सगे भाई हैं। शारदा के आदेश बिना अर्थात् भगवती सरस्वती की कृपा के बिना उत्तम काव्य की उत्पत्ति और शारदा देश (कश्मीर) बिना केसर की उत्पत्ति उन्होंने नहीं होती देखी है। कहने का भाव यह है कि केसर और कविता दोनों ही कश्मीर को छोड़कर अन्यत्र कहीं उत्पन्न नहीं होते –

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥[2]

'कश्मीर देश में सागर से भी अधिक गम्भीर सिन्दु (सिन्धु) नामक विद्वान् श्रीसम्पन्न उदारचेता उत्पन्न हुआ तथा उसका पुत्र प्रकाशेन्दु अपने उदात्त गुणों एवं यश से प्रसिद्धि को प्राप्त हो गया। श्रेष्ठ ब्राह्मणों को प्रभूत मात्रा में अन्न, धन, पृथ्वी, गायें तथा काले मृगों के चर्मादि दान करने से बहुचर्चित यश वाले उस प्रकाशेन्दु का पुत्र क्षेमेन्द्र नाम वाला हुआ' – ऐसा उल्लेख 'दशावतारचरितम्' के अन्त में स्वपरिचय देते हुये कवि ने किया है –

कश्मीरेषु बभूव सिन्धुरधिकः सिन्धो निम्नाशयः,
प्राप्तस्तस्य गुणप्रकर्षयशसा पुत्रः प्रकाशेन्द्रताम्।
विप्रेन्द्रप्रतिपादितान्नधनभूगोसंघकृष्णाजिनैः,
प्रख्यातातिशयस्य तस्य तनयः क्षेमेन्द्रनामाभवत्॥[3]

इनके पिता भी शैवमत के कट्टर अनुयायी थे। आचार्य क्षेमेन्द्र ने शैवाचार्य अभिनवगुप्त से शिक्षा प्राप्त की तथा कालान्तर में वे परम भागवत आचार्य 'सोमपाद' के प्रभाव में आकर वैष्णव धर्म की ओर आकृष्ट हो गये, जिसके परिणामस्वरूप आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'दशावतारचरितम्' नामक ग्रन्थ की रचना की। वैष्णव धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धा होते हुये भी आचार्य क्षेमेन्द्र अन्य सभी देवताओं के प्रति भी आदरभाव से युक्त रहे–

साम्यं सर्वसुरस्तुतौ।[4]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलकम्' तथा 'समयमातृका' नामक अपनी कृतियों के अन्त में इन रचनाओं को लिखने का समय राजा अनन्त का शासन काल (1050 ई. से 1072 ई.) बताया है। अतः आचार्य क्षेमेन्द्र का जीवन काल 11वीं शताब्दी सिद्ध होता है –

वीरस्यार्तदयाविधेयमनसः शीलव्रतालंकृते-
र्निस्त्रिंषः परदारकृज्जयविधौ यस्यैककार्यः सुहृत्।
तस्यानन्तमहीपतेर्विरजसः प्राज्याधिराज्योदये
क्षेमेन्द्रेण सुभाषितं कृतमिदं सत्पक्षरक्षाक्षमम्॥[5]
इत्यौचित्यप्रचुररचनाविश्रुतश्रव्यवृत्ता-
व्यक्तिः शक्तिप्रसृतवचसां दर्शिता संग्रहेण।

क्षेमेन्द्रेण प्रणयिविपदां हर्तुराश्चर्यकतु-
र्भूभृद्भर्तुर्भुवनजयिनोऽनन्तराजस्य राज्ये।।[6]

आचार्य क्षेमेन्द्र के पाण्डित्य की चर्चा करें तो इनकी समस्त कृतियों की गणना ही इनके पाण्डित्य को प्रदर्शित कर देती है। आचार्य क्षेमेन्द्र की कृतियां निम्नलिखित हैं –

बृहत्कथामंजरी, भारतमंजरी, रामायणमंजरी, पवनपंचाशिका, सुवृत्ततिलकम्, विनयवल्ली, लावण्यवती, मुनिमतमीमांसा, नीतिलता, अवदानकल्पलता, अवसरसार, ललितरत्नमाला, मुक्तावलिकाव्यम्, वात्स्यायनसूत्रसार, औचित्यविचारचर्चा, पद्यकादम्बरी, शशिवंशकाव्यम्, देशोपदेश, नर्ममाला, चित्रभारत, कनकजानकी, अमृततरंग, चतुर्वर्गसंग्रह, कविकण्ठाभरण, दर्पदलन, कलाविलास, समयमातृका, सेव्यसेवकोपदेश, दशावतारचरितम् तथा चारुचर्या। इनके अतिरिक्त कविकर्णिका, क्षेमेन्द्र-प्रकाश, दानपारिजात, नीतिकल्पतरू, राजावली, लोकप्रकाश, व्यासाष्टक आदि ग्रन्थ भी आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा रचित माने जाते हैं।

आचार्य क्षेमेन्द्र की उपर्युक्त कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र नीतिशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय, व्याकरणशास्त्रीय, नाट्यशास्त्रीय, छन्दशास्त्रीय, पौराणिक, कथासाहित्य आदि विभिन्न संस्कृत विषयों में सिद्धहस्त थे। आचार्य क्षेमेन्द्र की उपर्युक्त कृतियों में इनके नीतिशास्त्रीय पाण्डित्य को प्रतिपादित करते हुये कतिपय नीतिशास्त्रीय सन्दर्भ इस प्रकार हैं –

नीतिशास्त्र के कथनानुसार समस्त गुण धन पर ही आश्रित होते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में आचार्य क्षेमेन्द्र का कहना है कि धर्म, काम एवं मन – ये तीनों धन पर आश्रित हैं तथा यह धन ही जीवन में वृद्धिकारक माना जाता है। धन ही स्थायी सुन्दरता, उच्चकुल, जागृत यौवन तथा निरोग जीवन माना जाता है –

वित्तायत्तः सदा धर्मः कामो वित्तनिबन्धनः।
वित्तायत्तानि चित्तानि वित्तं जीवितवर्धनम्।।
धनं रूपमवैक्लव्यं धनं कुलमसंकुलम्।
धनं यौवनमम्लानं धनमायुर्निरामयम्।।[7]

इस संसार में जो धनवान् है, वही सब कुछ करने में समर्थ है, वही सांसारिक प्राणियों में पूज्य है, वही चतुर वक्ता है, महान् विद्वान्, कर्ता एवं श्रेष्ठ पुरुष है। इसके विपरीत धनहीन व्यक्ति हृदयहीन, राहु, आलसी, शनैश्चर के समान मन्दगति, वक्र तथा कुत्सित जन्म वाला माना जाता है –

ईश्वरः स जगत्पूज्यः स वाग्मी चतुराननः।
यस्यास्ति द्रविणं लोके स एव पुरुषोत्तमः।।
स एवाहृदयो राहुरलसः स शनैश्चरः।
वक्रः कुजन्मा सततं वित्तं यस्य न विद्यते।।[8]

आचार्य क्षेमेन्द्र के मतानुसार बुद्धि ही धनप्रदायिनी है। प्राण से भी बढ़कर प्रिय लगने वाला धन न तो कुल से प्राप्त होता है तथा न ही शील से, न रूप से तथा न ही विद्या के माध्यम से। यह धन एकमात्र बुद्धि से ही प्राप्तव्य है –

न कुलेन न शीलेन न रूपेण न विद्यया।
जीविताभ्यधिकं बुद्धिलभ्यं धनमवाप्यते।।[9]

नीतिशास्त्रानुसार धन की तीन गतियां होती हैं – दान, भोग तथा नाश। 'दशावतारचरितम्' में आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि दान तथा भोग करने से कदापि धन की कमी नहीं होती, वस्तुतः ऐसा करने से धन सुरक्षित ही रहता है। छिपा हुआ, खुला हुआ, बिखरा हुआ एवं मिला हुआ धन नष्ट ही हो जाता है। केवल दीन-दुःखियों को दान किया हुआ धन कभी भी नष्ट नहीं होता –

आयाति धातुरादेशात्तदादिष्टं पलायते।
न त्यागेन न भोगेन क्षीयते रक्ष्यते धनम्।।[10]
गुप्तं विनष्टं प्रकटं विनष्टं कीर्णं विनष्टं मिलितं विनष्टम्।
स्वयं विनष्टं परतो विनष्टं दीनार्त्तदत्तं द्रविणं न नष्टम्।।[11]

नीतिशास्त्र में दुर्जन व्यक्ति की अत्यन्त निन्दा करते हुये उसकी संगति के परित्याग पर बल दिया गया है। नीतिशास्त्रीय इसी धारणा को पुष्ट करते हुये आचार्य क्षेमेन्द्र ने दुष्टों की संगति के दुष्प्रभावों का उल्लेख करते हुये कहा है कि दुष्टों की संगति यश को धूमिल करती है, कष्टों की वृद्धि करती है, अशुभ परिस्थितियों का विस्तार करती है, लोगों की व्यथा एवं व्याकुलता को जन्म देती है, उपहास की स्थिति उत्पन्न कराती है, बुद्धि को भ्रमित करती है, मान को नष्ट करके प्राणों का तथा अनल्प कल्याण-परम्परा का नाश किया करती है –

शमयति यशः क्लेशं सूते दिशत्यशिवां दशां
जनयति जनोद्वेगायासं नयत्युपहास्यताम्।
भ्रमयति मतिं मानं हन्ति क्षिणोति च जीवितं
गिलति सकलं कल्याणानां कुलं खलसंगमः।।[12]

नीतिशास्त्र विद्या की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता को प्रतिपादित करता है – **वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्यायाः बुद्धिरुत्तमा।**[13] आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी नीतिशास्त्रीय पाण्डित्य प्रदर्शित करते हुये बुद्धिहीन की स्थिति पर प्रकाश डाला है। इनका मानना है कि इस त्रिजगती में प्रज्ञाविहीन देव, मनुष्य

एवं नागादि सभी अज्ञात अर्थात् अनुचित काल में कार्य करने के कारण दिन-रात रोग की भान्ति पकते रहते हैं –

अज्ञातकालोचित-कर्मयोगा रोगा इवाहर्निशपच्यमानाः।
जगत्त्रये देवमनुष्यनागाः प्रज्ञादरिद्राः खलु सर्व एव॥[14]

अपनी नीतिशास्त्रीय विद्या को प्रकट करते हुये आचार्य क्षेमेन्द्र ने शासक को राज्यलक्ष्मी के विनाशक कारणों से अवगत करवाया है। इनके कथनानुसार पतन कराने वाले व्यसनों की रुचि, व्यसनों की समाप्ति में अरुचि, हितैषी अमात्यजनों की विरक्ति, दुष्टों पर ही आसक्ति, शुद्ध बुद्धि का त्याग एवं अमंगलों से लगाव – ये सभी राज्यलक्ष्मी के विनाशसूचक हुआ करते हैं –

व्यसनपतनसक्तिस्तद्विरामेऽप्यसक्ति-
र्हितसचिवविरक्तिर्दुर्जनेष्वेव भक्तिः।
उचितमतिवियुक्तिर्दुर्ग्रहाणाममुक्तिः
क्षितिपरिदृढ़लक्ष्मीसंक्षये लक्षणानि॥[15]

कैसे शासक की उपस्थिति में निर्बल व्यक्ति पीड़ित किये जाते हैं, इसका नीतिशास्त्रीय आधार प्रस्तुत करते हुये आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि धर्म-द्रोही, दया एवं सहानुभूति-रहित, प्रजा के साथ उपद्रव करने वाले छोटे-छोटे धूर्तों द्वारा कमजोर बनाये गये, विशिष्ट जनों के विमुख, आदेष सूचनारूपी निद्रा में मग्न, ठगने में कुषल एवं कायस्थों से ठगे गये राजा के होने पर सुखभोग के लोभी व्यक्तियों के द्वारा तथा अकाल, अग्नि, चोर, अतिवृष्टि तथा कीड़ों-मकोड़ों के द्वारा निर्बल व्यक्ति पीड़ित किये जाते हैं –

धर्मद्रोहिणि विद्रुतार्द्रकरुणे क्षुद्रैः प्रजोपद्रवै-
धूर्तैर्भुक्तधने प्रधानविमुखे विज्ञप्तनिद्राजुषि।
कायस्थैरजितैर्जिते क्षितिपतौ लब्धोदयैरिन्द्रियै-
र्दुर्भिक्षानलचैरवारिमकरैर्दीनो जनः पीड्यते॥[16]

आत्मीय जनों के प्रति शासक के व्यवहार को प्रतिपादित करते हुये आचार्य क्षेमेन्द्र का मानना है कि शासक को क्रोधी होते हुये भी आत्मीन जनों पर क्रोध करना अनुचित है। जो व्यक्ति रुष्ट, लोभी, भयभीत एवं तिरस्कृत हो चुके हैं, उन्हें हर प्रकार से स्वीकार कर लेना चाहिये। अनुग्रह उपायों से क्रोधितों को, धनदान से लोभियों को, आश्वासनों से डरे हुये लोगों को तथा सम्मान से अपमानितों व तिरस्कृतों को आत्मीय बनाना चाहिए-

राजन्न स्वजने कोपं कुपितः कर्तुमर्हसि।
स्वीकार्याः सर्वथा क्रुद्धलुब्धभीतावमानिताः॥
क्रुद्धान्प्रसादनैर्लुब्धान्धनैर्भीतांश्च सान्त्वनैः।
माननैरवमानार्तान्नयेद्भिन्नानभिन्नताम्॥[17]

कौन किसका विनाशक है, नीतिशास्त्रीय इस धारणा को पुष्ट करते हुये आचार्य क्षेमेन्द्र ने अत्यन्त सुन्दर एवं प्रभावोत्पादक उल्लेख किया है। दुर्व्यसन सम्पत्ति का, क्रोध धैर्य का, याचना सम्मान तथा प्रतिष्ठा का, विस्मरण प्रेम-मैत्री का, परीक्षण शरीर का, दुर्जनों से परामर्श नीति का, लोभ तथा धन यश का, प्रवास गृह का, कुविचार सदाचारसम्पन्न चरित्र का तथा दुष्टजनों का पक्षपात करना शक्ति का सर्वथा विनाश करने वाला होता है –

भूतेर्दुर्व्यसनं धृतेरसहनं मानोन्नतेर्याचनं
प्रीतेर्विस्मरणं तनोर्निकषणं नीतेरसन्मन्त्रणम्।
कीर्तेर्लोभधनं स्थितेः प्रवसनं वत्तेरसंचिन्तनं
शक्तेर्दुर्जनपक्षपातकरणं निःशेषनिर्मूलनम्॥[18]

अतः उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आचार्य क्षेमेन्द्र नीतिशास्त्रीय ज्ञान के महान् पण्डित थे। अपनी रचनाओं में आचार्य क्षेमेन्द्र ने अत्यन्त सरल भाव से नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों का जो प्रतिपादन किया है, वह उनके नीतिविषयक पाण्डित्य का सूचक है।

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

सन्दर्भ सूची

1. नर्ममाला 1.2
2. विक्रमांकदेवचरितम् 1.21
3. दशावतारचरितम्, कविपरिचय 2
4. कविकण्ठाभरण 2.19
5. समयमातृका, उपसंहार 4
6. सुवृत्ततिलकम् 3.40
7. दशावतारचरितम्, रामावतार 151-152
8. समयमातृका 82
9. वही 5.19
10. दशावतारचरितम्, वामनावतार 178
11. वही 182
12. वही 132
13. पंचतन्त्र, अपरीक्षितकारक 34
14. समयमातृका 4.21
15. दशावतारचरितम्, रामावतार 228
16. वही 280
17. दशावतारचरितम्, कृष्णावतार 118-119
18 दशावतारचरितम्, वामनावतार 148

डॉ. करूणा आर्या

सामवेदीय आनन्द
(ज्ञान, कर्म, उपासना के परिप्रेक्ष्य में)

जीवात्मा के द्वारा जो भी कार्य किया जाए वह आत्म तृप्ति प्रदायक होना चाहिए। आत्म तृप्ति आत्मशृद्धि के द्वारा होती है और आत्म शुद्धि के लिये विद्या और तप आवश्यक है। जैसा कि मनु ने कहा है ''विद्या तपोभ्यां भूतात्माबुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।''[1] आत्मा जितना पावन और पवित्र होगा उतना ही आनन्दातिरेक होगा। आशय है आत्मा को पवित्र और निर्मल बनाना। यदि आनन्द की प्राप्ति करनी है तो जीवन की वेदाक्त रीति से संसार में रहना होगा। पदे-पेद वैदिक ऋचाओं में प्रार्थना है कि हम सोम के संयम से दिव्य गुण उत्पन्न करें और उल्लासवान् और जागरूक आनन्दमय कोश की ओर चलें।[2] संसार में भौतिक वस्तुओं का आधिक्य है जिसके कारण व्यक्ति हर प्रकार की सुख सुविधा का भोग करना चाहता है। ऐसे में वह इष्ट अनिष्ट वस्तुओं का सेवन करने लग जाता है। जैसे शराब पीना, जुआ खेलना आदि, संसार में इसे मद कहते हैं। मद का अर्थ (नशा, धुन, मस्ती) आदि। जब यह नशा शराब आदि के प्रयोग से उत्पन्न होता है तब इसमें अच्छी भावना नहीं होती, इसी प्रकार अन्न खाने से भी नशा होता है। धन का नशा, जो कि धतूरे के नशे से भी अधिक माना गया है। ये जितने भी नशे हैं ये सभी बाह्य हैं और ये आत्मघाती हैं इनके द्वारा आत्मा का उन्नत होना दिखाई नहीं देता अतः आभ्यन्तर मद के स्थापन के लिए वह बल अर्जित करे यह बल धनार्जन से उत्तम है पर इससे भी आत्मा की उन्नति नहीं होगी आत्मोन्नति के लिए प्राणों की साधना सर्वोत्तम है। प्राण जब साधना से संयमित होगा तब आत्मा आनन्द की ओर उत्सुक बनेगा और इससे भी आगे मन है। प्राण और मन को निर्मल बनाने के लिए प्राणमय और मनोमय कोश को सन्तुलित, संयमित रखना पड़ेगा। मन से द्वेष को दूर करने में जुट जाना आनन्दप्रद होता है परन्तु इससे भी उत्कृष्ट आनन्द विज्ञानमय कोश का है उस आनन्द में चूर व्यक्ति को संसार के अन्य सब आनन्द अस्वादु प्रतीत होते हैं और इससे भी महत् आनन्द केवल ब्रह्म प्राप्ति का आनन्द है जिसका यह नरतन साधन है।

विज्ञान प्राप्ति में लगा हुआ मनुष्य अन्य सांसारिक व्यसनों से बच जाता है और वह विद्याव्यसन मनुष्य को हीन व्यसनों से मुक्त कर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनाता है। यह ज्ञान मनुष्य का शरण स्थल है जहाँ रहकर वह काम क्रोधादि के आक्रमणों से बचा रहता है। ज्ञान को अपनी शरण में ले आने वाला श्रुतकक्ष, सुकक्ष (अर्थात् ज्ञान है शरण जिसका; उत्तम शरण स्थल वाला) कहलाता है। ज्ञान प्राप्ति में मनुष्य को आनन्द आने लगे, उसे ज्ञान का आनन्द प्राप्त हो इसके लिये निरन्तर अभ्यस्त रहना चाहिए तभी आनन्द धन का आनन्द प्राप्त कर सकेंगे। वस्तुतः आनन्द ज्ञान, कर्म, और उपासना के द्वारा ही प्राप्त होता है। ज्ञान-कर्म-भक्ति (उपासना) का त्रिक अनेक बार अनेक सम्बन्धों में वेदाक्त है। व्यक्ति को ज्ञान नहीं होगा तो कर्म करने में असुविधा होगी और (कर्मो का) कर्त्तव्यों का बोध नहीं होगा तो भक्ति हो ही नहीं सकती जहाँ वस्तु का ज्ञान, और कर्त्तव्य नहीं वहाँ ज्ञान न होने पर वह उसकी स्तुति कैसे कर सकता है। तदनुसार सर्वप्रथम हमें ज्ञान का आनन्द से सम्बन्ध जानना होगा।

आनन्द से ज्ञान का सम्बन्धः-

आधुनिक युग में ज्ञान की वृद्धि हो रही है परन्तु यह

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

ज्ञान–वृद्धि अणुबमों आदि का निर्माण करके लोकहित के लिए कल्याणकारी प्रमाणित नहीं हो रही। ज्ञान बढ़ा है परन्तु यह लोकवृद्धि का कारण न बनकर लोकसंहार का कारण हो गया है। संयमी पुरुषों का ज्ञान हितकर व वृद्धिकर होता है। जैसे आकाश में बिजली चमकी और सूचीतम में भी मार्ग दिख गया, इसी प्रकार संयमी के मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञान–विद्युत का प्रकाश होता है और उसे गूढ़ से गूढ़ विषय भी स्पष्ट हो जाते हैं। यह अज्ञान ग्रन्थियों को सुलझाता हुआ उस ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता है जो सभी को हितकर वृद्धिकर होता है। संयमी होने से उस ज्ञान का दुरूपयोग नहीं करता; उसे अपने भोगों की वृद्धि का साधन नहीं बनाता। तब वह लोकहितकारी ज्ञान के द्वारा आनन्द प्राप्त कर सकता है। वह अपने मन को सदा शुभ भावनाओं से समन्वित रखे ताकि मैं सदा जाग्रत रहूँ। अपने लक्ष्य को न भुलाऊँ।[3] सामवेद में सोम के द्वारा रक्षण करने की प्रार्थना बार–बार दृष्टिगत होती है। सोम को इन्दु विपश्चित आदि नामों से भी आहूत किया गया है।

वि+पश्+चित् = विशेषण पश्यति इति विपश्चित् विशेष रूप से सूक्ष्मता के साथ देखकर प्रत्येक पदार्थ का चिन्तन करने वाला विपश्चित् कहलाता है। सामवेद की ऋचा कहती हैं– मैं सोमी बनूँ, सोम मुझे ज्ञान कर्म उपासना का विस्तार करने वाला बनाकर 'त्रित–आत्प्य' बनाए।[4] अर्थात् सोम के द्वारा 'ज्ञान कर्म–उपासना' इन तीनों का ही विस्तार करने से ये 'त्रित' है। प्रभु को प्राप्त कराने से 'आप्य' है। ज्ञान पूर्वक कर्म करने से उपासना तो स्वत: ही हो जाती है अत: यह ज्ञान और कर्म का विस्तार करने वाला 'द्वित' भी कहलाता है और ज्ञान का विस्तार इसको क्रियावान् बना ही देता है; अत: ज्ञान का विस्तार करने वाला यह 'एकत' नाम वाला हो जाता है। एकत का ही विस्तार 'द्वित्त' है और द्वित का त्रित। एवं यह त्रित अपने को प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है। इससे पूर्व ऋचा में वर्णन है कि यह सोम हमारे जीवन में 'मदच्युत:'[5] उत्साह–उल्लास को देने वाला हो आनन्द को देने वाला हो। मैं सोम के संयम से सदा ज्ञानावस्थित चेता बनूँ। हृदय उत्तम संकल्पों से युक्त तथा मेरा अङ्ग प्रत्यङ्ग अधिक कार्यक्षम बने क्योंकि यह 'महिघुक्षतम: मद:'[6] मुझे देव पूजा की ओर झुका है और इससे मेरा जीवन सदा प्रकाशमय होता हुआ हर्ष और आनन्द रस से परिपूर्ण रहता है। जब मनुष्य कामादि रूप पशुओं के संहारार्थ ज्ञानरूपी बड़ा बनाता है तब उसका जीवन अशुभ प्रवृत्तियों से दूर शून्य होकर पवित्र हो जाता है। पवित्र हृदय होकर यह सब दोषों का वर्णन करने वाली शक्ति का स्वामी हो जाता है इस शक्ति से इसका जीवन देदीप्यमान ज्ञानजल के प्लावन वाला (सूक्ष्म बुद्धि वाला) हो जाता है, यह ज्ञानी प्रार्थना करता है कि मैं सदा ज्ञानजल में तैरने वाला होकर मदाय उल्लास हर्ष एवं आनन्द वाला हो जाऊँ।[7] अब स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरों को ज्ञान प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य हो जाता है।[8]

कर्म का आनन्द से सम्बन्धः–

मनुष्य कर्म के द्वारा ही इस भवसागर रूपी नैय्या का तरण कर उस आनन्द तक पहुँचता है और यह कर्म की गति अति गहन है– गहना कर्मणो गतिः। मनुष्य जब "यद्वाचावदति तत्कर्मणा करोति"[9] का समन्वय करके जीवन में चलता है तब उसे अवश्य लक्ष्य प्राप्ति हो जाती है। जो लोभ निरन्तर क्रियाशील है वे जीवनयात्रा के मार्ग के बड़े अद्भुत प्रकार से सुन्दर अलङ्कृत करते हैं। शास्त्रानुकूल आचरण से जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं। इस संसार में सबसे महान् कार्य है[10] देवताओं का रक्षण। इस भौतिक शरीर में इन्द्रियाँ देव हैं इनका अधिष्ठाता आत्मा महादेव है और इन इन्द्रियों की रक्षा करना ही मानव जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है। यदि इन इन्द्रियों की रक्षा करना ही मानव जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है। यदि इन इन्द्रियों का रक्षण सही क्रम में होता रहे तो ये परमानन्द का सुख का वर्षण करती हैं। यदि ये विषयों में फंस जायें तो केवल क्षणिक आनन्द को प्राप्त कर नाश कर देती हैं। अत: हमारा यही महान् कर्त्तव्य है कि इन्द्रियाँ हमारी रक्षा के लिये हों हमारी सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली हों। यदि हम इन इन्द्रियों की रक्षा करेंगे तो ये हमारी रक्षा करेंगी जो व्यक्ति इन्द्रिय रक्षारूप तप को अपनाता है, वह ओजस्वी होकर पृथिवी पर प्रतिष्ठित होता है। उसका नाश नहीं होता। आगे छह कर्त्तव्यों को बताते हैं इनका पालन प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए। इस संसार में मानव को कितने ही हर्ष उपलबध हों[11] किन्तु शरीर स्वस्थ न हो तो उसे किसी भी वस्तु में आनन्द प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि 'शरीमाद्यं खलु धर्म साधनम्'[12] शरीर ही सभी कर्त्तव्यों का साधन है अत: इसे स्वस्थ रखना, पवित्र रखना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है दूसरा यदि व्यक्ति की इन्द्रियाँ विषयों में न लिप्त हों तो उसका चेहरा सदैव हर्षित रहेगा। सत्यमना

हो सत्य से पवित्र हुए मन में एक विशेष प्रकार का ही उल्लास होता है। ज्ञानदीप्ति से द्योतित हो – ऐसा व्यक्ति विज्ञानमय कोश वाला एक अद्‌भुत आनन्द का कारण बनता है। सहिष्णु हो – अज्ञानियों से किये जा रहे अपमानों से क्षुब्ध न हो अपितु उस समय वह सहनशील का परिचय दे। यही सहिष्णुता इसे आनन्द की सीमा तक पहुँचा देती है। जब वह इतना सहिष्णु हो चुका है तो इन आन्तरिक आनन्दों के साथ बाह्य धन व सम्पत्ति का भी आनन्द है जो मनुष्य को धृत–लवण–तण्डुल की चिन्ता से मुक्त सा ही रखता है। अतः उस ''मदानांपते'' जो इन सभी आनन्दों के स्वामी प्रभु हैं हे प्रभो! आप उन जीवन के सभी आनन्दों हर्षोल्लासों को सभी मानवों के लिए प्राप्त करायें।

मनुष्य का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह सांसारिक भोगों व ऐश्वर्य को महत्त्व न देकर ज्ञान को महत्त्व दे ज्ञान ही उसकी शरण है इससे उत्तम शरण और कोई नहीं सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रहे। अपनी आवश्यकताओं को कम रखता हुआ सदा दानशील रहे।[13] ज्ञान सम्पादन का कर्त्तव्य करते हुए मनुष्य अनन्य उपासक बन प्रभु आनन्द का अनुभव करे। अतः निष्कर्ष ज्ञात होता है कि अकर्मण्य व्यक्ति कभी प्रभु का उपासक नहीं हो सकता। सच्चे उपासक का प्रथम लक्षण यह दिया गया है कि 'कर्मतन्तु सन्तान' (विस्तार) करता है उसे विच्छिन्न नहीं होने देता। प्रभु की अर्चना करने वाला उन कर्मों को कुशलता से कर्म करने वाला ही प्रभु का सच्चा भक्त है।[14] ऐसे कर्म सत्यज्ञान का ही परिणाम होते हैं वस्तुतः कर्म से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान कर्मों को पवित्र कर डालता है और कुशल कर्मों के द्वारा प्रभु की वास्तविक आराधना करने वाला परिणामतः उत्कृष्ट आनन्द का लाभवान् होता है।[15] जिस समय जीव की सब इन्द्रियाँ प्रभु की सारभूत, रसमयी वेदवाणी का पान करती हैं तब निश्चय ही वह विनीत बनता है। ''ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'' ज्ञान से नीचे देखता है जब सब इन्द्रियाँ ज्ञान का पान करेंगी तो क्या यह विनीत न हो पायेगा, अवश्य ही उस समय इसका जीवन उल्लासमय होगा। संसार में सारे कष्ट अज्ञान के कारण हैं अज्ञानवश मनुष्य बड़ी–बड़ी इच्छायें और आशाएं करता है और उनके पूर्ण न होने पर दुःखी होता है। किन्तु तत्ववेत्ता अपनी शक्ति विद्याव्यसन में लगाकर बलशाली बना लेता है वह शक्ति सम्पादन कर गतिशील हो जाता है और यही गतिशीलता इसे पवित्र बनाये रखती है। इस प्रकार गतिशील होता हुआ ओज एवं शक्ति के द्वारा अपने से कुटिलता एवं हिंसात्मक भावना को दूर भगाता हुआ जीवन में सरलता को प्राप्त करता है यही सरलता इसे ब्रह्मशक्ति का मार्ग दिखा देती। तात्पर्य है[16]– विनीतता, उल्लास, ज्ञानवर्धन, शक्ति, क्रियाशीलता तथा अकुटिलता एवं अहिंसा इन षट्क सम्पत्ति को जीव प्राप्त कर उल्लासमय हो जाये। इस प्रकार जीवन जीने वाला मनुष्य अपने कर्मों से सदा आनन्द की सीढ़ी प्राप्त करता है।[17] यह जीवात्मा नवतीर्नव (पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्चकर्मेन्द्रियों) का हनन कर उल्लासमय हो जाये। उपनिषद भी कहती है ''यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहु परमां गतिम्''।[18]

उपासनाः–

उपासना से आनन्द का सम्बन्ध किस प्रकार का है; सामवेद कहता है कि– उपासना करते समय प्रभु का उपासक सांसारिक भोगों का इच्छुक न हो 'प्रियमेधु' बुद्धि व ज्ञान को प्रियवस्तु समझने वाला होता है। वह प्रभु की उपासना इसलिये करता है कि उसे सदा स्तुत्य शक्ति की प्राप्ति हो अर्थात् उसे यशस्वी बल प्राप्त हो। प्रभु का उपासक जहाँ प्राकृतिक भोगों में न फँसने से शक्ति लाभ करता है, वहाँ वह सभी के साथ बन्धुत्व का अनुभव करता हुआ और उस बल का रक्षण में विनियोग करता हुआ स्तुति का पात्र भी होता है। उसका बल स्तुत्य होता है। यह अभिवादनीय एवं स्तुत्यवीर होता है। धनधान्य तो प्रकृति के उपासक भी आसानी से प्राप्त कर लेते हैं।[19] प्रभु का उपासक एक व्यापक कुटुम्ब की भावना को अपनाने के कारण अकेला ही नहीं खा पाता, उसका सिद्धान्त 'केवलाघो भवति केवलादी'[20] का है वह अकेले खाना पाप मानता है। वह पालक एवं पूरक बुद्धि के लिए उपासना करता है। संसार में विचारशील पुरुष इस तथ्य को समझ लेता है कि जिसने ''संतोषादनूत्तंसुख[21] लाभः'' जिसने सन्तोष किया उसे अनुकूल सुख लाभ पा लिया संसार में वही दुखी है जो आशाओं में घिरा रहता है। उपासक प्रभु से निरन्तर मित्रता बनाये रखे और संसार के उचित आनन्दों को प्राप्त करें और ज्ञान से अपने आपको निर्मल व उत्तम बनायें।[22] अपने सुखों को तिलाञ्जलि देकर उपासक सर्वहित साधन में प्रवृत्त होने के कारण ये प्रभु का वत्स (प्यारा) बन जाता है। सर्वदा सत्य बोलना और सत्य का आचरण करना मोक्ष के आनन्द के समान

है।[23] संसार में ज्ञान ही मनुष्य को वास्तविक शान्ति आनन्द प्राप्त करा सकता है इस ज्ञान की पराकाष्ठा में वह शान्ति है जो मनुष्य को वस्तुत: आनन्द दिलाती है। ज्ञान के समान पवित्र करने वाली कोई वस्तु नहीं है। अत: ज्ञान रूपी सागर में आनन्द के गोते लगायें।[24] सच्चा उपासक तभी हो सकता है जब अच्छी स्तुति करता हो। स्तुति का अभिप्राय है गुणों से प्रीति रखना। सामवेद के ऋषि शंयु कह रहे हैं कि मनुष्य की कामना मोक्ष (आनन्द) को प्राप्त करना है। यह आनन्द उपासक स्वयं प्राप्त करके दूसरों को भी प्राप्त कराये।[25] क्योंकि ''यद्यदाचरति श्रेष्ठततदेवेतरो जन:''[26]। उसे देखकर सामान्य लोग उसी मार्ग का अनुसरण करते हैं।

स्तुति से लाभ:-

जो मोक्ष के साधक हैं वे मृत्यु से बच जाते हैं और यह सब प्रभु की स्तुति से सम्भव है। स्तुति में नम्रता होती है नम्रता अभिमान आदि वृत्तियों को दूर कर देती है। जो इस प्रकार कर्त्तव्यों के ढाँचे में अपने आपको नियमन कर लेता है वह 7 लाभ प्राप्त करता है।[27] शक्ति, प्रतिभा, प्रसन्नता, विषयादि से दूर, यज्ञशीलता, कामादि संहार और आनन्द (मोक्ष) प्राप्ति। इसी श्रृंखला में प्रभु जीव से कह रहे हैं कि जो बुढ़ापा आने पर ईश्वर को याद करता है और यौवन में भूला रहता है त वह पथभ्रष्ट होता है। जब शक्ति नहीं होती तब भक्ति याद आती है। अत: उस प्रभु के स्तवन लोकहित सभी प्राणियों में विस्तृत करो तब आनन्द प्राप्ति होगी।[28] क्योंकि अनन्त शक्ति के स्रोत प्रभु आप हैं, भक्ति के द्वारा आपसे सम्बद्ध हो सभी मनुष्य उस शक्ति को अपने अन्दर प्रवाहित करते हैं भक्ति से ही वह शक्ति प्राप्त होती है जो पर्वत तुल्य कष्टों में भी मनुष्य को विचलित न होने योग्य बनाकर मोक्षानुगामी (आनन्दयुक्त) बनाती है।[29] इस प्रकार दिव्य गुणों को अपनाना मनुष्य को सुखी करता है और प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाता है।[30] प्रभु केवल कीर्तन से प्रकट नहीं होते कीर्तन तो दम्भ के लिये भी होता है परन्तु वेद कहता है प्रभु का आभास रूपी आनन्द तो गोपवन को ही होता है। गोपवन = गो+पवन – इन्द्रियों को पवित्र किया है जिसने ऐसे व्यक्ति को प्रभु दर्शन होते हैं।[31] प्रभु की महिमा तथा सर्वकर्तृत्व का स्मरण कर मनुष्य विनीत एवं सन्तुष्ट बने। प्रभु को अपने जीवन चक्र की परिधि बनाकर आनन्द की प्राप्ति करें।[32] जब मन के साथ ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ सम्यक्तया बुद्धि में स्थित रहती हैं तो जीव परमगति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। तभी उसे उपासना के द्वारा जो आनन्दानुभूति होगी वही उपासना के द्वारा आनन्द है।

दिव्यगुणों की प्राप्ति अनन्तर जीवन में ऐसा उल्लास होता है कि सामान्य मनुष्य उसे स्वस्थ नहीं समझता। यह संयमी जागरूक है दुनियाँ सोती है वह जागता है, मैं कौन हूँ? यहाँ क्यों आया हूँ? मुझे कहाँ जाना है? इत्यादि प्रश्न सामान्य मनुष्य के अन्दर उत्पन्न ही नहीं होते। इस प्रकार के संयमी के समक्ष ऐसे प्रश्न निरन्तर उपस्थित रहते हैं। यह उन प्रश्नों को भुला नहीं पाता परिणामत: अपने को भी नहीं भूलता। इस प्रकार का योगी तो निरन्तर मधुश्चुतं कोश[33] मधु को देने वाला आनन्दमय कोश की ओर चला आ रहा है। सामान्य लोगों की बहिर्मुख यात्रा है, इसकी यात्रा अन्तर्मुखी है, लोग बाहर जा रहे हैं- यह अन्दर जा रहा है। लोग विषयों की ओर तो ये विषयों से दूर आत्मा की ओर क्योंकि विषयों में अशान्ति है, आत्मा में शान्ति (आनन्द) है।[34]

इस प्रकार के योगी आनन्दी (आनन्द है जिसके पास वह) दूसरों के जीवन में भी उत्साह का संचार करते हैं ये उल्लास के पुञ्ज सर्वत्र आनन्दित होकर आनन्द वाले उल्लास को प्रवाहित करते हैं। ऐसे व्यक्ति न स्वयं निराश होते हैं न इनके सम्पर्क में आने वाले निराश होते हैं। अत: 'कामोहि समुद्र:' समुद्र शब्द उस उल्लासमय हृदय के लिए प्रयुक्त है। अपने हृदय में उल्लासमय कामना का अधिष्ठान करने वाले मनीषी हैं। ये मनीषी जन-जन तक उस आनन्द के उत्साह का संचार निरन्तर करते रहते हैं। हम सभी को ज्ञान-कर्म-उपासना के द्वारा निरन्तर सजग रहते हुए आनन्द की ओर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

सह-आचार्या
संस्कृत-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. मनुस्मृति
2. मदिरो न जागृविइच्छा कोशं मधुश्चुतम् (साम.पूर्वा. षष्ठ प्रपाठक 514/4)
3. इन्दु: पवित्र चेतन: प्रिय: कवीनां मति:। सृजदश्वं रथीरिव।। पूर्वा.पञ्च.प्रपा. 481-5

4. प्रसोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः। वनानि महिषाइव।। (वही 478/2)
5. प्रसोमासो मदच्युतः श्रवसे नो माघोनाम्। सुताविदथे अक्रमुः।। (वही 478/1)
6. महि द्युक्षतमोमदः।। (पूर्वा. षष्ठ 578/1)
7. इन्दुर्वाजा पवते गोन्योधा इन्द्रेसोमः सह इन्वन्मदाय। (पू. षष्ठ. 540/8)
8. अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत्। (वही, 572/7)
9. इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान्। नियामं चित्रमृञ्जते।। (सा.पूर्वा. द्वितीय प्र. 135/1)
10. कुमार संभव - 5 सर्ग 33
11. देतानामिदवो महत्तदा वृणीमहे वयम्। वृष्णामस्मभ्यमूतये।। (सा.पू.द्वि.प्र. 138/4)
12. उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते। उपनो हरिभिः सुतम्। (सा.पू.द्वि.प्र. 150/16ऋ)
13. पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्रगायत। (सा.पू.द्वि.प्र. 155/1)
14. प्रव इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत। (सा.पू.द्वि.प्र. 156/2)
15. इन्द्राय मद्वने सुतं परिष्टोभन्तु नो गिरः। अर्कमर्चन्तुकारवः।। (सा.पू.द्वि.प्र. 157/4)
16. इत्थाहि सोम इन्मदोब्रह्म चकार वर्धनम.। अर्चन्ननुस्वराज्यम्।। (सा.पू.प.प्र. 410/2)
17. कठोपनिषद. भाग 2-6, वल्ली मन्त्र 10
18. इन्द्रो मदाय वावृधे।। (सा.पू.प.प्र. 411/3)
19. योग., पाद-2/42
20. ऋ. 10, 117, 6
21. प्रप्र वार्स्त्रे.....। धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति।। (पूर्वार्चिक-चतुर्थ प्र. सामवेद 360/1)
22. आत्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः.। (पूर्वा. चतुर्थ सामवेद 340/9)
23. अति वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्। अग्नेत्वां कामये गिरा।। (सा.पू.प्र. 8/8)
24. शंनोदेवीरभिष्टये शंनो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तुनः।।
25. गीता मं 3/21
26. यज्ञायज्ञा वो... प्रियं मित्रं न शंसिषम्।। (सा.पूर्वा.प्र.प्र. 35/1)
27. एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे। प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्।। (सा.पूर्वा.प्र.प्र. 45/1)
28. जराबोध तद्विविड्ढि विशे विशे यज्ञियाय।। स्तोमं रूद्राय दृशीकम्।। (सा.पूर्वा.प्र.प्र. 15/5)
29. नमस्ते अग्न ओज से गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैरमित्रमर्दय।। (सा.पूर्वा.प्र.प. 119/1)
30. अग्ने मृडमहाँ अस्यय आदेवयुं जनम्। इयेथ बर्हिरासदम्।। (सा.पू.प्र.प्र. 123/3)
31. तंत्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठ्यग्ने अङ्गिरः। स पावक श्रुधीहवम्।। (सा.पू.प्र.प्र. 29/3)
32. परिविश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत्।। (सा.पू.प्र.प्र. 94/4)
33. प्रसोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा अंशो पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम्। (सा.पू.षष्ठ.प्र. 514/4)
34. अभिसोमास आयवः पवन्ते मद्यंमदम्। समुद्रस्याधि विष्टपेमनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः।। (सा.पू.षष्ठ प्र. 418/8)

शोध-पत्र

महामहोपाध्याय प्रो. बाबूलाल मीना

वैदिक वाङ्मय में अर्थचिन्तन

वेदों में अर्थव्यवस्था के समुन्नत होने की जानकारी प्राप्त होती है। संहिताओं में वर्णित कृषि, पशुपालन, विभिन्न उद्योग-धन्धे, व्यापार आदि के अर्थव्यवस्था के प्रमुख अंग होने का वर्णन मिलता है। वस्तुतः किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के सम्यक् संचालन के लिए उस देश की कृषि का विशेष महत्त्व होता है और भारत प्राचीन काल से ही कृषिप्रधान देश रहा है। यह स्पष्ट ही है कि कृषि के जीवनाधार रूप में भूमि और पर्जन्य (वर्षा) की प्रमुख रूप से आवश्यकता होती है। अतएव अथर्ववेदीय पृथिवी सूक्त में भूमि और पर्जन्य को नमस्कार किया है -

भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षभेदसे।[1]

तथा भूमि को माता और पर्जन्य को पिता कहा है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में ऋषि के द्वारा जिस तरह से पृथिवी का गौरव प्रकट किया गया है, उससे वैदिक ऋषियों के आर्थिक दृष्टि से पृथिवी के प्रति पूर्ण सचेत होने का संकेत प्राप्त होता है। कृषि का एवं उसकी उपकरण सामग्री आदि का वैदिक संहिताओं में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। वेदों में कृषि-कार्य को गौरव का कार्य कहा गया है। अतएव इन्द्र और पूषा देवों को भी कृषि-कार्य में लगाया गया है।[2] ऋग्वेद में द्यूत आदि दुर्गुणों को त्यागकर सुख के लिए कृषि करने की प्रेरणा दी गई है -

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।[3]

अथर्ववेद में पशुओं के संवर्धन के लिए कई बातें बताई गयी हैं, यथा - पशुओं के लिए चारे की सुन्दर व्यवस्था हो, जिससे वे हृष्ट-पुष्ट रहें, वे घास खावें, शुद्ध जल पीयें, घूमने के लिये बाहर जावें। गायों के सुन्दर बछड़े हों और वे हौज में शुद्ध जल पीयें। उन्हें चोरों का भय नहीं हो। पशुओं को शुद्ध वायु मिले। सूर्य का प्रकाश उन्हें शक्ति दे, पशु इकट्ठे होकर चलें, घूमे और रहें। पशुधन की निरन्तर वृद्धि हो। जहाँ गाय आदि पशुओं का संरक्षण होता है, वहाँ धन-धान्य और श्री की वृद्धि होती है।[4] पशुओं में गाय का सर्वाधिक महत्त्व बताया गया है। गाय को सभी देवों का अधिष्ठान बताया गया है - **'एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्।'**[5] गाय को अघ्न्या (अवध्य) बताते हुए उसे सौभाग्य का चिन्ह बताया गया है- **'अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय।'**[6]

वैदिक संहिताओं में अर्थव्यवस्था के प्रमुख अंगों में विभिन्न प्रकार के उद्योग धन्धे एवं शिल्प के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वेदों में लगभग 140 वृत्तियों (पेशों) का समुल्लेख मिलता है।[7] ऋग्वेद के एक मन्त्र से एक ही परिवार के कई व्यक्तियों के प्रेमपूर्वक विभिन्न उद्योगों के संचालन की चर्चा मिलती है। मन्त्र में कहा गया है कि मैं कारू (कवि, शिल्पी) हूँ, पिता भिषक् (वैद्य) हैं और माता चक्की पीसती है। घर की आय के लिये हम भिन्न-भिन्न काम करते हैं -

कारूरहं ततो भिषग् उपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम।।[8]

वैदिक संहिताओं में कारू लोगों (शिल्पियों, श्रमजीवियों) की आर्थिक स्थिति के उत्तम होने की चर्चा है, अतः उन्हें 'पुरूदमासः'[9] अर्थात् अनेक भवन या कोठियों वाला (अथर्ववेद में) कहा गया है। वस्त्र उद्योग के भी प्रतिष्ठित होने का उल्लेख है। सूती वस्त्रों को वासस्, ऊनी को ऊर्णायु और रेशमी को 'तार्प्य' कहे जाने की बात कही

गयी है- (अ) वासांसि[10] (ब) ऊणायुम्[11] (स) तार्प्यम्[12]।

जुलाहा (बुनकर) के लिए 'वासोवाय:'[13] शब्द मिलता है। अथर्ववेद में सुन्दर बुनाई का वर्णन है-'तन्त्रमेके युवती ....वयत:।'[14] वस्त्र बुनने का काम प्राय: स्त्रियाँ (युवतियां) करती हुई दिखाई गयी हैं। बुनने वाली स्त्री के 'वय्या' या 'वयित्री' कहे जाने की चर्चा है।[15] पुरुषों के भी बुनने के काम का वर्णन प्राप्त होता है - 'पुमान् एतद् वर्यित।'[16] इसी तरह रथकारा: (रथकार),[17] तष्टा (तक्षा),[18] तक्षा (तष्टा),[19] त्वष्टा (त्वष्टा),[20] इन चारों शब्दों का प्रयोग बढ़ई के लिए प्राप्त होता है। कर्मार (लौहकार/लौहार) को 'मनीषिण: (कुशल कारीगर) कहा गया है - 'कर्मारा ये मनीषिण:।'[21]

यजुर्वेद में यन्तुर्यन्त्रेण (यान्त्रिक) का उल्लेख है।[22] यह कारीगर या मिस्त्री होता है। सुनार के लिए 'हिरण्यकार',[23] मणिकार के लिए मणिकार,[24] चर्मकार के लिये चर्मम्ना:,[25] सौचिक के लिए 'सूच्या',[26] वस्त्रों की रंगाई का काम करने वाली के लिये 'रजयित्री',[27] चीनी उद्योग से सम्बन्धित सामग्री में गन्ने के लिये 'इक्षुणा',[28] इक्षुकाण्ड,[29] सुराकार के लिए 'सुराकार',[30] नाई से सम्बन्धित कार्य के लिये 'वप्ता वपसि केशश्मश्रु'[31] धोबी के लिये मलग यथा मलगवस्त्रा[32] वैद्य/चिकित्सक के लिये भिषज,[33] ज्योतिषी के लिये 'प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्'[34] आदि तत्कर्म से सम्बन्धित शब्द स्थान-स्थान पर संहिताओं में प्राप्त होते हैं। नृत्य से सम्बन्धित शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं - (अ) नृत्ताय सूतम्[35] (ब) नृत्यन्ति, गायन्ति।[36]

वैदिक संहिताओं में द्यूत का भी आजीविका के साधनों के अन्तर्गत उल्लेख है, परन्तु इसके कुछ व्यक्तियों के द्वारा ही खेले जाने की चर्चा है। जुआरी को 'कितव' की संज्ञा दी गई है।[37] वेदों में इसे दुर्व्यसन मानकर छोड़ने का आदेश दिया गया है- **'अक्षैर्मा दीव्य:।'**[38]

वैदिक संहिताओं में शिल्पियों और व्यवसायियों के द्वारा उपर्युक्त निर्मित वस्तुओं के वितरण के लिए व्यापार कार्य की भी समुन्नत: दशा की चर्चा है। व्यापार वस्तुत: अत्यन्त व्यापक उद्योग कहा गया। वेदों में व्यापारी के लिए वणिक् (वणिज्) और वाणिज् दो शब्द आये हैं - (अ) वणिजम्[39] (ब) तुलायै वाणिजम्।[40]

व्यापार को धनदा अस्तु[41] कहकर श्रीवृद्धि का साधन बताया गया है। क्रय (खरीदना) के लिए पण और प्रपण शब्द और विक्रय (बेचने) के लिए विक्रय और प्रतिपण शब्द है। व्यापार लाभ के लिए किया जाता है, अत: कहा गया है कि क्रय-विक्रय लाभकारी हो -

प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपण: फलिनं मा कृणोतु।[42]

मूल्य के लिए 'वस्नेन'[43] अर्थात् 'वस्न,' शुल्कम्[44] अर्थात् शुल्क, निहारम्[45] अर्थात् निहार शब्द संहिताओं में आये हैं। एक मन्त्र में इन्द्र को व्यापारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[46] क्रय-विक्रय का आधार वस्तु विनिमय भी कहा गया है। कुछ ओषधियाँ सोम आदि पवस्त्र (चादर), दूर्श (दुशाला), अजिन (मृगचर्म), गाय आदि पशुओं से खरीदी जाने का उल्लेख है- (अ) पवस्तै:[47] (ब) पशुना क्रीणामि[48]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र प्रतिमा को 10 गायों से खरीदने का उल्लेख है -

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभि:।[49]

यजुर्वेद में भी व्यापार का आधार आदान-प्रदान बताया गया था। मन्त्र में कहा गया है कि तुम मुझे दे दो, मैं तुम्हें देता हूं। तुम मेरे लिए रखो, मैं तुम्हारे लिए रखता हूँ। तुम विक्रय वस्तु मुझे दे दो, मैं तुम्हें मूल्य देता हूँ -

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे, निहारं निहराणि ते।।[50]

विक्रय योग्य वस्तु के मूल्य में मोलभाव अर्थात् बेचते समय जो मूल्य तय हुआ उसी के मान्य होने का उल्लेख भी मिलता है- **भूयसा वस्नमचरत् कनीय:।**[51]

चरित्र और व्यवहार में शुद्धि, अध्यवसाय आदि व्यापार में सफलता के गुण भी बताये गये हैं- **शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च।**[52] मिलावट करना दण्डनीय अपराध कहा गया है। एक व्यापारी ने अच्छे जौ में सड़े जौ (कुयव) मिलाकर बेचने पर राजा के उसे दण्ड देने का वर्णन प्राप्त होता है - **कुयवं नि अरन्धय:।**[53]

स्थल मार्ग, जलमार्ग और समुद्री मार्ग से व्यापार प्रचलन की चर्चा है। स्थल मार्ग से वस्तुओं को भेजने के लिए वृषभ (बैल), वध्रि (बधिया बैल), अश्व, रासभ (गर्दभ), अश्वतर-अश्वतरी (खच्चर), ऊष्ट्र (ऊँट), महिष (भैंसा), अज (बकरा), अवि (भेड़), श्वा (कुत्ता) आदि पशुओं का उपयोग होने का उल्लेख है।[54] रथ और बैलगाड़ी भी इनमें मुख्य कही गयी है। जल मार्ग से व्यापार कार्य नौकाओं के माध्यम से होने का वर्णन है।[55] समुद्रीव्यापार का उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद में मिलता है- (अ) नावा[56] (ब) नावम् आरूक्ष: शतारित्राम्।[57] वैदिक संहिताओं

में ऋषियों के आकाशीय मार्ग और यात्रा से पूर्ण परिचित होने की चर्चा है, परन्तु व्यापार के लिए इसके प्रयोग का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

व्यापार के लिए वेदों में सिक्कों के प्रचलन के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में 'निष्क' सोने के सिक्के की बात कही है।[58] जबकि ऋग्वेद में निष्क गले में पुरुषों के द्वारा धारण किया जाने वाला सुवर्णाभूषण बताया गया है-निष्कग्रीव:।[59] अथर्ववेद में भी इसे सोने का बताया गया है।[60] निष्क के साथ-साथ रूक्म (सोने को सिक्का)[61], शतमान[62] (सोने-चाँदी की सिक्के), पण या कार्षापण[63] (चाँदी के सिक्के) आदि के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

संहिताओं में व्यापार के सम्यक् संचालन के लिए ब्याज पर ऋण लेने देने की भी चर्चा है।[64] फिर भी अनृण रहने को सर्वोत्तम कहा गया है - **अनृणा अस्मिन् अनृणा परस्मिन्।**[65] ऋग्वेद में धूर्त पणियों (व्यापारियों) को 'बेकनाट' कहा है।[66] यास्क ने बेकनाट उन सूदखोरों को कहा है, जो अपना रूपया दुगुना बनाना चाहते हैं या बनाते हैं - **बेकनाटाः कुसीदिनो भवन्ति। द्विगुणकारिणो वा**[67] और इसीलिए देवों से प्रार्थना की गई कि वे पणियों के हृदयों को खण्ड-खण्ड कर दे।[68] उल्लेखनीय बात यह है कि वैदिक समाज में व्यापार मुख्यत: वैश्यों के अधिकार में होने की चर्चा है, परन्तु छोटे-छोटे सभी कार्यों में शूद्रवर्ण के योगदान का भी स्पष्ट उल्लेख है।[69]

वैदिक समाज में जहाँ क्षत्रिय वर्ण के अपने वैभव के प्रदर्शन हेतु आखेट करने का उल्लेख है, वहीं शूद्र वर्ण के लोगों के छोटे-छोटे शिकार करके अपनी जीविकायापन किया करने के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।[70] वैदिक संहिताओं में आखेट करके आय प्राप्त कर जीविकायापन करना भी अर्थव्यवस्था का अंग होने की बात कही गयी है।

अर्थव्यवस्था की दृष्टि से वैदिक समाज की उल्लेखनीय बात यह है कि वैदिक संहिताओं में उपर्युक्त किसी भी व्यवसाय को हीन नहीं माना गया है। किसी भी व्यवसाय को कोई भी व्यक्ति के नि:संकोच अपनाने की चर्चा है। आर्थिक आधार पर समाज में श्रेणियों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। धनोपार्जन की केवल शुद्ध, विधिसम्मत और समाज के द्वारा अनुमोदित प्रक्रिया प्रशंसनीय कही गयी है। अतएव वैदिक संहिताओं में वर्णित अर्थव्यवस्था सर्वथा, सर्वदा अनुकरणीय और सार्वकालिक ग्रहणीय है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं में अर्थव्यवस्था के अत्यन्त सम्पन्न, समृद्ध एवं समुत्कृष्ट होने के सूत्र-संकेत प्राप्त होते हैं।

प्रोफेसर-संस्कृत विभाग,
एम.एस.जे. राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
भरतपुर (राजस्थान)

सन्दर्भ सूची

1. अथर्ववेद 12/1/42
2. वही 3/17/4
3. ऋग्वेद 10/34/7
4. अथर्ववेद 7/73/12, 7/75/1-2, 2/26/1-4, 4/21/1
5. वही 9/7/25, 1-26
6. वही 7/73/8
7. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, द्विवेदी, पृ. 158-178
8. ऋग्वेद 9/112/3
9. अथर्ववेद 7/73/1
10. वही 9/5/26
11. यजुर्वेद 13/50
12. अथर्ववेद 18/4/31
13. ऋग्वेद 10/26/6
14. अथर्ववेद 10/7/42
15. ऋग्वेद 2/3/6
16. अथर्ववेद 10/7/43
17. वही 3/5/6
18. वही 20/35/4
19. वही 10/6/3
20. वही 12/3/33
21. वही 3/5/6
22. यजुर्वेद 18/37
23. वही 30/17
24. वही 30/7
25. ऋग्वेद 8/5/38
26. अथर्ववेद 7/48/1
27. यजुर्वेद 30/12
28. अथर्ववेद 1/34/5
29. मै.सं. 3/7/9

30. यजुर्वेद 30/11
31. अथर्ववेद 8/2/17
32. वही 12/3/21
33. यजुर्वेद 30/10
34. वही 30/10
35. वही 30/6 एवं 30/19, 20
36. अथर्ववेद 12/1/41
37. यजुर्वेद 30/8
38. ऋग्वेद 10/34/13
39. अथर्ववेद 3/15/1
40. यजुर्वेद 30/17
41. अथर्ववेद 3/5/1
42. वही 3/15/4
43. वही 12/2/36
44. वही 5/19/3
45. यजुर्वेद 3/50
46. अथर्ववेद 3/15/1-8
47. वही 4/7/6
48. तै.सं. 1/2/7/1
49. ऋग्वेद 4/24/10
50. यजुर्वेद 3/50
51. ऋग्वेद 4/24/9
52. अथर्ववेद 3/15/9
53. ऋग्वेद 7/19/2 एवं अथर्ववेद 20/37/2
54. ऋग्वेद 8/46/28, 8/46/30, अथर्ववेद 8/8/22, 20/127/2, 5/3/8
55. अथर्ववेद 4/33/8
56. वही 4/33/8
57. वही 17/1/26
58. शतपथ ब्राह्मण 11/4/1/8
59. ऋग्वेद 5/19/3
60. अथर्ववेद 5/17/14
61. अथर्ववेद 6/22/2
62. श.ब्रा. 13/2/3/2
63. तै.ब्रा. 1/3/7
64. अथर्ववेद 6/117-119
65. वही 6/117/3
66. ऋग्वेद 8/66/10
67. निरूक्त 6/26
68. ऋग्वेद 6/53/5
69 वही 5/4/11
70. वही 10/28/10

डॉ. कल्पना शर्मा

स्त्री-विमर्श : वाल्मीकि रामायण के परिप्रेक्ष्य में

वाल्मीकि रामायण भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत साहित्य का आदिकाव्य है। आदि कवि वाल्मीकि ने आर्य संस्कृति एवं सभ्यता का जीवन्त चित्रण इस महाकाव्य में किया है। वाल्मीकि रामायण का अध्ययन एवं श्रवण करने पर ऐसा अनुभव होता है, जैसा देवताओं को अमृतपान होने के बाद हुआ था। सात खण्डों में विभक्त वाल्मीकि रामायण की कथा मानवता को मानवता का आदर्श प्रदान करने के लिए रची गई है। करुण रस में रचा बसा यह काव्य हर सम्बन्ध के चरम आदर्श को दर्शाता है। दशरथ पिता के आदर्श को, राम पुत्र के आदर्श को, कौशल्या और सुमित्रा माता के आदर्श को, सीता पत्नी के आदर्श को, लक्ष्मण भाई के आदर्श को, हनुमान भक्त के आदर्श को, सुग्रीव मित्र के आदर्श को प्रदर्शित करते हैं। सर्वविदित है कि वाल्मीकि रामायण का उद्‌भव शोक से हुआ है। महामुनि के करुणा से द्रवित हृदय से अनायास ही छन्दोमयी वाणी निकली -

मा निषाद प्रतिष्ठान त्वमगमः शाश्वतीः समाः।[1]

वाल्मीकि रामायण रामकथा है, परन्तु वाल्मीकि ने स्वयं कहा है -

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितम् महत्।[2]

कवि की यह उक्ति इंगित करती है कि वाल्मीकि रामायण सीता के वर्णन के बिना सम्पूर्ण नहीं है। राम और सीता का सम्बन्ध अयुतसिद्ध है। फिर भी सीता का महत्व राम से अधिक है ऐसा कवि की उक्ति से ध्वनित होता है। राम के चरित्र की उदारता काव्य में है, परन्तु सीता सर्वलक्षणसम्पन्न नारी के रूप में मण्डित है। वाल्मीकि ने सीता के लिए यह विशेषण प्रयोग किया है। वाल्मीकि रामायण के आलोक में स्त्री-चरित्र का विश्लेषण करें तो हमें 'चरित्र' शब्द को समझना होगा। कोशग्रन्थों में चरित्र शब्द का अर्थ - संयम, व्रत, नियम, व्यवहार, प्रकृति, विरति इत्यादि दिया गया है। चरित्र की यह विशेषता है कि यह व्यक्तिनिष्ठ होता है, परन्तु समाज सापेक्ष होता है। लोकमंगल की भावना से युक्त ना होने पर इसका अस्तित्व व्यर्थ है। यह सामूहिक सम्पत्ति है। सत्य-असत्य, नीति-अनीति, हिंसा-अहिंसा, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि द्वन्द्वों के संघर्षो के बीच से जो विकसित होता है, वह चरित्र है।

वाल्मीकि रामायण के स्त्री-पात्रों का चरित्र इन्हीं विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष के मध्य हम आकलन करने का प्रयास करेंगे। वाल्मीकि रामायण में स्त्री-पात्रों का चिन्तन करें तो सर्वप्रथम सीता का ही उज्ज्वल चरित्र दृष्टिपटल पर आता है। 'सीता' शब्द का अर्थ हल के चलाने से बनी हुई रेखा, जोती हुई भूमि, लक्ष्मी आदि है। सीता शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है - 'सूयते इति सीता' अर्थात् जगत्-उत्पादिका, 'सवति इति सीता' अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, 'स्यति इति सीता' अर्थात् संहारिका, 'सुवति इति सीता' अर्थात् सत्प्रेरणा देने वाली, आदि।

सीता राजा जनक की औरस पुत्री नहीं थी। जनक ने इन्हें पाला था, इसीलिए जनकात्मजा थी। अपने समय की स्त्रियों में सीता सर्वोत्तम सुन्दरी है। वाल्मीकि स्वयं कहते हैं-

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी।
नैवरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले।।[3]

कवि को कोई भौतिक निकष नहीं मिलता जिससे वह सीता की उपमा दे सके। आदित्य सुन्दरी को देखकर रावण कहता है की ब्रह्मा ही क्यों न हो ऐसा सौन्दर्य

देखकर हर पुरुष का धैर्य विचलित हो सकता है –

त्वां समासाद्य वैदेहि रूपयौवनशालिनीम्।
कः पुनर्नातिवर्तेत साक्षादपि पितामहः।।[4]

फिर रावण तो राक्षस है न। सीता के व्यक्तित्व का सबसे प्रबल पक्ष है उसका 'पातिव्रत्य' धर्म। पति के प्रति असीमित श्रद्धा से ही सीता संसार में वंदनीय है, स्मरणीय है। जानकी ने जैसे ही सुना राम को वनगमन का आदेश मिला है। उसने क्षण भर भी विलम्ब किए बिना वनयात्रा में साथ जाने का निश्चय कर लिया। वह कहती है कि पिता, माता, भाई, पुत्र, पुत्रवधू सभी अपने पुण्यकर्मों का फल भोगते हैं और भाग्य के अनुसार जीवन बिताते हैं किन्तु पत्नी पति के भाग्य का अनुसरण करती है। राम के लिए वन में अनेकानेक कष्ट के दिन आने पर सीता का मानना है कि वे सभी कष्ट सभी दोष पति के साथ रहने पर उसके स्नेह से गुण में बदल जाएंगे। आपसी प्रेम वनजीवन को भी सरस और सुखद बना देगा।

प्रेम की परीक्षा वियोग होने पर ही होती है। सीता से पहले भी रावण ने बहुत सी सुन्दर स्त्रियों का अपहरण किया और वे सुन्दर स्त्रियाँ उसके वैभव-विलास, धन-धान्य पर समर्पित हो गई और कुछ ने विवशता से उसकी अधीनता स्वीकार कर ली, परन्तु सीता ने अन्त तक अपने पातिव्रत्य धर्म को अभंग रखा। पतिव्रता सीता की प्रार्थना पर अग्नि भी अपना स्वाभाविक धर्म त्याग कर हनुमान के लिए शीतल हो जाती है। सीता के पतिप्रेम के बहुत से प्रसंग वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होते हैं। मनोविश्लेषकों का मानना है कि व्यक्ति का चरित्र स्थायी भाव का संगठन होता है। इस आधार पर सीता के चरित्र का मुख्य स्थायी भाव पतिप्रेम है।

महाराज दशरथ की पत्नी कौशल्या वाल्मीकि रामायण के प्रमुख स्त्री पात्रों में से हैं। राम की माता कौशल्या के व्यक्तित्व का सबल पक्ष है उनकी 'धर्मपरायणता'। अभिषेक का संवाद सुनकर वह राम के सुखद जीवन के लिए परम पुरुष नारायण का ध्यान करती हैं। भगवान विष्णु की प्रसन्नता के लिए व्रत उपवास करती है। मंत्रों का उच्चारण कर अग्नि में आहुति देती हैं। कौशल्या की धार्मिक आस्था ने ही उन्हें सुख-दुःख में समभाव से रहना सिखाया, अन्यथा पति द्वारा उपेक्षित स्त्री एवं अपने एकमात्र प्रेम के अवलम्बन पुत्र को वन जाते देखकर कोई भी विचलित हो सकता है। वात्सल्य तो इनके हृदय में, आचरण में रचा बसा है।

कैकेयी राजा दशरथ की कनिष्ठा पत्नी है। पति के प्रति उनका प्रेम अतिशय है। राम के युवराज अभिषेक का संवाद सुनकर जब मन्थरा कनिष्ठा रानी को भयभीत करती है, तब पतिप्रेम पर पुत्र प्रेम हावी हो जाता है और वह पति के प्राण संकट में डाल अपने दो वचन मांग लेती है। प्रत्येक मनुष्य में दो प्रकार की प्रवृत्तियां दैवी एवं आसुरी रहती ही है। इन्हीं से व्यक्ति का मन शुभ और अशुभ संकल्प वाला होता है। राम के लिए वनवास मांगते हुए कैकई पर आसुरी प्रवृत्ति का आवेग था। इसी कारण कैकई की सामाजिक प्रतिष्ठा चली गई। कैकई महत्वाकांक्षी थी और महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए उसने कुटिलता से काम लिया।

सुमित्रा महाराजा दशरथ की मध्यमा रानी है। सुमित्रा के प्रति राजा का अनन्य प्रेम पायस-वितरण में दिखाई देता है।[5] मितभाषी सुमित्रा सुख और दुख में समभाव से रहती है। निर्वासन की आज्ञा राम को मिली थी, परन्तु अपने पुत्र को उनका अनुगामी होता देख भी सुमित्रा का धैर्य नहीं डिगता है। विपरीत परिस्थिति में भी वह अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रखती है। सुमित्रा का चरित्र त्याग के अद्‌भुत उदाहरण की प्रस्तुति है। राजमर्यादा जेष्ठ रानी कौशल्या को सम्मान देती है और महाराजा के हृदय-आसन पर कनिष्ठा रानी कैकेयी राज करती है, परन्तु रानी सुमित्रा को कुछ प्राप्त नहीं फिर भी वह हृदय में सबके लिए अच्छी भावना रखती है। वीर पुत्रों की माता के अपने पुत्र केवल अनुचर के रूप में दिखाई देते हैं। एक पुत्र राम का अनुगामी है तो दूसरा भरत का और इस विषय को लेकर सुमित्रा गौरव का अनुभव करती है। वनप्रयाण के समय वह लक्ष्मण से कहती है कि वत्स मैंने तुम्हें वनवास के लिए ही जन्म लिया है। तुम अपने बड़े भाई की सेवा करना और उसमें किसी प्रकार का प्रमाद न करना।[6] माता सुमित्रा का यह त्याग वन्दनीय है।

वाल्मीकि रामायण के प्रमुख स्त्री-पात्रों में एक अन्य पात्र है – मन्दोदरी। यह मय नामक दानव और हेमा नामक अप्सरा की पुत्री है। मन्दोदरी पतिव्रता स्त्री है। पति के हित में लगी रहने वाली मन्दोदरी अशोकवाटिका में सीता पर क्रोध करते हुए रावण को जब वह सीता को मारने के लिए तैयार हो जाता है, तब रोकती है –

मन्दोदरी निवार्याह पतिं पतिहिते रता।
त्यजैनां मानुषीं दीनां दुःखितां कृपणां कृशाम्।।[7]

वह केवल पति की प्रशंसा ही नहीं करती, अपितु उस

की समालोचना भी करती है। पति के बुरे कार्यों की निन्दा भी करती है। वह कहती है – आपने बहुत सी धर्मपरायण स्त्रियों का अपमान किया है। आज उनका ही श्राप आपको लगा है कि आपको मृत्यु के अधीन होना पड़ा। मन्दोदरी में आत्मसम्मान की भावना है। मूल्यांकन करते हुए मन्दोदरी कहती है मिथिलेश कुमारी सीता न तो कुल में, न रूप में, न उदारता आदि गुणों में मुझसे बढ़कर है। वह मेरे बराबर भी नहीं फिर आप मेरे साथ ही रहो।[8] उचित गुणों के संयोजन से मन्दोदरी नारी जाति के लिए एक आदर्श छोड़ जाती है और राक्षस जाति की स्त्रियों की प्रतिष्ठा को दिग्-दिगन्तर तक फैला जाती है। पाँच महा कन्याओं में इनका स्थान है जो इसके दिव्य गुणों का ही प्रतिफल है।

वाल्मीकि रामायण का केन्द्र बिन्दु सुन्दरकाण्ड है। कवि ने इसे विशेष रूप से सजाया है, इसलिए इसका नाम कोई घटना विशेष पर नहीं है, कोई स्थान विशेष पर नहीं है, अपितु सौन्दर्य को आधार बनाकर ही इसका नाम सुन्दरकाण्ड है। त्रिजटा विभीषण की पुत्री, राम की अनन्य भक्त एवं योगिनी है। उसने अपने चरित्र को किसी नियम में नहीं, अपितु अपनी दृढ़ता से बनाया है। जब सीता मानसिक कष्ट सहते सहते थक चुकी है और प्राणत्याग करने का निर्णय लेने लगती है तब त्रिजटा ही उसके शोक को कम करने का प्रयास करती है और उसे अनागत के सुखद होने का विश्वास दिलाती है। वह भविष्य को देखने वाली स्त्री है जिसने भविष्य में घटने वाली घटना कि रावण की सोने की लंका जल गई है, अपनी आंखों से देखा है –

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः।
राक्षसानामभावाय भर्तुरस्या भवाय च॥[9]

उसके इस स्वप्न के दो भाग हैं – एक में सीता के शोक का विनाश और राम के अभ्युदय की ध्वनि है तो दूसरे भाग में राक्षस कुल के विनाश और रावण के पराभव की। संपूर्ण राक्षसों में केवल एक विभीषण ही है जिसे वह प्रसन्न मुद्रा में दिखती है। वह लंका में निवास करने वाली राक्षस जाति के विनाश का सपना देखती है और राक्षसों को सतर्क भी करती है। उसे अपने स्वप्न पर विश्वास भी है कि वह सत्य होगा। त्रिजटा के स्वप्न को जानने के बाद सीता के शरीर में शुभ सूचक लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। शकुनों और स्वप्न में देखी हुई घटनाओं को त्रिजटा सीता को बताती है और सीता के हृदय में आशा का संचार होता है। वह जानकी के दग्ध हृदय पर शीतल लेप की तरह है।

तारा सुषेण की पुत्री, बाली की पत्नी और अंगद की माता तारा वानर जाति की स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है। तारा का विवाह बाली से हुआ और वह बाली का ही चिंतन सदैव करती रही सुग्रीव ने जब बाली को युद्ध के लिए ललकारा तब भी उसने बाली को बहुत अधिक समझाया, परंतु उसकी बात को बाली ने ना समझा और जीवन को खो दिया। मरणासन्न बाली उसकी अत्यंत प्रशंसा करता है और सुग्रीव से कहता है कि यह नीति-रीति को जानने वाली स्त्री है। इसकी बातों की कभी अवहेलना ना करना।

तारा के चरित्र का दूसरा पक्ष लक्ष्मण के साथ संवाद के अंतर्गत दिखता है। जब सुग्रीव तारा को ही लक्ष्मण के क्रोध को शांत करने के लिए भेजते हैं, तब तारा कहती है- राजकुमार आपके क्रोध का कारण क्या है? कौन आपकी आज्ञा के अधीन नहीं है? तारा के इन वचनों को सुनकर लक्ष्मण का क्रोध कम होता है। तारा बड़ी दक्षता के साथ लक्ष्मण से कहती है कि आपके क्रोध करने का यह समय नहीं है क्योंकि अपनों पर क्रोध नहीं किया जाना चाहिए।[10]

वाल्मीकि रामायण प्रत्येक काल में प्रासंगिक है, इसमें निहित इतिहास-बोध एवं भविष्य-निर्माण की कल्पना है। वाल्मीकि रामायण-काल की स्त्रियों की संचेतना और उनका सशक्त सलाहकार होना आज भी स्त्री जाति के लिए अनुकरणीय है। महाकवि वाल्मीकि ने उस समय के समाज एवं समाज के स्त्री पात्रों के चरित्रों का अनुकरण से आज भी एक आदर्श समाज निर्मित हो सकता है।

सहायक आचार्या, संस्कृत-विभाग,
माता सुन्दरी महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. वाल्मीकि रामायण 1/2/15
2. वही, 1/4/6
3. वही, 3.32.15
4. वही, 5/18/14
5. वही, 1/15/26
6. वही, 2/35/5
7. वही, 5/2/38
8. वही, 6/99/26
9. वही, 5/25/6
10. वही, 5/34/8

जल-प्लावन आख्यान का संस्कृत साहित्य में विवेचन

डॉ. अनीस अब्बास रिजवी

इस आख्यान को मनु एवं जलौघ तथा मत्स्यावतार की कथा के नाम से प्रसिद्ध है। आख्यान शब्द **'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचा अयं दर्शने अपि'** स्पष्ट बोलना और देखना धातु से आख्यान पद की रचना होती है।[1] वेदों के अन्तर्गत संवाद से सम्बन्धित वर्णनों या कथानकों को आख्यान संज्ञा ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में शुनः शेप के प्रसंग में आख्यान शब्द का प्रयोग हुआ हैं।[2] उपनिषदों में कथा शब्द उपलब्ध होता है। प्रमुख ग्यारह उपनिषदों में कथा शब्द का प्रयोग छान्दोग्योपनिषद् में आख्यान के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[3]

वैदिक साहित्य के पश्चात् लौकिक साहित्य में आख्यान शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है। वाल्मीकि रामायण में पूर्व घटित घटना को ही आख्यान संज्ञा दी गई है।[4] महाभारत में आख्यान के लिए इतिहास तथा कथा शब्द प्रयुक्त हुआ है।[5] महाभारत के नलोपाख्यान रामोपाख्यान आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

शब्दकोशों में आख्यान शब्द के विविध अर्थ हैं। शब्दकल्प-द्रुम में आख्यान शब्द से अभिप्राय है-

कथितं षष्टयुपाख्यानं ब्रह्मपुत्र यथा गमं।
देवी मङ्गलचण्डी या तदाख्यान निशामय।[6]

आप्टे के अनुसार- आख्यान का अर्थ है किसी पुरानी कहानी की ओर निर्देश करना अथवा किसी काल्पनिक या पौराणिक कथा के विषय में बताना आख्यान कहलाता है।[7] शौनक ने वृहद् देवता में वर्णनशैली के आधार पर वेद मन्त्रों के विभिन्न विभाग किये हैं यथा स्तुति प्रशंसा उपदेश विलाप आदि। इनके द्वारा पुरुरवा-उर्वशी संवाद को आख्यान संज्ञा दी गई है।[8]

आख्यानों को केवल कपोलकल्पित नहीं कहा जा सकता है अपितु वह समाज की सभ्यता एवं संस्कृति का दर्पण है। आख्यानों से प्राप्त शिक्षा मानव समाज के सामूहिक कल्याण तथा विश्वमंगल की अभिवृद्धि का कारण है।

मनु एवं जलौघ तथा जलप्लावन का आख्यानः - यह आख्यान संस्कृत का नहीं अपितु समस्त विश्व साहित्य का भी प्रसिद्ध आख्यान है। शतपथ ब्राह्मण में सर्वप्रथम मनु एवं जलौघ की कथा विस्तार से उपलब्ध होती है।[9] शतपथ के अनुसार कथा है-

मनु के लिए प्रातः काल हाथ धोने के लिए जल लाया गया जब वह हाथ धो रहे थे तो उनके हाथ में एक छोटी मछली आ गयी। वह मछली मनु से बोली यदि मनु द्वारा उसे पाला जाए तो वह मनु की रक्षा करेगी। मनु ने पूछा वह उसकी रक्षा कैसे करेगी मछली ने उत्तर दिया कि जब सब प्रजा तूफान में बह जाएगी तो वह उसकी रक्षा करेगी। मनु द्वारा उसे (मछली को) पाला गया और मछली के बड़े हो जाने पर उसे समुद्र में छोड़ दिया गया समुद्र में छोड़ते समय मछली ने मनु से कहा कि अमुक वर्षा में तूफान आयेगा। तूफान आने पर मछली के कथानुसार नाव बनाये और नाव में बैठ जाए मछली द्वारा उसे सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया जाएगा। अतः कुछ वर्षों बाद पृथिवी पूरी जलमग्न हो गयी मनु ने नाव बनायी और उसमें बैठ गये। उस समय एक मछली का आकार अत्यन्त विशाल हो गया था उस विशालकाय मछली ने मनु की नाव को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया। उस तूफान में सम्पूर्ण पृथिवी की प्रजा नष्ट हो गयी केवल मनु जीवित बचे मनु

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

से ही पुन: मानव जीवन की सृष्टि हुई।[10] शथपथ ब्राह्मण की कथनानुसार इस आख्यान की निम्न विशेषताएँ हैं–

- यह कथा मत्स्य को किसी नदी विशेष में डाले जाने का उल्लेख नहीं करती।
- इस आख्यान में यह विवेचन भी प्राप्त नहीं है कि मनु ने नौका पर आरोहण किया तो उनके साथ ऋषि भी थे या नहीं।
- यहाँ मत्स्य के किसी देवता का अवतार होने का निर्देशन नहीं है।
- इसमें नौका के उत्त रपर्वत और मनोरवसर्ण नाम के स्थान पर पहुँचने का वर्णन है।

महाभारत में मत्स्यावतार की कथा – यह ग्रन्थ इस कथा का मत्स्यावतार के नाम से उल्लेख करता है। महाभारत में यह आख्यान विस्तार के साथ वर्णित है। शतपथ की कथा से महाभारत की कथा भिन्न है। महाभारत में मनु को वैवस्वत पैतृक दिया गया है किन्तु किसी दूसरे मनु के नाम का उल्लेख नहीं है। यहाँ मछली के समुद्र में डाले जाने से पूर्व गङ्गा में डाले जाने का वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत में मत्स्य को स्वयं ब्रह्मा प्रजापति के रूप में प्रकट कराया गया है। इसके अनुसार नौका हिमालय के सर्वोच्च शिखर से जाकर लगी जिसे इस शिखर को नौबन्धन कहा जाता है।

पुराणों में मत्स्यावतार की कथा – पुराणों में अधिकतर अवतारों का वर्णन उपलब्ध होता है। अत: पुराणों में यह मत्स्यावतार या जलप्लावन की कथा विष्णु के मत्स्य रूपी अवतार से ही सम्बद्ध है। विष्णु के अवतार लेने का प्रयोजन दुष्टों का नाश और सज्जनों का पालन करने के लिए होता है। अग्निपुराण में द्वितीय अध्याय में यह कथा उपलब्ध होती है।[11] भागवत पुराण की कथा अग्नि पुराण की कथा के समान है।[12] भागवत पुराण में इस कथा के नायक सत्यव्रत है एवं अग्निपुराण में वैवस्वत मनु कथा के नायक हैं। भविष्यपुराण में मनु को न्यूह नाम से अभिहित किया गया है और उसे आदम की सन्तान माना गया है।[13]

विष्णुधर्मपुराण के अनुसार– प्रलय के पश्चात् केवल सप्तर्षि ही जीवित बचे थे। उन्हें मत्स्यरूप धारी विष्णु ने शृंगी बनकर हिमालय के शिखर पर पहुँचा दिया था। उससे उनका जीवन बचा।[14]

महाकाव्यों में मत्स्यावतार कथा– मनु एवं मत्स्य का आख्यान भारतीय साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण आख्यान है। महाकवि अश्वघोष रचित बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द महाकाव्य में मनु का वर्णन प्राप्त होता है। बुद्धचरित महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में मनु को सूर्य पुत्र एवं मनु की शासन व्यवस्था की प्रशंसा की गई है। मनु का राज्य पापरहित तथा धर्मपरक राज्य था।[15] सौन्दरनन्द महाकाव्य के तृतीय सर्ग में उल्लेख प्राप्त होता है कि राजा मनु के कृतयुग में प्रजा बहुत प्रसन्न थी।[16] महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के प्रथम सर्ग में मनु का वर्णन प्रथम रघुवंशी राजा के रूप में किया है। वैवस्वत मनु के पवित्र वंश में श्रेष्ठ राजा दिलीप उत्पन्न हुए।[17] शिशुपालवध के प्रथम सर्ग में सांकेतिक रूप में ये आख्यान उपलब्ध होता है जब नारद श्रीकृष्ण के समीप इन्द्र का संदेश लेकर आते हैं कि वह शिशुपाल का वध करें। उस समय प्रलयकालीन समुद्र (जल प्लावन) का वर्णन प्राप्त होता है कि प्रलयकाल में श्रीकृष्ण ने अपने अन्दर ही सम्पूर्ण जीवात्माओं को समाहित कर लिया था।[18] इसी महाकाव्य के सत्रहवें सर्ग में इस प्रकार उल्लेख है कि प्रलयकाल में पानी से संसार के प्लावित होने पर भी समुद्र खाली नहीं हुआ।[19] अन्तिम सर्ग में श्रीकृष्ण के युद्धवर्णन के समय श्रीकृष्ण ने जब शिशुपाल पर मेधास्त्र छोड़ा तो मेधास्त्र में जलती हुई अग्नि को बुझाने के लिए प्रलयकाल के आप्लाव (समस्त भूमि का जल में डूबना) की कल्पना करना इस आख्यान की ओर संकेत करता है।[20] श्रीहर्ष के नैषधमहाकाव्य में विष्णु के मत्स्यवतार का उल्लेख है कि मत्स्य रूप विष्णु ने मनु को उपदेश दिया था।[21] इक्कीसवें सर्ग में मत्स्य रूप में निहित विष्णु के समुद्री जल को पूछँ से उछालने का वर्णन प्राप्त होता है।[22]

जल प्लावन की कथा केवल संस्कृत साहित्य में नहीं अपितु अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भी इस कथा का विवेचन हुआ है। ईसाइयों के धार्मिक ग्रन्थ बाइबिल में भी इस कथा का उल्लेख है मनु के स्थान पर नूह नामक व्यक्ति का उल्लेख प्राप्त होता है।[23] इस्लाम धर्म के धार्मिक ग्रन्थ में भी यह कथा विस्तार से उपलब्ध होती है। कुरान शरीफ में यह कथा बाइबिल के समान ही है।[24] ईश्वर में अविश्वास करने वाले लोगों का विनाश करने के लिए जलप्लावन का होना इन ग्रन्थों में बतलाया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जल प्लावन की कथा संसार के अधिकतर साहित्य में उपलब्ध होती है। मूलकथा प्राय: एक ही है अन्तर केवल इतना है कि

नायक भिन्न-भिन्न हैं। नौका जिस पर्वत पर जाकर रूकी उस पर्वत के नाम में भी भिन्नता है। शतपथ ब्राह्मण ने इस कथा को यज्ञीयपरक में परिणत का दिया है। मनु एक यज्ञस्त्रष्टा व्यक्ति है। विपत्ति में पड़कर उसके बाद यज्ञीय छवि से ही वे प्रजा और पशुओं की समृद्धि करते हैं। इसी कारण कथा का प्रतिफलन इडायज्ञ की प्रेरणा में होता है।

पुराणों में यह कथा विष्णु के मत्स्यवतार के रूप में विवेचित है। महाभारत में इसका आख्यान रूप में उल्लेख हुआ है। महाकाव्यों का उपजीव्य ग्रन्थ रामायण, महाभारत एवं पुराण है। अतः महाकाव्यों में इस कथा के वर्णन सांकेतिक रूप में हुआ है।

अन्य धार्मिक ग्रन्थों में जलप्लावन का कारण तत्कालीन जनता का दुष्कर्मों पापाचरों एवं अनैतिक आचरणों में लीन होकर ईश्वर में अविश्वास करना बतलाया गया है।

निष्कर्ष स्वरूप ये कहा जा सकता है कि इन आख्यानों का बील मूल रूप से संहिताओं ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। महाभारत तथा पुराणों में इन आख्यानों का विकास किया गया है। परवर्ती संस्कृत साहित्य के कवियों ने इनका संकेत किया है।

पी.डी.एफ., संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. चक्षिङ् ख्याय। पाणिनी अष्टाध्यायी 2.4.54.12
2. शौनः शेपम आख्यानम्। ऐतरेय ब्राह्मण 7.18
3. त्रयो होद्‌गीथे कुशला बभूबः शिलकः शाला वत्यश्चौकितायनो वालभ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति ते होचुरूद्‌गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्‌गीथे कथां वदाम इति। छन्दोग्योनिषद् 1.8.1
4. एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः।
   प्रत्याहरत विस्त्रन्थं बलं विष्णो प्रवर्धताय।
   रामायण युद्धकाण्ड 128.121
5. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासम् पुरतनम्।
   जनमेजयस्य राजर्षे सर्पसत्रे महात्मनः।
   कृष्णद्रैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः।
   महाभारत आदिपर्व 1.10
6. शब्दकल्पद्रुम, भाग-1, पृष्ठ-165
7. आख्यान पूर्ववृत्तोदितः पुरावृत्तमआख्याम्।
   आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश - पृष्ठ 241
8. आख्यानं तु हये जाये विलापः स्यान्नदस्य मा।
   अवीरामात्मनः श्लाधा सुदेव इति तु स्पृहा।।
9. शतपथ ब्राह्मण 1.8.1.1-11
10. वही
11. अग्निपुराण 2.1-17
12. भागवतपुराण 8.24
13. भविष्यपुराण 1.20
14. विष्णु धर्मपुराण 1.77
15. तदा हि तज्जन्मनि तस्य राज्ञो मनोरिवादित्य सुतस्यराज्ये। चचार हर्षः प्राणनाराः पात्मा जज्ज्वाल धर्मः कलुषः शशाम।। बुद्धचरित 2.16
16. अपि च स्वतोऽपि परतोऽपि न अयमभवन्न दैवतः।
    तत्र च सुसुखसुभि क्षगुजैर्जघृषु प्रजा कृतयुगे मनोरिव।।
    सौन्दरनन्द 3.14
17. बैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
    आसीन्महीक्षितामाघः प्रणवरछन्दसामिव।।
    तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
    दिलीप इति राजेन्दुरिन्दु क्षीरनिधाविव।।
    रघुवंश 1.11-12
18. युगान्तकाल प्रति संहृतात्मनो जगन्ति पस्थां सविकास मासत्।
    तनौ ममुस्तत्र न कैटभदिषस्तपोधनाभ्यागम् सम्भवाः मुदः।।
    शिशुपालवधम् 1.23
19. न शून्यतामगमदसौ निवेशभूः प्रभूततां दधति वसे चलत्मपि। पयस्यभिद्रवति भुवं युगावधौ सरिक्ष्पतिर्न समुपैति रिक्तताम्।। वही, 17.40
20. ज्वलतः शमनाय चित्रभानोः प्रलयाप्लावमिबाभी दर्शयन्तः।
    ववृषुर्वषनादिनो नदीनां प्रतटारोपितवारि वारिवाहा।।
    वही, 20.70
21. मत्स्यस्थाप्युपदेश्यान्वः। नैषधीयचरितम् 17.64
22. छदममत्स्यवपुषस्तव पुच्छास्कालनाज्जलमिवोद्धतमब्धेः।
    श्वैत्यमेत्य गगनरदणसङगादाविसरास्ति विवुधालयगङ्गा।
    वही, 21.53
23. बाइबिल जेनिसिस 6.8-10, 18
24. कुरान शरीफ 12.11.44

राजनीतिक षड्विध कूटनीति

डॉ. इंदु सोनी

षड्विध कूटनीति को **'षड्गुण्य'** भी कहा जाता है। सर्वप्रथम हमारे शास्त्रों के अनुसार इन कूटनीतिक संदर्भो को जानने की आवश्यकता है। यह राजा की स्थिति को दृढ़ करने में सहायक है, जिससे राज्य को उन्नति, प्रसार के साथ-साथ सुरक्षा प्राप्त होती है। व्यक्तियों और राष्ट्रों के आपसी व्यवहार में दांव-पेंच की नीति ही कूटनीति कहलाती है। ये षड्विधसंधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव हैं जो अपने राज्य की रक्षा के लिए पड़ोसी शत्रु तथा मित्र दोनों के साथ अपनाए जाते हैं। भारतीय राजशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त एवं विचारकों ने यह स्पष्ट किया है कि ये गुण अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं-

मनु के अनुसार भी राजा को इन छः गुणों का प्रयोग करना चाहिए। **रामायण, पुराणों**[1] में भी राजा से अपेक्षा की गई है कि वह इन छः गुणों में निपुण हो इसकी शिक्षा राजा को बाल्यावस्था से ही दी जानी चाहिए।[2] **महाभारत** के अनुसार राजा को अपने आस-पास व दूर स्थित राज्यों की अधीनता को बनाए रखना है, तो उसे सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव व समाश्रय इन छः गुणों का यथावसर प्रयोग करना चाहिए।[3] शान्ति पर्व में कहा गया है कि इन छः गुणों को अच्छी प्रकार से जानने वाला राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का उपभोग कर सकता है।[4] कौटिल्य, शुक्राचार्य, कामन्दक ने भी इन गुणों के चिन्तन को परम आवश्यक माना है। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में राजनीति को 6 गुणों वाली बताया है।[5] कौटिल्य ने इन षड्गुणों के प्रयोग के प्रत्येक सिद्धान्त का उल्लेख किया है-उनके अनुसार शत्रु मजबूत हो तो **संधि** कर लेनी चाहिए। स्वयं के बलवान होने पर **विग्रह** करना चाहिए। शत्रुबल आत्मबल समान हो तो **आसन** अपनाना चाहिए। शत्रु की तुलना में स्वयं अशक्त होने पर **संश्रय** से काम लेना चाहिए। यदि स्वयं को शत्रु से थोड़ा निर्बल समझे तो सन्धि और विग्रह दोनों का साथ में सहारा लेते हुए **द्वैधीभाव** को अपनाना चाहिए।[6] अब इनका सविस्तार वर्णन करते हैं-

1. संधि :

राजनीति में सदैव सेसंधि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कौटिल्य के अनुसार राजा को युद्ध के समय अपनी स्थिति शत्रु से कमजोर लगे तो पहले संधि करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिन शर्तो पर एक राजा का दूसरे राजा से मेल होता है, उसे संधि कहते हैं।[7] भारवि ने भी यही लिखा है कि अपने से बलवान शत्रु के साथ संधि करनी चाहिए।[8]

कौटिल्य ने संधि के 16 भेदों का उल्लेख किया है, ये हैं- (1) **कपाल** (2) **उपहार** (3) **सन्तान** (4) **संगत** (5) **उपन्यास** (6) **प्रतीकार** (7) **संयोग** (8) **पुरुषन्तर** (9) **अदृष्टनर** (10) **आत्ममिष** (11) **उपग्रह** (12) **परिक्रय** (13) **अदिष्ट** (14) **उच्चिन्न** (15) **परिभूषण** (16) **स्कन्धोपनेय।** इन्हीं सोलह भेदों का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कामन्दक ने 20 भेद बताए है। इस प्रकार कौटिल्य ने राजा के द्वारा सन्धि किए जाने की प्रत्येक परिस्थिति का वर्णन किया है। उन्होंने कहा कि राजा को अगर यह लगता है कि वह सन्धि करके बड़े-बड़े कार्य या शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकेगा, तो उसे सन्धि कर लेनी चाहिए तथा शत्रु से संधि करने के उपरान्त शत्रु का विश्वास पात्र बनकर उसकी गुप्तचर व्यवस्था में सेंध लगानी चाहिए तथा स्वयं की स्थिति दृढ़

दिखने पर शत्रु का नाश कर देना चाहिए।[9] कौटिल्य ने सन्धि उसी अवसर पर उपयुक्त मानी है, जब उसका शत्रु सबल हो और उसे हानि पहुँचाने की स्थिति में हो। इस प्रकार राजा शत्रु से मिलकर उसकी शक्ति को हीन करने का कार्य करे तथा शत्रु के साथ सन्धि होने पर भी उसका विश्वास न करे। कौटिल्य ने मुख्य रूप से तीन प्रकार की संधि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है –

(क) दण्डोपनत सन्धि : यह भी तीन प्रकार की होती है–

I. अमिष सन्धि : जब राजा सबल शत्रु को कथनानुसार सेना और धन देकर समर्पण करे।

II. पुरुषान्तर सन्धि : जब सेनापति या राजकुमार को शत्रु की सेना में पेश किया जाता है, यहाँ राजा स्वयं शत्रु के दरबार में जाने से अपनी रक्षा करता है। इसे आत्मरक्षण सन्धि भी कहते हैं।

III. अदृष्ट पुरुष सन्धि : जब शत्रु के कार्यसिद्धि हेतु राजा कहता है कि मैं अकेला ही जाऊँगा या मेरी सेना ही जायेगी। इस सन्धि में मुख्य सैनिकों या राजा की रक्षा हो पाती है। इसे दण्डमुख्यात्मक रक्षण सन्धि भी कहते हैं।

(ख) कोशोपनत सन्धि : इसके भी चार भेद बताए है –

I. परिक्रम्य सन्धि : जब राजा द्वारा शत्रु से अपने अमात्य आदि जनों को धन देकर छुड़ाया जाए।

II. उपग्रह सन्धि : जब स्वयं राजा के पास इतना धन न हो कि वह सन्धि कर पाए, तो उस धन की अदायगी किस्तों में देने की शर्त पर यह सन्धि की जाती है।

III. सुवर्ण सन्धि : नियत समय पर धनराशि देने को सुवर्ण सन्धि या कन्यादान सन्धि भी कहा जाता है।

IV. कपाल सन्धि : जब धनराशि तत्काल अदायगी की शर्त हो।

(ग) देशोपनत सन्धि : इसे भूम्युपनत सन्धि भी कहते हैं, यह चार प्रकार की होती है –

I. अदिष्ट सन्धि : भूमि का कुछ भाग देकर की जाती है।

II. उच्छिन्न सन्धि : राजधानी व दुर्गों को छोड़कर सारहीन भूमि शत्रु को दे देना।

III. अपक्रय सन्धि : भूमि की पैदावार या फसल को देकर जब भूमि छुड़ा ली जाए।

IV. परदूषण सन्धि : जब भूमि की पैदावार के साथ और राशि भी देनी पड़े तो इसे परदूषण सन्धि कहते हैं।

इसके अतिरिक्त भी अन्य सन्धियों पर विचार किया गया है यथा– सम सन्धि, विषम सन्धि, परिपणित सन्धि, अति सन्धि, भूमि सन्धि, कर्म सन्धि। अतः युद्ध की विनाशकारी स्थिति से बचने के लिए सन्धि का प्रयत्न किया जाता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सन्धि–

अन्तरराष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत दो या अधिक देशों या अन्य संगठनों के बीच हुए समझौते को सन्धि (treaty) कहते हैं। यह एक अनुबंध होता है, जिनके अनुसार संबंधित पक्षों के प्रति परस्पर अधिकार कर्तव्य के दायित्व की पूर्ति होती है, जिससे विभिन्न राज्य अपने अंतरराष्ट्रीय जीवन का व्यवहार संतुलित करते हैं।

क्विन्सी राइट (Quincy Wright) के अनुसार–किसी सन्धि वार्ता या लेन–देन में चातुर्य, धोखेबाजी एवं कुशलता का प्रयोग है। अपने विशेष अर्थ में यह सन्धि–वार्ता की वह कला है जो युद्ध की सम्भावनापूर्ण राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति कर सके। (Diplomacy in the popular sense means the employment of tact, shrewdness and skill in any negotiation or transaction. In the more special sense used in international relations it is the art of negotiation, in order to achieve the maximum of group objectives with a minimum of costs)[10].

संधियों को ट्रीटी, (अन्तरराष्ट्रीय) समझौता, प्रोटोकोल, कान्वेन्सन, एकॉर्ड तथा मेमोरैण्डम ऑफ् अन्डर्स्टैण्डिंग आदि नामों से भी जाना जाता है। भारत के सम्बन्ध में संधि के उदाहरण हैं– 1890–ब्रिटिश भारत और चीन संधि, 1960–भारत पाक सिंधु जल संधि, 1972–शिमला समझौता आदि। वैज्ञानिक दृष्टि से संधि को आधुनिक काल में दो राज्यों में शान्तिपूर्ण समझौते के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

चीन ने दिसंबर 2017 में श्रीलंका को 1.2 अरब डॉलर का कर्ज/मदद देकर बदले में उससे हंबनटोटा बंदरगाह 99 वर्षों के लिये लीज (किराये) पर लिया, ये बंदरगाह सामरिक रूप से काफी महत्वपूर्ण है और भारत के लिए भी ये बड़ी चिंता का विषय है।

इस प्रकार प्राचीन समय से वर्तमान तक इस गुण को राजनीति में प्रयोग किया जा रहा है, हालाँकि स्वरूप में कुछ परिवर्तन आ गया है, परन्तु मूलाधर वही प्राचीन है।

2. विग्रह :

विग्रह का शाब्दिक अर्थ है–**वैर**[11] अर्थात् विग्रह के द्वारा राजा अपने शत्रु के अपकार करने में लग जाता है। कौटिल्य के अनुसार भी शत्रु का अपकार या विरोध करना विग्रह कहलाता है।[12] नीतिवाक्यामृत के अनुसार शत्रु की हानि और हिंसा करना ही विग्रह है।[13] विग्रह सदैव अपने से **न्यून शक्ति वाले से** करना उचित है। अग्निपुराण[14] के अनुसार विजिगीषु राजा को अपने अभ्युदय की कामना रखते हुए, अनुकूल परिस्थिति, सैनिक, सम्पन्न, शक्ति के साथ तथा जब शत्रु की परिस्थितियाँ इसके विपरीत हों तो विग्रह करना चाहिए। कामन्दक[15] के अनुसार दो क्रोधित व्यक्तियों का आपस में अपकार में लग जाना ही विग्रह है।

कौटिल्य के अनुसार शत्रु की निर्बल स्थिति में विजिगीषु राजा को अपनी युद्ध व्यवस्थाएँ पूर्ण करते हुए विग्रह करना चाहिए, यदि आवश्यकता पड़े तो विग्रह से पूर्व राज्यमण्डल के मित्र राज्यों से सहायता भी प्राप्त कर लेनी चाहिए। यदि राज्य में आयुध जीवी कृषक अधिक है, पहाड़, नदी, जंगल, किले तथा आने–जाने का एक ही मार्ग है जिससे शत्रु का प्रतिकार करने में मेरा देश समर्थ है, तो ऐसे शत्रु पर विग्रह करना चाहिए।[16] विग्रह के समय राजा को उत्साह शक्ति, प्रभु शक्ति तथा मंत्रशक्ति इन तीनों शक्तियों से युक्त होना चाहिए यहाँ उत्साहित शक्ति से अभिप्राय है– आवश्यक **नैतिक** बल। प्रभु शक्ति से अभिप्राय है- **अस्त्र** शक्ति से सम्पन्न। मंत्र शक्ति से अभिप्राय है- **कूटनीति** में निपुणता के साथ युद्ध करना। इसके साथ युद्ध के भी तीन प्रकार बताए हैं–

I. प्रकाश युद्ध : जब युद्ध को घोषणा के साथ प्रारम्भ कियाजाए।

II. कूट युद्ध : जब युद्ध की वास्ततिक स्थितियों को छुपाकर, यथा–अपनी थोड़ी सेना को भी अधिक दिखाकर तथा शत्रु की गतिविधियों का गुप्तचर व्यवस्था से ध्यान रखते हुए शत्रु की कमजोर स्थिति होने पर उस पर हमला कर देना 'कूटयुद्ध' कहलाता है।

III. तुष्णि युद्ध : शत्रु का विनाश विष, औषधि या गुप्तचरों के माध्यम से धोखे का प्रयोग करते हुए कर देना, तुष्णि युद्ध कहलाता है।

इस प्रकार राजा को विग्रह गुण का सहारा लेकर शत्रु राजा पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। परन्तु इस गुण का आश्रय राजा को तभी करना चाहिए, जब अन्य उपाय काम न करे।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विग्रह–

वर्तमान की राजनीतिक व्यवस्था में हमें कूट और तुष्णि युद्ध देखने को मिलता है, प्रकाश युद्ध के उदाहरण बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं, क्योंकि प्रकाशित अवस्था में होने वाला युद्ध दूसरे देशों के साथ सामरिक रिश्तों में दिवार बनने का कार्य करता है। इसलिए भारत की राजनीतिक अवस्था का वर्तमान परिदृश्य कूट और तुष्णि युद्ध के साथ है।

3. आसन :

'उपेक्षणमासनम्' आसन का अभिप्राय है- युद्ध के उचित अवसर की प्रतीक्षा में अपनी सेना को सन्नद रखना अथवा शत्रु के प्रति उदासीन (तटस्थता) नीति का सहारा लेना। यह स्थिति यान से पूर्व की है। अग्निपुराण[17] में कहा गया है कि जब विजिगीषु और शत्रु दोनों एक–दूसरे की शक्ति का विघात न कर सकने की स्थिति में हो तब आक्रमण न करने की वह स्थिति 'आसन' कहलाती है अर्थात् शत्रु बल तथा आत्मबल में समानता की स्थिति में आसन विधि को अपनाया जाना चाहिए। शुक्राचार्य के अनुसार विजिगीषु राजा को शत्रु की सेना का भेदन करने के लिए गुप्तचर तथा अस्त्रों के माध्यम से घेरा डालकर रखना चाहिए तथा सही समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।[18] कामन्दक ने आसन के पाँच भेद बताए हैं–

I. विगृह्यासन : जब एक, पक्ष दूसरे को थोड़ी हानि पहुँचाकर युद्ध से विरत होकर बैठे जाए।

II. सन्ध्यासनध्सन्धाय आसन : जब दोनों पक्ष बलशाली होने की स्थिति में युद्ध छिड़ने पर समान रूप से क्षीण होने लगे तब परस्पर सन्धि करके बैठ जाना।

III. सम्भूयासन : जब विजिगीषु और शत्रु को मध्यस्थ से समानरूप से आक्रमण की शंका हो, तब दोनों का मिलकर बैठ जाना।

IV. प्रसंगासन : जब विजिगीषु राजा शत्रु पर आक्रमण करने की इच्छा रखते हुए भी, किसी विशेष प्रयोजन के लिए अन्यत्र बैठ जाए।

V. उपेक्षासन : जब राजा अधिक शक्तिशाली शत्रु की उपेक्षा करके अपने स्थान पर बैठा रहे, तब उपेक्षासन कहलाता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आसन–

यह एक प्रकार से ये शीत युद्ध की स्थितियाँ होती हैं

कि एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करने की जगह अपने स्थान पर शत्रु का सामना करने को तैयार रहता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह स्थिति हमारी सीमाओं पर दिखलाई पड़ती है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति अभी भी बदलाव के दौर से गुजर रही है। इसके बदलाव की प्रक्रिया अभी स्थाई रूप से स्थापित नहीं हुई है। अपितु यह अपने विषय क्षेत्र के बारे में आज भी नवीन प्रयोगों एवं विषयों के समावेश से जुड़ी हुई हैं, जैसे-जैसे अंतरराष्ट्रीय राजनीति में बदलाव आता है उसके अध्ययन एवं सामान्यीकरण हेतु नये उपागमों की आवश्यकता होती है। उदाहरणस्वरूप, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जहां यथार्थवाद, व्यवस्थावादी, क्रीड़ा, सौदेबाजी तथा निर्णयपरक उपागमों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार अब उत्तर शीतयुद्ध युग में उत्तर आधुनिकरण, विश्व व्यवस्था, क्रिटिकल सिद्धान्त आदि की उत्पत्ति हुई। भावी विश्व में भी वैश्वीकरण व इससे जुड़े मुद्दों पर नये उपागमों के कार्यरत होने की व्यापक सम्भावनाएँ हैं।

वर्तमान अंतरराष्ट्रीय राजनीति न तो पूर्ण रूप से सहयोग तथा न ही पूर्ण रूप से संघर्षों पर आधारित है। अतः मतभेद व सहमति अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सहचर हैं। इन दोनों की उपस्थिति का अर्थ है- यहां युद्ध व शान्ति दोनों की प्रक्रियाएँ विद्यमान हैं। विभिन्न मुद्दों पर आज भी राष्ट्रों के मध्य युद्ध के विकल्प को नहीं त्यागा है। शीतयुद्ध के साथ-साथ राज्यों के बीच प्रत्यक्ष युद्ध आज भी हो रहे हैं। बल्कि वर्तमान विज्ञान के विकास व हथियारों के अति आधुनिकतम रूप के कारण आज युद्ध और भी भयानक हो गए हैं। वर्तमान युद्ध दो राष्ट्रों के लिए ही घातक नहीं, अपितु, सम्पूर्ण मानवता का विनाश भी कर सकते हैं।

4. यान :

यह आसन के बाद की स्थिति होती है, जब शत्रु पर उसके नाश के लिए आक्रमण किया जाता है, तो यह स्थिति यान कहलाती है।[19] शुक्राचार्य के अनुसार शत्रु के विनाश के लिए अपनी सेनाओं का संचालन ही यान कहलाता है। यान गुण की नीति के लिए राजा को पहले अपनी शक्ति में वृद्धि करने के साथ-साथ शत्रु की शक्ति को क्षीण भी करना चाहिए। रामायण, महाभारत, पुराण आदि अनेक ग्रन्थों में भी यान के विषय में वर्णन मिलता है। महाभारत[20] के अनुसार शत्रु पर अभियान करने पर निश्चिय ही सफलता प्राप्त होती है। कौटिल्य के अनुसार भी इस नीति को राजा को तभी अपनाना चाहिए, जब अपनी स्थिति सुदृढ़ हो अर्थात् जब राजा आसन की स्थिति में अपने आप को सुदृढ़ बना ले, अपनी रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर ले, तब यान का आश्रय लेना चाहिए। जब शत्रु राजा उत्साहहीन हो, व्यसनों से घिरा हो, सेना उसके आदेश का पालन न करे, परस्पर कलह हो, प्रजा विरक्त हो गई हो आदि स्थितियों में भी विग्रह करके यान गुण नीति को अपनाना चाहिए। कामन्दक, शुक्राचार्य, अग्निपुराण आदि में यान के आसन के ही समान पाँच भेद माने हैं-

- **I.** विग्रहयान
- **II.** सन्धाययान
- **III.** सम्भूययान
- **IV.** प्रसंगयान
- **V.** उपेक्षायान।

आसन में इन स्थितियों को स्पष्ट कर दिया गया है, अतः राजा को इन स्थितियों से गमन करते हुए यान गुण का सहारा लेना चाहिए। अतः राजा को शत्रु को उसी प्रकार वश में करना चाहिए, जिस प्रकार स्थल पर भारतीय राजशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त एवं विचारक मगरमच्छ हाथी के वश में परन्तु जल में हाथी मगरमच्छ के वश में होता है तथा जिस प्रकार रात्रि में कौआ उल्लू के अधीन तथा दिन में उल्लू कौआ के अधीन हो जाता है। उसी प्रकार राजा को देश-काल का विचार करते हुए शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यान-

प्राचीन साहित्यिक विचारधारा को पढ़ चुके हैं, वर्तमान और भविष्य में ये स्थितियां ज्यादा भयंकर हो सकती हैं। क्योंकि वर्तमान कालिक स्थितियों में युद्ध व शान्ति दोनों की प्रक्रियाएँ विद्यमान हैं। शीतयुद्ध के साथ-साथ राज्यों के बीच प्रत्यक्ष युद्ध आज भी हो रहे हैं। विज्ञान के विकास व हथियारों के अति आधुनिकतम रूप के कारण आज युद्ध और भी भयानक हो गए हैं। इसीलिए कहा जा रहा है कि वर्तमान युद्ध दो राष्ट्रों के लिए ही घातक नहीं, अपितु, सम्पूर्ण मानवता का विनाश भी कर सकते हैं।

भारत का अपने पड़ोसी देश पाकिस्तान के साथ एक तनाव भरा संबंध है और दोनों देशों के बीच चार (1947, 1965, 1971 और 1999) बार युद्ध हुआ है। कश्मीर विवाद इन युद्धों का प्रमुख कारण था। 1947 में अपनी स्वतंत्रता के बाद से, भारत ने अधिकांश देशों के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध बनाए रखा है। वैश्विक मंचों पर भारत

सदा सक्रिय रहा है। 1990 के बाद आर्थिक दौर में भी भारत ने विश्व को प्रभावित किया है।

सामरिक तौर पर भारत ने अपनी शक्ति को बनाए रखा है और विश्व शान्ति में यथासंभव योगदान करता रहा है। पाकिस्तान व चीन के साथ भारत के संबंध कुछ तनावपूर्ण अवश्य हैं किन्तु रूस के साथ सामरिक संबंधों के अलावा, भारत का इजरायल और फ्रांस के साथ विस्तृत रक्षा संबंध है।

5. संश्रय :

''शक्तिहीनः संश्रयेत्'' विपत्ति की स्थिति में अपने से अधिक बलवान राजा का आश्रय लेना ही संश्रय या समाश्रय कहलाता है। महाभारत के अनुसार यदि राजा को शत्रु से मान-मर्दन की सम्भावना हो तो, अपने दूसरे मित्र की शरण लेनी चाहिए। कामन्दक[21] ने असमर्थ राजा के द्वारा कुलीन, चरित्रवान, सत्यशील, बलवान राजा से आश्रय ग्रहण करने को संश्रय कहा है। शुक्राचार्य[22] ने भी इसे आश्रय कहा है। संश्रयगुण नीति को सबसे अधम माना गया है—**संश्रयस्तेन वक्तव्यो गुणानामधमो गुणः।**[23]

पुराणों के अनुसार संश्रय नीति का आश्रय राजा को तभी लेना चाहिए, जब राजा की स्वयं की शक्ति बिल्कुल नष्ट हो गई हो तथा शरण लेने से अधिक लाभ की संभावना हो। महाभारत[24] में इसका उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार नेवला, उल्लू और शिकारी से बचने के लिए चूहा बिल्ली का आश्रय ले लेता है, उसी प्रकार संकट पड़ने पर बलवान पुरुष को भी अपने निकटवर्ती शत्रु से आश्रय या मित्रता कर लेनी चाहिए।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संश्रय -

वर्तमान में प्रत्येक राष्ट्र को अपनी सामरिक आवश्यक्ताओं की पूर्ति के लिए दूसरे राष्ट्र की आवश्यकता पड़ती है। इस संदर्भ में भारत ने भी सदैव स्वयं दूसरे देशों के साथ आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा सैनिक विषयों पर पालन की जाने वाली नीतियों को अपनाया है।

मॉडलस्की ने विदेश नीति को परिभाषित करते हुए कहा था यह ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा एक राज्य दूसरे राज्यों के व्यवहार को बदलने तथा उनकी गतिविधियों को अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में ढालने की कोशिश करता है। संश्रय का उद्देश्य दूसरों के व्यवहार का परिवर्तन के साथ-साथ दूसरे राज्यों की गतिविधियों का नियंत्रण करना भी है। यह नीति परिवर्तन एवं यथास्थिति दोनों प्रकार की नीतियों का समन्वय होता है। **फेलिम्स ग्रास** तो कहते हैं कि कई बार किसी राज्य के साथ कोई संबंध न होना या उसके बारे में कोई निश्चित नीति न होना भी नीति कहलाता है। इस प्रकार संश्रय नीति के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पहलू होते हैं। यह सकारात्मक रूप में जब होती है जब वह दूसरे राज्यों के व्यवहार का प्रयास करती है तथा नकारात्मक रूप में तब होती है जब वह दूसरे राज्यों के व्यवहार को परिवार्तित करने का प्रयास करती है।

1947 में अपनी स्वतंत्रता के बाद से, भारत ने अधिकांश देशों के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध बनाए रखा है। 1990 के बाद आर्थिक तौर पर भी भारत ने विश्व को प्रभावित किया है। सामरिक तौर पर भारत ने अपनी शक्ति को बनाए रखा है और विश्व शान्ति में यथासंभव योगदान करता रहा है। पाकिस्तान व चीन के साथ भारत के संबंध कुछ तनावपूर्ण अवश्य हैं किन्तु रूस के साथ सामरिक संबंधों के अलावाभारत का अमेरिका, जापान, इजरायल, फ्रांस आदि के साथ विस्तृत रक्षा संबंध है।

6. द्वैधीभाव :

''सन्धि विग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति''

द्वैधीभाव का अभिप्राय है- दोहरा आचरण, शत्रु के समक्ष दोहरी नीति का आचरण करना अर्थात् मन में एक प्रकार का भाव तथा बाहर दूसरे प्रकार का भाव रखते हुए कपटपूर्ण नीति का आश्रय लेना। यह द्वैधी भाव अनेक प्रकार से हो सकता है, यथा - ऊपर से शत्रु के प्रति मित्रता प्रकट करते हुए उसके प्रति विश्वास उत्पन्न कर, अवसर पाकर उनका विनाश कर देना अथवा शत्रु के प्रति आत्मसमर्पण करके भी कौए के समान अपनी कूटनीतियों को जारी रखना[25] अर्थात् वह कौए की आँख के समान व्यवहार करते हुए करे कुछ परन्तु दिखाई कुछ ओर ही दे तथा उचित समय पाकर शत्रु का नाश कर दे।[26] पूर्ववर्ती आचार्यो ने इसे अलग-अलग प्रकार से स्पष्ट किया है, यथा-कामन्दक[27] के अनुसार दो तरह का द्वैधीभाव है-

I. स्वतंत्र द्वैधीभाव : जो अपने अधीन रहकर द्वैधीभाव काआश्रय लेता है।

II. परतंत्र द्वैधीभाव : जो दूसरे के अधीन रहकर द्वैधीभाव का आश्रय लेता है।

कौटिल्य के अनुसार द्वैधीभाव का अभिप्राय है-एक ही समय में सन्धि और विग्रह दोनों करना अर्थात् एक राजा से सन्धि कर उसकी सेना की सहायता से अपने शत्रु पर

विग्रह कर नाश कर देने को द्वैधीभाव कहते हैं। इस नीति में शक्तिशाली राजा से सन्धि कर दुर्बल राजा से विग्रह किया जाता है। शुक्राचार्य[28] के अनुसार द्वैधीभाव का अभिप्राय है–सेना को दो भागों में बांटकर रखना। राजा तथा प्रजा, सेनापति और मंत्री में फूट डाल देना भी द्वैधीभाव गुण ही है, जिसका आश्रय लेकर शत्रु को असहाय कर दिया जाता है। महाभारत[29] के अनुसार शत्रु सेना में भेद डालना द्वैधीभाव है। राजा को तीखी चोंच वाले पक्षी के समान शत्रु के साधन और साध्य पर आघात करना चाहिए। मनुस्मृति[30] के अनुसार राजा और उसके नेतृत्व दल को दो दलों में बाँट देना द्वैधीभाव है।

इस प्रकार द्वैधीभाव से दोहरी नीति का आश्रय लिया जाता है। आचार्यों का यह भी मत रहा है कि यदि राजा को संश्रय तथा द्वैधीभाव में से किसी एक का चयन करना हो, तो उसे संश्रय को छोड़कर द्वैधीभाव नीति को अपनाना चाहिए।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में द्वैधीभाव –

वर्तमान में पाकिस्तान के संदर्भ में भारतीय विदेश नीति अपने चरम पर है। भारतीय कूटनीति गूढ़ योजना एवं मजबूत इरादे के साथ पृष्ठभूमि में काम कर रही थी। कूटनीति की सफलता इसी बात में है कि दुश्मन को चाल के पीछे छिपे इरादों का पता नहीं लगना चाहिए। भारतीय प्रधानमंत्री ने अमेरिका, रूस और जापान के राष्ट्राध्यक्षों के साथ व्यक्तिगत मित्रता बनाकर भारत के लिए उनका बिना शर्त समर्थन हासिल किया। तदुपरांत एक–एक करके पाकिस्तान के सभी मित्र देशों से अपने संबंध मजबूत किए विशेषकर खाड़ी के देशों से जिनमें सऊदी अरब, यूएई और कतर जैसे देश शामिल हैं। साथ–साथ ही पाकिस्तान को उसके पड़ोसी देशों के माध्यम से चारों ओर से घेरा। पाकिस्तान के दक्षिण पश्चिम में ईरान, पश्चिम में अफगानिस्तान, उत्तर में ताजीकिस्तान तथा पूर्व में भारत स्थित है। अफगानिस्तान, ईरान से कोई मैत्रीपूर्ण संबंध नहीं बचे हैं। ताजिक और पाकिस्तानियों में कभी बनी ही नहीं। दूसरी ओर ये तीनों देश अब भारत के मित्र बन चुके हैं। अफ्रीकी और लेटिन अमेरिकी देश जो अभी तक आतंक और आतंकवादियों को प्रश्रय की समस्या से अलग थे उनका भी समर्थन भारत ने प्राप्त कर लिया। पाकिस्तान अपनी नीतियों से आत्मविनाशकारी ढलान पर तेजी से लुढ़क रहा है। सेना और सिविल सरकार द्वारा विपरीत दिशा में प्रयास किए जाने से उनके परिणाम निष्फल हो जाते हैं।[31]

इस प्रकार से किये जाने वाली रणनीतियां शत्रु पक्ष को कमजोर करने के साथ उसे तोड़ने का कार्य करती हैं। ये कूटनीतियां प्राचीन राजशास्त्र में राजा के द्वारा अपनाई जाती हैं तथा वर्तमान में अलग–अलग व्यवस्थित राष्ट्राध्यक्षों द्वारा अपनाई जा रही है।

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने षड्‌गुण को एक मंत्र की तरह माना है, जिसकी शिक्षा हर राजा के लिए अनिवार्य है, जो कि वर्तमान राजनीति में भी कारगर साबित होती है। अतः यह विवरण व्यावहारिक एवं यथार्थवादी है, जिसे राजा को यथा स्थिति अपनाना चाहिए। जहाँ शत्रु शक्तिशाली हो वहाँ सन्धि करनी चाहिए। जहाँ शत्रु निर्बल हो वहाँ विग्रह करना चाहिए। जब शक्ति बराबर हो तो आसन की नीति अपनानी चाहिए तथा अपनी शक्ति को मजबूत कर यान की नीति का अनुसरण करना चाहिए। जब शत्रु अत्यन्त शक्तिशाली हो तो दूसरे राजा की शरण लेनी चाहिए तथा अन्य राजा की सहायता प्राप्त कर अपने शत्रु पर विग्रह कर द्वैधीभाव नीति को अपनाना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार यदि राजा को सन्धि और विग्रह में से एक का चयन करना हो तो सन्धि का चयन करना चाहिए। इसी प्रकार यान और आसन में दोनों से समान लाभ हो तो आसन नीति अपनानी चाहिए तथा जब संश्रय और द्वैधीभाव से समान लाभ हो तो द्वैधीभाव नीति को अपनाना चाहिए।

अतः उपर्युक्त आचार्यों ने किसी एक नीति का पक्ष न लेकर, परिस्थिति के अनुसार हर नीति का अनुसरण करने के बारे में कहा है, क्योंकि विजिगीषु राजा को उसी नीति को अपनाना चाहिए, जिससे शत्रु का नाश तथा अपनी प्रजा का कल्याण हो।

असिस्टेंट प्रोफेसर,
जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. मार्क. पु., 24.10
2. भा. पु., 10.45.34
3. महा. आश्र. प., 6.6-7

4. महा. शा. प., 69.66
5. मुद्रा., 1.5
6. अर्थ., 7.1
7. अर्थ., 7.1.6
8. किरात. अ., 1.45
9. अर्थ., 7.1 .33–35
10. https://hi.wikipedia.org/wiki
11. का. नी., 10.1
12. अर्थ., 7.1.98
13. नी. वा., 29.39
14. अग्नि पु., 240.14–15
15. का. नी., 10.1
16. अर्थ., 7.1.2
17. अग्नि. पु., 234.19
18. शु. नी., 4.7.272
19. शिशु., 2.57
20. महा., 5.57
21. का. नी., 11.28
22. शु. नी, 4.7.276–277
23. अग्नि पु., 234.24
24. महा. शा. प., 138.45
25. का. नी., 11.24
26. शु. नी., 4.7.278
27. का. नी., 11.27
28. शुद्र नी, 4.7.277
29. महा. शा. प., 140.49
30. मनु., 7.167
31. https://hi.wikipedia.org/wiki
http://hindi.webdunia.com/current-affairs/india-pakistan-indian-diplomacy-foreign-

आचार्य जगदीशप्रसाद सेमवाल की विशिष्ट लघु रचनाएँ

डॉ. शिक्षा सेमवाल
संकलनकत्री

अन्योक्तयः

सिंह! हता द्विरदास्त्वयका चेद्
गर्वमथापि वहस्व न भूरि।
एष तवैव गृहं परिपृच्छन्
कोऽप्यधुना शरभो भ्रमतीह ।।1।।

हंस! सदा वस मानस एव
नान्यसरोवरमेहि जगत्याम्।
अत्र गणेष्वधिकेषु बकानां
का गणना तव सेत्यवगच्छ।।2।।

रम्यतमेऽपि रसालवनेऽस्मिन्
कोकिल! कूज न वायसमध्ये
घ्नन्ति गुणेष्वसहिष्णुतयाऽमी
त्वामचिरेण न वेत्सि कथं त्वम्।।3।।

चन्द्र! विभास्युडुमध्यगतश्चेत्
मा कुरु गर्वमतुल्यमथापि।
सोऽयमुदेष्यति कान्तिहरस्ते
भानुरवश्यमिहैव निशान्ते।।4।।

पद्मिनि! पश्यसि यस्य चिरेण
मार्गमसौ भ्रमरः पुनरद्य।
अन्यतरां नलिनीं प्रतियातः
कस्य भवन्त्यलयो भुवि मुग्धे!।।5।।

आत्मशरीरविशालतया चेत्
त्वं गजराज! वहस्यतिदर्पम्।
याहि ततो गिरिमेकमितस्त्वं
ज्ञास्यसि तत्र सुनिश्चित – तत्त्वम्।।6।।

पर्वत! रम्यतरोऽसि जगत्यां
दूरत एव परन्तु तथासि।
तत्त्वमवैति स एव जनो य–
स्तत्र सदैव करोति निवासम्।।7।।

चन्द्र! विभाति निशा त्वयका चेद्
गर्वमथापि भजस्व न चित्ते।
आत्मदशामनया रहितां तां
चिन्तय या भवितास्ति निशान्ते।।8।।

पङ्कज! चेद् विधिना त्वयि रूपं
न्यस्तमिदं किमपि स्पृहणीयम्।
विस्मर मा जनकं सहजाँश्च
तेऽपि वसन्ति तवैव समीपे।।9।।

दीपशिखे! दह नैव पतङ्गं
श्लिष्यति यः प्रणयेन तवाङ्गम्
कस्तुलनामधिरोहति लोके
स्नेहिषु तस्य विचारय किञ्चित्।।10।।

पश्य पयोधर! शुष्यति शस्यं
क्षेत्र इहानुदिनं कृषकस्य।

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

तत्र कथं दयसे न दयाब्धे!
त्वं भुवि वर्षसि यन्न चिरेण।।11।।

चातक! केवलमुन्नतियुक्तान्
लुभ्य हृदा न निरीक्ष्य पयोदान्।
उन्नतिमात्रत एव न सर्वे-
ऽन्यस्य जनस्य हरन्ति पिपासाम्।।12।।

दर्शय चातक! नात्यतिदीनां
दृष्टिमिमां पुरतोऽस्य घनस्य।
गर्जति योऽयमजस्रमतीव
वर्षति नैव परन्तु कदापि।।13।।

चुम्बसि पुष्पमुखानि सदैव
तृप्यसि भृङ्ग! तथापि न यत्त्वम्।
चञ्चलता प्रथिता तव तस्मात्
सज्जनतो लभसे गुरुगर्हाम्।।14।।

नाद्य निनादय देवि! विपञ्ची-
मुत्कलिकां सहते न मनो मे।
एकत एष उदेति सुधांशु-
रन्यत ईदृशमाध्वनितं ते।।15।।

चम्पकपुष्पकलिं मृदुलां तां
यामवगच्छसि सा न तथास्ति।
मूढ़! पतङ्ग! न याहि न याहि
मृत्युशिखामिव दीपशिखां ताम्।।16।।

कूप! हरस्यखिलस्य जनस्य
घर्मविवर्धिततीव्रपिपासाम्।
धन्यतमोऽस्यत एव धरायां
नस्ति समस्तव दानिषु कोऽपि।।17।।

क्षुत्परिपीडित एष वनेऽपि
नैव तृणानि जिघत्सति सिंहः।
एकममुं परिपश्यत तत्र
जम्बुकमत्ति न किं किमथासौ।।18।।

जम्बुक! यं भजसे मृगराजं
मांसवसारुधिरादिकलोभात्।
नान्यमृगं स यदाऽत्र लभेत
कस्य बुभुक्षुरथात्स्यति मांसम्।।19।।

कुक्कुरमेष विनिन्दति लोको
नीचमितीर्य सदैव परन्तु।
पश्यति! हन्त न तस्य विशिष्टां
स्वामिनि कामपि भक्तिमतुल्याम्।।20।।

व्याघ्र! निहन्सि मृगान् विपिने त्वं
नित्यमिमान् यदि भोक्तुमनेकान्।
चर्म महार्घमदस्तव किन्तु
ज्ञातमनेन किरातजनेन।।21।।

गर्दभ! भारमिमं वहसे किं?
किं लभसे रजकस्य समीपात?
सन्ति तृणानि वनेऽपि बहूनि
तान्यवगच्छसि किं न मृदूनि।।22।।

बाहुबलार्जितराजपदस्य
सिंह! न कोऽपि तवास्ति समानः
अत्र मनस्विवरेषु विशिष्टां
कीर्तिमिमां तव कोऽस्ति हरेद्या।।23।।

अत्र नदीपुलिने स्वमभीष्टं
धार्मिक! तत्परिरक्ष दधि त्वम्।
ध्वाङ्क्षगणस्य हि धृष्टतरस्य
विद्धि तरुष्विह नित्यनिवासम्।।24।।

याति विहङ्गगणो निजवासम्।
आटामलिनानि मुखानि दिशां च।
पश्चिमदिग्गगनं ननु रक्तं
भानुरसौ सखि! पश्य गतोऽस्तम्।।25।।

पश्य हसन्त्यरविन्दमुखानि
तत्र पतन्ति मुदालिकुलानि।
यान्ति मुखानि मुदं ककुभां च
पूर्वगिरिं परिचुम्बति भानुः।।26।।

जीर्णतरो! परिहाय विहङ्गा-
स्त्वामधुना यदि यान्त्यपरं ते।
ईदृश एव समस्तभवोऽस्ति।
दुःखमतीव वहस्व न तस्मात्।।27।।

मार्गतरो! पथिकः किमु तुभ्य-
मेष ददाति रवेरभितप्तः।
क्लान्तिमपाकुरुषेऽस्य यतोऽस्मै
यच्छसि कामपि शान्तिमिह त्वम्।।28।।

चित्रश्लोकाः

कस्यास्ति दासो निखिलोऽपि लोकः?
स्नेहाच्छिशोः किं कुरुते च माता?
सुरासुराणामपि कोऽस्ति वन्द्यो?
लक्ष्म्याः मुखं चुम्बति चन्द्रमौलिः।।1।।

विकासमायान्ति कदाम्बुजानि?
काऽऽयाति नित्यं दिवसावसाने?
दिवाकरः किं कुरुते निशान्ते?
सूर्योदयो, रात्रि रुदेति भूयः।।2।।

आसीत् पतिः को जनकात्मजायाः?
हतो जटायुर्विपिने च केन?
क्व जायते शस्त्रभृतां परोक्षा?
रामो, हतो पङ्क्तिमुखेन, युद्धे।।3।।

यथार्थमित्रस्य कदा परीक्षा?
गृहं किमस्तीति बुधैः किमुक्तम्?
अग्नौ सुवर्णस्य च जायते किं?
विपत्तिकाले, गृहिणी, परीक्षा।।4।।

विद्या मनुष्यस्य निगद्यते किं?
किं धारयेन्मूर्खजनः सभायाम्?
अत्येति कालो व्यसनेषु केषां?
विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।।5।।

विमुक्तये का कथिता मुनीन्द्रैः?
लब्ध्वाऽपि किं याति नरो न तृप्तिम्?
विद्याधनं कीदृशमुक्तमार्यैर्?
विद्या, धनं सर्वधनप्रधानम्।।6।।

कस्त्रायते पुन्नरकात्स एकः?
कोऽलङ्घयद् वारिनिधिं स एकः?
लङ्काभवत् कस्य च राजधानी?
पुत्रो, हनूमान्? दशकन्धरस्य।।7।।

कः शोभते भर्तुमतीललाटे?
पत्यौ मृते किं भवतीह नारी?
क्व चन्दनं पूजनकृत् स धत्ते?
सिन्दूरबिन्दुर् विधवा, ललाटे।।8।।

पतत्रिणां क्वास्ति निशासु वासः?
क्षणं न जीवन्ति जलं विना के?
कुर्वन्ति शालासु च नागराः किं?
वृक्षेषु, मत्स्याः निवसन्ति पश्य।।9।।

प्रायेण के सन्ति महीधरेषु?
सदैव मत्स्या निवसन्ति कुत्र?
तीर्थेषु किं पापिजनाः भवन्ति?
पाषाणखण्डाः, सलिले, तरन्ति।।10।।

केदार ! विनाशनं प्रणमतामेतत्त्वया किं कृतम्?
पुत्रः कस्यचिदत्र देव ! विगतः कस्यापि पत्नी गता
कस्याश्चिद् विगतः पतिः प्रियतमः कस्यापि बन्धुर्गतः।
माता कस्यचिदत्र देव! विगता कस्यापि मातः पिता
हा! केदार! विनाशनं प्रणमतामेतत्त्वया किं कृतम्?

नाना देशनिवासिनो जनगणा दूरात् स्वगेहात् प्रभो!
द्रष्टुं ते चरणारविन्दयुगलं त्वामागता भक्तितः।
नीता मृत्युमुखं परन्तु सहसा यत्तत्र सर्वेऽपि ते
हा! केदार! विनाशनं प्रणमतामेतत्त्वया किं कृतम्?

कश्चिद् गुर्जरतः स आगत इह द्रष्टुं त्वदीयं पदं
कश्चित्तूत्कलतः स आगत इह प्राप्तु त्वदीयां कृपाम्।
सर्वो यात्रिगणो विनाशित इह व्यादाय रौद्रं मुखं

हा! केदार! विनाशनं प्रमणतामेतत्त्वया किं कृतम्?

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

कश्चिद् गुर्जरतः स आगत इह द्रष्टुं त्वदीयं पदं
कश्चित्तूत्कलतः स आगत इह प्राप्तुं त्वदीया कृपाम्।
सर्वो यात्रिगणो विनाशित इह व्यादाय रौद्रं मुखं
हा! केदार! विनाशनं प्रणमतामेतत्त्वया किं कृतम्?

काश्मीराच्च हिमाचलादथ पुनः पञ्जाम्बुदेशात्तथा
सर्वस्मादपि भारताज्जनगणो भक्त्या प्रपन्नस्तदा।
धृत्वा रौद्रवपुर्झटित्यसमये मृत्योमुखं प्रापितो
हा! केदार! विनाशनं प्रणमतामेतत्तवया किं कृतम्?

गेहं कस्यचिदत्र नाशमगमद् गेही विनष्टः क्वचिन्
नष्टा सा विपणिः क्वचित् क्वचिदसौ मार्गः प्रनष्टोऽखिलः।
प्रध्वस्तास्तटिनीषु येऽपि विहिताः सर्वेऽपि ते सेतवः
सर्वस्वं क्वचिदत्र कस्यचिदपि ध्वस्तं त्वया तत्क्षणात्।।

कश्चित्तत्र शयान एव सुजनो मृत्युं त्वया प्रापितस्
तिष्ठन्नेव तथापरः स पथिको ग्रस्तः क्षणान्मृत्युना।
अन्यस्त्वामभिपूजयन् स निधनं यातस्तदा भक्तिमान्
हा! केदार! विनाशनं प्रणमतामेतत्त्वया किं कृतम्?

हरणीयमिहान्यदप्यभूत्

समुपेत्य गमिष्यसि द्रुतं
त्वमकृत्वैव मनोरथं मम।
इति नावगतं तदान्यथा
परितापः कथमीदशो भवेत्?

उपपन्नमिदं न कैतवं
मयि ते निष्ठुर! कोऽपि मन्यते।
हृदयं त्वयि सौम्यया मया
निहितं भावनया तदा कया।।

अधरान्तिकमेत्य हन्त! मे
चषकं निर्गलितं कराम्बुजात्
लभतेऽत्र तदेव देहभृद्
विधिना भालतले यदङ्कितम्।।

त्वमवैषि न चित्तमार्दवं
कितवाग्रीय! कदापि योषिताम्।
अत एव सुकोमलं मम
हृदयं कन्दुकवद्धि दीव्यसि।।

हरणीयमिहान्यदप्यभून्
न हृतं किन्त्वपरं त्वया मम।
हरता हृदयं हि केवलं
हृतमेवास्त्यखिलं त्वया मम।।

इन्दिरे! त्वयि त्रिदिवं गतायाम्

एता रुदन्ति हरितः सरितो रुदन्ति
शैला रुदन्ति करुणं तु लता रुदन्ति।
वृक्षा रुदन्ति निखिलाश्च शिला रुदन्ति
हा देवि! हा त्वयि ''तथा'' त्रिदिवं गतायाम्।।1।।

अश्रूणि मुञ्चति नभो दिवसेश्वरश्च
नक्षत्रराशिसहितो रजनीपतिश्च।
सन्ध्ये उभे विरुदतः सकला महीयं
रोदित्यहो! त्वयि ''तथा'' त्रिदिवं गतायाम्।।2।।

आशैलराजशिखरादिह सागरान्ता
दीनेव रोदिति भृशं वसुधा विषण्णा।
सर्वे भृशं भृशतरं करुणं रुदन्ति
शोकाकुला जनपदास्त्वयि स्वर्गतायाम्।।3।।

क्रन्दन्ति सम्प्रति पुराणि च पत्तनानि
शोकाकुलानि नगराणि रुदन्ति गाढम्।
ग्रामा रुदन्त्यतितरं निखिलाश्च घोषाः
क्रन्दन्त्यहो! त्वयि ''तथा'' त्रिदिवं गतायाम्।।4।।

शोकेन रुद्धगतिरेष न वाति वायुर्
नो भासते ज्वलति नापि च सप्तजिह्वः।
कालोऽपि रोदिति विलोक्य जघन्यकृत्यं
हा देवि! हा त्वयि ''तथा'' निधनं गतायाम्।।5।।

प्राणा रुदन्ति निखिला अपि भूतधात्र्या
नो वा श्वसन्ति पुनरत्र न विश्वसन्ति।
तादृग्घतासि वधिकैस्त्रिदिवं गतासि
हा हन्त हन्त करुणं विलपन्ति लोकाः।।6।।

नैषा विभाति रजनी रजनीश्वरो वा
नो वा विभाति दिवसो दिवसेश्वरो वा।
सायं न भाति न विभाति तथा प्रभातं
हा हन्त हन्त सहसा त्वयि निर्गतायाम्।।7।।

कक्षस्थितैर्विषधरैर्ननु बालिकेव
दावानलेन विपिने नवमालिकेव।
व्यापादितासि हरिणीव वने प्रसुप्ता
हा श्वापदैः बत! कथं न रुदन्तु लोकाः?।।8।।

सप्तार्णवाः प्रविरुदन्त्यधुना च सप्त-
द्वीपा वहन्ति कलुषां नयनाम्बुधाराम्।
हा हा जघन्यतममेतदभूतपूर्वं
श्रुत्वा वधं तव, कथं न रुदन्तु लोकाः?।।9।।

भागीरथी भगवती बहुविह्वलेयं
विक्रोशतीयमधुना यमुनातिदीना।
स्तब्धेव हन्त! सहसा तटिनी शतद्रुर्
हा रौति दीनवदना करुणं विपाशा।।10।।

म्लानेव वेत्रतटिनी च सरस्वतीयं
शुष्केव शोककलुषीकृतदीनचित्ता।
गेदावरी नदति नापि च नर्मदेयं
हा देवि! हा त्वयि तथा त्रिदिवं गतायाम्।।11।।

वाष्पावरुद्धहृदयो मलयाचलोऽयं
नीलो गिरिस्तु सहसा तमसावृतोऽयं
विन्ध्योऽतिखिन्नवदनो लुठतीव भूमौ
शोकाकुलस्त्यजति धैर्यमिवाद्रिराजः।।12।।

'दिल्ली' विरूपवदनाऽद्य मरुस्थलीव
रुद्धस्वरेव बत! रोदितुमप्यशक्ता।
शोकाकुला लुठति सम्प्रति लुञ्चितेव
हा देवि! हा त्वयि ''तथा'' निधनं गतायाम्।।13।।

प्रेताटवीव नगरी विकलाद्य 'काशी'
वक्षः प्रताडयति शोक-समुद्रमग्ना।
गङ्गा न याति न च पूजयति त्रिनेत्रं
हा देवि! हा त्वयि ''तथा'' निधनं गतायाम्।।14।।

क्रूरस्य दारुणकरस्य कृतं स्मरन्ती
द्वाराणि सर्वत इयं नितरां पिधाय।
'द्वारावती' स्फुटतरं करुणं विरौति
हा देवि! हा त्वयि ''तथा'' निधनं गतायाम्।।15।।

'धारा' विषीदति भृषं परिहाय धैर्यं
कन्येव रोदितितरां नितरामनाथा।
कालेन निष्ठुरतरेण कृते त्वकृत्ये
हा देवि! हा त्वयि ततस्त्रिदिवं गतायाम्।।16।।

भ्रातेव कालभुजगेन समीपमेत्य
निश्चेतना विलपनेऽप्यसमर्थभावा।
जाता 'पुरी' जलनिधेस्तटमाश्रयन्ती
हा देवि! हा त्वयि ''तथा'' निधनं गतायाम्।।17।।

दुर्वृत्तमेतदधुना सहसा निशम्य
'मायापुरी' विपिनमध्यगता मृगीव।
विद्धा निषादविशिखैर्वसुधातलेऽस्मिन्
निष्प्राणतामिव गता त्वयि स्वर्गतायाम्।।18।।

दग्धेव शोकदहनेन तथा ह्यकस्माद्
आव्याकुलीभवति हन्त! मरालिनीव।
सैषा पुरी 'मधुपुरी' लभते न शर्म
हा देवि! हा त्वयि ''तथा'' त्रिदिवं गतायाम्।।19।।

शोकेन शुष्कवदना मलिनातिदीना
छिन्ना लतेव पतिता भुवि भूतिहीना।
निःसंज्ञतामुपगता सहसैव 'काञ्ची'
हा देवि! हा त्वयि ''तथा'' निधनं गतायाम्।।20।।

कैवर्तके जलनिधौ सहसा विपन्ने
सांयात्रिका इव जना निरुपायभावाः।
पश्यन्ति नाद्य कमपीह विपत्समुद्राद्
यस्तारयिष्यति पुनस्त्वयि निर्गतायाम्।।21।।

जानीमहे नो वयम्

1

लब्धा वीरगतिः स्वजन्मवसुधां संरक्षितुं सङ्गरे

वीरैर्यैः रिपुघातुनैकनिपुणैः सीमासु तासु स्थितैः।
तेषां राष्ट्रमृणं प्रदास्यति कथं शक्रोपमानां भुवि
वीराणां सुधया समं प्रविततं येषां यशो जीवति।।

2

तारुण्यं च वपुश्च कान्तमनघं प्राणप्रिया प्रेयसी
सौम्या दुग्धमुखाः स्वकीयशिशवो गेहादिकञ्चैव यत्।
सर्वं त्यक्तमशेषशत्रुनिबहं निर्घातयद्भिश्च यै-
स्तेषां राष्ट्रमृणं प्रदास्यति कथं वीराग्रणीनां महत्।।

3

दुरे ये परिवारतः स्वजनतः स्थाने वसन्ति क्वचिद्
दुःखं नैव परस्परस्य च सुखं पश्यन्ति न प्रायशः।
वीराः शत्रुविनाशनाय सुतरां दत्तादराः सैनिकास्
तेषां राष्ट्रमृणं कथं च नितरां निस्तारयिष्यत्यहो।।

4

शार्दूला इव मत्तवारणघटां सेनामिमां शात्रवीं
वीरा घ्नन्त्यनपेक्ष्य किञ्चिदपरं सीमासु येऽहर्दिवम्।
तेषां शौर्यपराक्रमैकधनिनां रक्षाव्रतानां भुवः
पादाघातपवित्रधूलिभिरमी पूता भवामो वयम्।।

5

बाह्यान् मातृभुवो रिपूनतिबलानाभ्यन्तराँश्चैव तान्
ये निघ्नन्त्पनपेक्ष्य जीवितमसून् यच्छन्ति चाजौ मुदा।
तेषां विक्रमशालिनां सुकृतिनामेतत्फलं कर्मणां
गेहे वीतभया स्वपन्ति ससुखं शेषा अमी यज्जनाः।।

6

त्यक्त्वा यो गृह एव तां नववधूं सीमां गतो रक्षितुं
शत्रून् दुर्मदशालिनोऽतिबलिनो निर्घातयँस्तत्र तान्।
हत्वा नैकरिपून् स्वयं च सुकृती प्राणैर्वियुक्तोऽभवद
देशो दास्यति तस्य तत् कथमृणं जानीमहे नो वयम्।।

7

वृद्धां यो विधवां स्वमातरममूमेकाकिनीं सैनिक-
''आयास्यामि रिपून् निहत्य निखिलान् मातर्न शोकं कुरु।''
इत्याश्वास्य गतो रणाय रिपुभिर्यो युद्ध्यमानो हतो
देशो दास्यति तस्य तत्कथमृणं जानीमहे नो वयम्।।

8

मुग्धाँस्तान् स्वशिशून् विहाय रुदतः कर्तव्यनिष्ठः स यः
पतुं भारतमातरं द्रुततरं योद्धं गतः शत्रुभिः।
नैके येन हता रणे च रिपवः प्राणाश्च दत्ता स्वयं
देशो दास्यति तस्य तत्कथमृणं जानीमहे नो वयम्।।

9

गत्वा शीघ्रमितः प्रभञ्जननिभः कर्तुं नियोगं स्वकं
हत्वा मातृभुवो रिपूनतिबलान् गेहं समागत्य च।
पाणौ योग्यवरस्य तस्य विधिना दास्यामि पाणिं तव
चिन्तां मा कुरु मामकीं त्वमधुना माश्रूणि मुञ्च स्वसः।।

10

इत्याख्याय गतो गृहात् स तरुणो वीरेषु वीरो महान्
दुर्वृत्तान् रणदुर्मदानगमयद् याम्यीं पुरीमन्ततः।
स्वर्गं यः स्वयमप्यदम्यबलभृद् यातो नागतो
देशो दास्यति तस्य तत्कथमृणं जानीमहे नो वयम्।।

11

पत्नीं रुग्णतयोपचारविषयां संत्यज्य गेहे स यः
कर्तुं मातृभुवं भयेन रहितामातङ्किना कर्मभिः।
निर्यातो गृहतो गृहं न च पुनः प्रत्यागतः सैनिक-
स्तस्य स्यादनृणी कथं पुनरयं देशो न जानीमहे।।

12

सोल्लासं सकला महोत्सवरता आबालवृद्धाजना
यत्रासन् सहसा तदैव स शवो हा हन्त तत्रागतः।
शत्रून् घातयतो भटस्य समरे यस्यातितेजस्विनस्
तस्य स्यादनृणी कथं पुनरयं देशो न जानीमहे।।

13

शीतोष्णं सहते स्थले विषमे रात्रिन्दिवं तिष्ठति।
पातुं मातृभुवं प्रमादरहितो यः सत्यनिष्ठो भटः।
मनं यत्र करोति सैनिकवरे माता तथा मातृभू-
स्तस्य स्यादनृणी कथं पुनरयं देशो न जानीमहे।।

14

यस्मिँश्चित्तसमुन्नतिं त्वनुभवत्येषा मही भारती
वीरो यो ज्वलनोपमो दहति तान्शत्रून् धराकण्टकान्।

यस्यायं महिमोल्लसन्ति यदमी शेषा जना निर्भया-
स्तस्य स्यादनृणी कथं पुनरयं देशो न जानीमहे।।

15

धृत्वा यस्य कराङ्गलिं नयानयोरश्रूणि विभ्रच्छिशुः
प्रत्यायास्यसि तात तेन कियता कालेन भूयो गृहम्।
मह्यं क्रीडनकान्यवश्यमितराण्यानीय किं दास्यसी-
तीत्थं यं पितरं प्रयाणसमये स्नेहादसौ पृष्टवान्।।

16

आयास्याम्यचिरं निहत्य निखिलाँस्ताँस्तान् रिपून् दारुणान्
मा रोदीरिति यः स्वमर्भकममुँ चाश्वास्य गेहाद् गतः।।
हत्वा नैकरिपून् रणे बलवतः स्वर्ग स्वयं चाप्ययात्
तस्य स्यादनृणि कथं पुनरयं देशो न जानीमहे।।

17

माता यस्य दिवङ्गता प्रथमतो गेहेऽसहायः पिता
मर्ग यस्य विलोकयत्यनुदिनं पुत्रो ममायास्यति।
न नायाति परन्तु यस्य सहसा सायाति मृत्योः कथा
त्स्मै दुष्प्रसहाय किं बलवते देशोऽधुना दास्यति।।

18

यस्योद्वाहदिनं प्रसन्नमनसा निर्धार्य भावैः शतैः
प्राप्यादेशमतो गृहं लघुतरं पुत्र! त्वमायास्यसि।
यश्चेत्थं जनकेन भारतचमूवीरस्तदा सूचितो
हन्तासावपि शत्रुभी रणमुखे योयुद्ध्यमानो हतः।।

19

ग्रामे ते निखिला जनाः प्रमुदिता दीपावलीवासरे
यत्रासन् सहसैव तत्र स शवो युद्धस्थलादागतः।
यस्यातिप्रबलस्य भारतचमूवीरस्य शत्रुच्छिद-
स्तस्य स्यादनृणी कथं पुनरयं देशो न जानीमहे।।

20

आयास्यामि हि होलिकोत्सवदिने साकं त्वया खेलितुं
लब्धुवादेशमवश्यमेव सुदति! प्राणप्रिये! वल्लभे!
इत्युक्त्वा समरङ्गतो न च पुनः प्रत्यागतो यो भटस्
तस्य स्यादनृणी कथं रिपुभिदो देशो न जानीमहे।।

21

रक्षार्थं विनियोजिता बहुतरा एतादृशाः सैनिकाः
सोत्साहा रिपुदर्पनाशनपराः कर्तव्यनिष्ठा भटाः।
याता ये त्रिदिवं विहाय सकलानात्मीयबन्धूनिह
तेषां राष्ट्रमृणं प्रदास्यति कथं जानीमहे नो वयम्।।

22

ये क्रीडन्ति सुखं धनं च विपुलं येष्वन्वहं वर्षति
प्रासादेषु च शेरते प्रतिदिनं वातानुकूलेषु ये।
ते किञ्चिन्त्वनुचिन्तयन्तु विषमे स्थाने वसन्तो भटाः
प्राणैर्मातृभुवं प्रमादरहिताः पायुर्न चेत् किं भवेत्।।

23

दृश्यन्ते पत्काशिनो हि बहुधा निर्मान्ति यानानि ये
प्रासादान् रचयन्ति ये च महतस्ते स्थण्डिले शेरते।
अन्नं ये प्रचुरं श्रमेण महता चोत्मादयन्त्यत्र ते
क्षुत्क्षामा व्यथिताः स्वपन्ति कृषका दैवी विचित्रा गतिः।।

24

देशो याति समुन्नतिं स नियतं यस्मिन् महान्तो भटा
देशार्थं स्वधनं च जीवनमपि त्यक्तुं सदा तत्पराः।
वीराणामुचितं नृपेण विहितं मानं लभन्ते यदि
तत्रेदं विपरीतमेव फलति स्युर्मानिताश्चेन्न ते।।

....

कृषकः

अन्नं समुत्पाद्य वसुन्धरायां,
करोति लोकस्य महोपकारम्।
भर्तेत्यसौ विष्णुरिव प्रजानां,
नाभ्यर्चनीयः कृषकोऽस्ति कस्य?

अतन्द्रितोत्साहयुतः कृषाणो,
जायाद्वितीयो वृषभौ निभाल्य।
गात्रं परिस्पृश्य तयोस्ततस्तौ,
घासादिभिः पोषयति प्रभाते।।

विमोच्य बन्धादथ तौ वृषौ स,
स्कन्धे समारोप्य हलं विशालम्

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

नयत्यमू क्षेत्रदिशं स्वतन्त्रो,
वसुन्धराकर्षणकर्मदक्षः।।

युक्त्वा बलीवर्दयुगं हलेन,
दत्तावधानः कृषकः प्रवीणः।
क्षेत्रं तथा कर्षति येन तत्र,
भवेयुरन्नानि यथेप्सितानि।।

क्षेत्रं स वप्तुं च विधाय योग्यं,
वपत्यदुष्टं भुवि तत्र बीजम्।
उप्तं यदा रोहति तच्च सर्वं,
तदातिहर्षो हृदि जायतेऽस्य।।

वृद्धिं प्ररोहेषु गतेषु किञ्चित्,
तत्रान्यजातीय तृणादिकं सः।
निभाल्य यत्नेन निराकरोति,
कृतोस्य यत्नः सुफलो यथा स्यात्।।

क्षेत्रस्थसस्यं परिपालयन् स,
स्वाधीनवृत्तिः कृषको जगत्याम्।
क्दापि न स्वल्पमपि प्रमादं,
करोत्यतस्तस्य जयं वदामः।।

सोऽन्नानि गोधूमयवादिकानि,
नानाप्रकाराणि च तानि तानि।
उत्पाद्य राष्ट्रं भरते समग्रं,
तस्माज्जयं तस्य वयं वदामः।।

....................निशि भानुरेष्यति (समस्यापूर्तिः)

तव कान्तिरनुत्तमा विधो!
यदि नक्षत्रगणेषु दृष्यते।
अभिमानमथापि मा कुरु
विगतायां निशि भानुरेष्यति।।1।।

दिवसेऽपगतेऽब्जसम्पुटे
पिहितश्चेदलिराज! सीदसि।
अपसारय खेदमात्मनो
विगतायां निशि भानुरेष्यति।।2।।

अयि! गच्छ विलम्बसे कुतः
समये पूरय तं मनोरथम्।
इयमस्ति निशा न शाश्वती
विगतायां निशि भानुरेष्यति।।3।।

सखि! याहि तमात्मवल्लभं
परिसेवस्व चिरायसे कथम्।
समयो न सदैव लभ्यते
विगतायां निशि भानुरेष्यति।।4।।

तिमिरे निविडेऽद्य पान्थ! ते
गमनीयं यदि दूरमत्यदः।
ननु धैर्यमथापि मा त्यज
विगतायां निशि भानुरेष्यति।।5।।

भ्रमरो रसलोलुपो यदि
पिहितः पङ्कजसम्पुटेऽधुना।
त्यज दुःखमथाप्यलिप्रिये!
विगतायां निशि भानुरेष्यति।।6।।

इह पर्णकुटीगृहान्तरे
प्रतिपश्य शीतैरनिलैः प्रपीड्यसे।
प्रतिपश्य निशात्ययं पुनर्-
विगतायां निशि भानुरेष्यति।।7।।

यदि चिन्तयसि त्वमेकिका
तिमिरेणावृतमात्मनः पराम्।
न तथापि विमुञ्च धीरतां
विगतायां निशि भानुरेष्यति।।8।।

तिमिरं प्रसमीक्ष्य सर्वतो
यदुलूकाः प्रहसन्ति साम्प्रतम्।
भयमत्र तथापि मा वह
विगतायां निशि भानुरेष्यति।।9।।

त्वमुलूक! विलोक्य साम्प्रतं
गहनं ध्वान्तमिदं समन्ततः
भव नैव विशेषहर्षितो
विगतायां निशि भानुरेष्यति।।10।।

त्वमुलूक! निरागस: खगा-
नधुना चेद् विनिहन्सि निद्रितान्।
स्मर किन्तु तवापि दृष्टिहृद्
विगितायां निशि भानुरेष्यति।।11।।

शिक्षा

कुर्याद् विकासं मनुजस्य सम्यक्
शारीरिकं मानसिकं तथैव।
दद्याद् गुणान् चाऽवगुणांश्च हन्या-
च्छिक्षेति शास्त्रे कथिता बुधै: सा।।1।।

या मानवं मानवतायुतं च
शिष्टं तथा दानवताविहीनम्।
पृथक् पशुभ्योऽपि करोति नूनं
शिक्षेह लोके कथिता बुधै: सा।।2।।

यावन्न शिक्षां लभते मनुष्य:
सर्वत्र तावद् व्यवहारशून्य:।
हास्यास्पदं कर्म करोत्यतोऽसौ
शिक्षाविहीन: पशुभि: समान:।।3।।

रत्नं यथा तत्खनिनिर्गतं चेद्
असंस्कृतं मौलिविभूषणं न।
तथा जनो नूनमशिक्षितोऽसौ
नाप्नोति याथार्थ्ययुतं नरत्वम्।।4।।

पराभवं यान्ति गृहीतविद्या:,
ते ये न हि शिक्षिता बाल्यकालात्।
केनापि साधूक्तमिदं ततो यच्
छास्त्रण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा:।।5।।

शिक्षागृहीतस्य जनस्य नूनं
कार्याणि सर्वाण्यपि शोभनानि।
भवन्ति तस्मान्ननु सेवनीया
शिक्षा समस्तैरपि भूतिकामै:।।6।।

कदा कदा किं करणीयमस्ति
कदेह किं वाऽकरणीयमस्ति।
तथा कदा किं वचनीयमेवं
जानाति सर्वं ननु शिक्षितोऽसौ।।7।।

करोति यद्यत् किल लब्धशिक्ष:
प्रशस्यते तस्य तु तत्तदेवम्।
ददाति मानं च यशोऽथ वित्तं
किं किं न वा यच्छति भूरिशिक्षा।।8।।

आलाप-संलाप-विवाद-वादा:
कासा-निवासा: परिहास-हासा:।
स्थानानि यानान्यपि भोजनानि
श्लाघ्यानि सर्वाण्यपि शिक्षितस्य।।9।।

विद्या मनुष्यं विदधाति विज्ञं
शिक्षा विधिज्ञं प्रकरोति तं च।
अतो विधिं वेत्ति न यो मनुष्य:
गृहीतविद्योऽप्युपहास्यतेऽसौ ।।10।।

यथा नरस्यास्ति हिताय विद्या
तथैव शिक्षा कथिता सुधीभि:।
अतो मनुष्येण यथैव विद्या
तथैव शिक्षाऽपि सुशिक्षणीया।।11।।

पदार्थज्ञानं प्रकरोति विद्या
प्रयोग-युक्तिं विदधाति शिक्षा।
ज्ञानं प्रयोगेण विना न भाति
यथोपभोगेन विनैव वित्तम्।।12।।

विद्या नु शास्त्रेषु गतिं करोति
शिक्षा तु सामाजिक-जीवनेऽपि।
लोकोत्तरं यच्छति पाटवं तद्
वैशिष्ट्यमस्यास्तु ततोऽभिजातम्।।13।।

यद्युत्तमं द्रव्यमिहास्ति विद्या
द्रव्येषु सर्वेषु किलाक्षयत्वात्।
अनुत्तमं तर्हि विदन्तु शिक्षां
प्रकाशकत्वादपि शास्त्रराशे:।।14।।

धनेषु सर्वेषु मनुष्यलोके

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2456-0898

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्।
उक्तं परं नैव विना सुशिक्षां
तच्छोभते किं बहुनाऽत्र पत्रे।।15।।

........................तैः स्वहृदये पूज्यैर्भवेच्चिन्तितम्!

आर्यावर्त इहैष पूत-चरितैर्भूपैरपत्याधिकं
दीर्घैर्वज्रनिभैर्भुजैरतिबलैर्वीरैश्चिरं रक्षितः।
कालेनातिबलीयसा च महता भिन्नेषु तेष्वन्ततो
दुर्दान्तैरिरिभिर्धृतः परवशे कार्पण्यदोषं गतः।।1।।

कालुष्यं व्यपनेतुमस्य प्रथमं तत्पारवश्याभिधं
ज्योतिर्येन मनस्विना नृपतिना प्रज्वालित भारते।
वीराणां धुरि कीर्तनीयचरितो मेवाड़भूकेसरी
स स्वातन्त्र्यपुरोहितः किमधुना राणाप्रतापो वदेत्?।।2।।

संग्रामे निपुणेन कोङ्कणधरालङ्कारभूतेन वा
दुर्दम्यारिसमूहवन्यविटपध्वंसाय दावाग्निना।
येन ज्योतिरदः प्रगृह्य च पुनः स्वातन्त्र्यसिद्धिप्रदं
वीरेणाथ शिवेन रक्षितमहो! किं चिन्तयेदद्य सः।।3।।

यस्येदं चरणारविन्दयुगल-स्पृष्टं रजो भारते
गोविन्दस्य गुरोः पवित्रयति नः सर्वाश्च सम्प्रत्यपि।
वीराणां प्रथमः सतां च प्रवरः पञ्चापपञ्चाननः
स्वातन्त्र्यस्य च कोप्यनन्यशरणः किं चिन्तयेदद्य सः।।4।।

यस्यास्तद्रणकौशलं प्रतिभटैर्वीराङ्गनाया मुहू
रोमाञ्चोभिनवो भवत्यनुदिनं संस्मृत्य सम्प्रत्यपि।
उत्सृष्टा असवो ययारिमदने दास्यं न चाङ्गीकृतं
लक्ष्मीरित्यभिधा च कापि ललना किं चिन्तयेदद्य सा? ।।5।।

स्वातन्त्र्याय तथैव भारतभुवः कष्टानि ये सेहिरे
नेतारश्च महात्मगान्धि-सदृशाः कारासु निष्पीडिताः।
प्राणान् स्वाँश्च जहुः प्रसन्नमनसा ये भक्तसिंहादयस्
तेऽस्मान् भ्रष्टतरान् विलोक्य बहुधा किं चिन्तयेर्युहृदि?।।6।।

दुर्वृत्तं किमदोऽस्ति दारुणतरं यद् वाद्य न श्रूयते।
पीड्यन्ते बलिभिर्न किं प्रतिदिनं दीना जना निर्दयैः।
किं दारिद्र्यमपोहितं किमथवा सर्वे समृद्धिं गताः
स्वातन्त्र्याधिगमेऽपि किं प्रमुदिता जाता मही भारती?।।7।।

आढ्या किं दलयन्ति नाद्य दलितान् प्राप्तावकाशा जना-
स्ते ते किं न पिबन्ति शोणितमथो तेषां च तेषां तथा।
तापस्त्वेकविधोऽपि किं व्यपगतो लोकार्त्तिकृद् देशतः
स्वातन्त्र्याधिगमेऽपि किं वसुमती याता मुदं भारती।।8।।

ऋद्धा ऋद्धतराश्च निर्धनतरा जाता जना निर्धना
वैषम्यं बहुधा जनेषु विपुलां वृद्धिं गतं साम्प्रतम्।
नेतारः स्वयमेव दोषचिकिलेष्वाकण्ठमग्नाः पुनः
स्वातन्त्र्याधिगमेऽपि साऽद्य धरिणी मोदान्विता स्यात्कथम्।।9।।

हन्यन्ते न जना मृगा इव वने नित्यं किमद्यापि ते?
लुट्यन्ते न जना दिवाप्यकरुणैः किं तैरिमे बर्वरैः?
नारी किं ह्रियते न सम्प्रति न किं पापं समुज्जृम्भते?
पापाचार इहास्ति कः श्रुतिपथं नायाति नित्यं स यः।।10।।

स्वातन्त्र्याहवयज्ञवह्निविशदज्वालासु यैरुत्तमै-
र्दत्तं प्राणमयं हविर्नरवरैर्वीरैर्हसद्भिस्तदा।
''भ्रष्टाचारपरायणा अथ जना वंश्या भविष्यन्ति नः''
इत्येवं न कदापि तैः स्वहृदये पूज्यैर्भवेच्चिन्तितम्।।11।।

ततो मन्दाकिनीं वन्दे
वन्दे मानसमर्मज्ञान् उपाध्यायान् मनीषिणः।
रामकिङ्कर इत्याख्यान् रामभक्तिमहार्णवान्।।
ततो मन्दाकिनीं वन्दे विदुषीं धर्मचारिणीम्।
ज्ञानाम्बुवाहिनीं लोके रामभक्तिप्रकाशिकाम्।।

रूपलावण्यसम्पन्नाामपि वैराग्यभूषणाम्।
सर्वसत्त्वगुणोपेतां शुद्धचारित्रलक्षणाम्।।
तपसेव धृताकारां मुनीनां शुद्धचेतसाम्।
विद्याविनयसम्पन्नां सदा सस्मितभाषिणीम्।।

बिभ्रतीं रूपमाधुर्यं क्षीरसागरजामिव।
शारदामिव वैदुष्यं वात्सल्यं पार्वतीमिव।।
देहाकान्तिप्रकाशेन द्योतयन्तीं दिशो दश।
शास्त्रसारात्मकैर्वाक्यैर्हरन्तीं हृद्गतं तमः।।

रामकिङ्करसद्वाक्यामृतपूताशयां भुवि।

सर्वभूतहितार्थाय सत्कर्मनिरतां सदा।।
रामायणाश्रमाध्यक्षामयोध्यातीर्थवासिनीम्।
वन्दे मन्दाकिनीं भक्त्या विनतोऽहं पुनः पुनः।।

वाग्देवता

कर्माण्यत्र विवृण्वती क्रतुभुजामार्षस्वरूपात्मिका
हव्यं देवहितं पुनर्विदधती पूतात्मकं पावनम्।
यागेनैव सुखं यतः परतमं यागस्य सम्पादिका
क्वचिन्मन्त्रमयी तनूर्विजयते वाग्देवतायाः परा।।

वेत्तुं तत्त्वमशेषमस्य जगतः पूर्वोत्तराभ्यां च या
पक्षाभ्यां सदसद्‌विवेचनपरा युक्तिप्रमाणान्विता।
सारासारविशेषबोधनिपुणा ज्ञेयार्थसंदर्शिका
काचिच्छास्त्रमयी तनूर्विजयते वाग्देवतायाः परा।।

आख्याता विबुधैरनादिनिधना ब्राह्मी च शाश्वती
सर्वं यत्र विवर्तते जगदिदं तेनार्थभावेन तत्।
निष्पन्दा प्रणवात्मिकाऽस्य जगतः ख्याता निदानात्मिका
काचिच्छब्दमयी तनूर्विजयते वाग्देवतायाः परा।।

सर्वं स्थावरजङ्गमं जगदिदं यस्यां पुनर्जायते
याऽङ्गैस्तैः परिवर्जिताऽपि नितरां दीप्त्या स्वयालोकिता।
दृश्या योगबलेन केवलमहो धीरैः समाधिस्थितैः
ज्योतीरूपमयी तनूर्विजयते वाग्देवतायाः परा।।

तत्त्वज्ञाः कथयन्ति यां मुनिगणा राशिं त्विषां केवलं
पश्यन्ती त्वथ मध्यमानुक्रमशो या वैखरी जायते।
येयं वाग्व्यवहारहेतुकलिता मिथ्यात्वमापद्यते।
सेयं दीप्तिमयी तनूर्विजयते वाग्देवतायाः परा।।

गायत्र्याद्यखिलानि तानि निगमच्छन्दांसि यस्या वपुः
वृत्तान्यत्र च लौकिकान्यपि बुधा यस्याः शरीरं विदुः।
इष्टार्थप्रतिपत्तयेऽत्र कविभिर्या सेव्यते सर्वदा
छन्दोरूपमयी तनूर्विजयते वाग्देवतायाः परा।।

सङ्गीतस्य बिभर्ति या स्वरचयं ग्रामाँस्तथा मूर्च्छना
यच्छ्रुत्वा स शिशुः पशुश्च फणभृत् सर्वेऽपि मुह्यन्त्यमी।
अन्येषां तु कथैव का तनुभृतां मोदस्य सा तद्विदां
सा सङ्गीतमयी तनूर्विजयते वाग्देवतायाः परा।।

निर्दोषा सुपरिष्कृता गुणयुतालङ्कारशोभान्विता
कल्याणी सरसा च विस्मयवती लोकोत्तराह्लादिका।
सौन्दर्यातिशयेन तत्र विदुषामाकर्षयन्ती मनः
काचित् काव्यमयी तनूर्विजयते वाग्देवतायाः परा।।

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग
आर.सी.यू. गवर्नमेंट पी.जी. कॉलेज
उत्तरकाशी, उत्तराखण्ड-249193